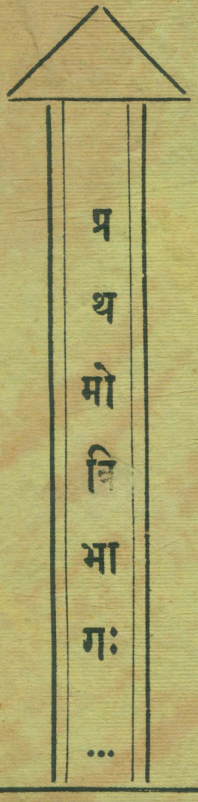
आचार्यवर्य श्री मुनिभद्रसूरिवर-विरचितं

श्री शान्तिनाथमहाकाव्यम्

('प्रबोधिनी' वृत्ति-समन्वितम्) ८७१ - १



श्री नेमि-दर्शन-ज्ञानमाला
पालीताणा (सौराष्ट्र)

ग्रन्थाङ्कः-७.

आचार्यवर्य श्री मुनिभद्रसूरिवर-विरचितं

श्री-शा-न्ति-ना-थ-म-हा-का-व्य-म्

('प्रबोधिनी' वृत्ति-समन्वितम्)

प्रथमो विभागः 卐 चतुस्सर्गात्मकः

— वृत्तिकाराः —

आसनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-जगद्गुरु-कदम्बगिरि-प्रमुखतीर्थोद्धारक-तपागच्छाधिपति-भट्टारकाचार्य-महाराजश्री विजयनेमिसूरीश्वरमहाराज-प्रधानपट्टधर-शास्त्रविशारद-न्यायवाचस्पति-पूज्यपादाचार्यमहाराज-

श्री विजयदर्शनसूरीश्वरमहाराजाः

— प्रकाशिका —

श्री-ने-मि-द-र्श-न-ज्ञा-न-शा-ला,

पालीताणा

(सौराष्ट्र)

वीर निः संवत् २४८७

— मूल्यम् —

रूप्यकाणामष्टकम्

श्री विक्रम संवत् २०१७

— प्रकाशक: —
झवेरी चुनीलाल उकाभाई
श्रीनेमिदर्शनज्ञानशाला
पालीताणा (सौराष्ट्र)



— मुद्रक —
पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ
जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर
(जिला-झांसी) उ० प्र०

प्रकाशकीय निवेदन

सोलमा श्री शान्तिनाथ भगवानना चरित्र ने विषय करीने अनेक चरित्रग्रन्थो अने काव्यग्रन्थो रचायां छे. तेमां आ प्रस्तुत श्रीशान्तिनाथ महाकाव्य पोतानुं अनोखुं स्थान धरावे छे; ए ते विषयना निष्णातोने स्पष्ट समजाय एम छे.

आ महाकाव्यनी रचना करवानुं प्रधान कारण ग्रन्थकारे जाते ज ग्रन्थने अंते जणाव्युं छे.

ग्रन्थकार आचार्य महाराज श्री मुनिभद्रसूरिजी महाराज जैनशासनमां झळहळती परंपरामां थया छे– ए आ काव्यनी प्रशस्ति उपरथी स्पष्ट जणाय छे. ते परंपरा आ प्रमाणे छे.

१. श्री मुनिचन्द्रसूरिजी. २. श्री देवसूरिजी. ३. श्री भद्रेश्वरसूरिजी.
४. ,, इन्दुसूरिजी. ५. ,, मानभद्रसूरिजी. ६. ,, गुणभद्रसूरिजी.
७. ,, मुनिभद्रसूरिजी.

आ आचार्यश्रीने महाराजा श्री पेरोज भूपालनी राजसभामां सारुं सन्मान प्राप्त थतुं हतुं ते तेमना नीचेना कथनथी समजाय छे. "श्रीपेरोजमहीमहेन्द्रसदसि–प्राप्तप्रतिष्ठोदयः" ६२७२ श्लोकप्रमाण आ महाकाव्यनी रचना तेओश्रीए विक्रमसंवत् १४१० नी सालमां करी छे. एटले तेओश्रीनो सत्ताकाल चौदमी शताब्दीनो उत्तरार्ध अने पन्दरमी शताब्दीनो पूर्वार्ध हतो ए निश्चित छे.

आ महाकाव्य सिवाय अन्य कोई ग्रन्थनी रचना तेओश्रीनो उपलब्ध थती नथी, के एवो कोई उल्लेख प्राप्त थतो नथी, एटले ज्यां सुधी ए न मले त्यां सुधी आ एक ज ग्रन्थ तेओश्रीनो विरचित छे एम मानवुं रह्युं.

आ एक ग्रन्थना साङ्गोपाङ्ग अवलोकनथी तेओश्रीना प्रकाण्ड पांडित्यनो परिचय विद्वानोने आनायासे थई जाय एम छे. एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च तारागणोऽपि च' एवी उक्ति आ ग्रन्थ तेओश्रीने अंगे सार्थक करी बतावे छे एम कहेवामां अन्य पण अतिशयोक्ति नथी.

आ महाकाव्यनी मधुरतानो अने विशिष्टतानो आस्वाद सारा व्युत्पन्न होय एज लई शके एवुं छे. अन्य अभ्यासीओ जो आ ग्रन्थनी टीका होय तो सारी रीते उपयोगमां ले, आज सुधी टीका विना अभ्यासमां लई शकाय एवो आ ग्रंथ प्रसार नथी पाम्यो ए हकीकत छे.

आ ग्रन्थ पर टीका रचवानुं कार्य साधारण नथी ए आ ग्रन्थना अवलोकनथी समजी शकाशे. एवुं असाधारण कार्य परमपूज्य आचार्य महाराजश्री विजयदर्शनसूरीश्वरजी महाराजश्रीए अति परिश्रमपूर्वक कर्युं छे.

तेनुं मुद्रण करावीने प्रकाशनमां मुकवामां अमे अमारूं अहोभाग्य समजीए छीए.

पूज्यपाद आचार्य महाराजश्रीनी हयातीमां ज आ ग्रन्थने प्रकट करवानी अमारी अभिलाषा हती पण कालने ए मंजूर न हतुं. ग्रन्थनुं मुद्रण कार्य शरुं थयुं ने तेना दसेक फरमाओ छपाया—त्यां तो अकल कालनी कोई एवी छाया पडी के—पूज्य आचार्य महाराज श्री अचानक एकाएक स्वर्गवास पाम्यां, एमनां विरहना अत्यन्त दुःखमां पण अमने कांइक संतोष एटलोज छे के तेओपूज्यश्री आ ग्रन्थनो प्रारंभनो भाग मुद्रित थतो जोई गया छे.

आ ग्रन्थ अंगे—१ पूज्यपाद आचार्य महाराजश्री विजयोदयसूरीश्वरजी महाराज, २. पूज्यपाद आचार्य महाराजश्री विजयनन्दनसूरीश्वरजी महाराज ३. पूज्यपाद आचार्य महाराजश्री विजयविज्ञानसूरीश्वरजी महाराज. ४. पूज्यपाद आचार्य महाराजश्री विजयपद्म सूरीश्वरजी मराराज ५. पूज्यपाद आचार्य महाराजश्री विजयअमृतसूरीश्वरजी महाराज. ६. पूज्यपाद आचार्य महाराजश्री विजयलावण्यसूरीश्वरजी महाराज ७. पूज्यपाद आचार्य महाराज श्री विजय कस्तूरसूरीश्वरजी महाराज. ८. पूज्यपाद आचाय महाराज श्रीविजयजितेन्द्र सूरिजी महाराज. वगेरे आचार्य महाराजश्री तथा अन्य पदस्थ मुनिराजश्रीनो साक्षात् अने परंपराए अमने जे लाभ मलयो छे तेओ सर्वपूज्योना अमे उपकृत छीए.

विशेषे करीने आ ग्रन्थना (टीकाना) लेखनादि कार्यमां पूज्यपाद आचार्य महाराज श्रीना मुख्य शिष्य पूज्य पन्नयास प्रवर श्री जयानन्द विजयजी गणिवर्य महाराजे सारो सहकार आप्यो छे—ते अंगे अमे तेओश्रीना समुपकृत छीए. आ ग्रन्थमां स्वर्गस्थ आचार्य महाराजश्रीनुं विस्तृत जीवन चरित्र आपवानी अमारी इच्छा हती पण ए कार्य विलंबसाध्य होवाथी अने ग्रन्थ मुद्रित थईने तैयार थई गयो होवाथी—आ ग्रन्थना द्वितीय—भागमां आपवुं

एम विचार्युं छे. अहिं—पूज्यपाद आचार्य महाराजश्रीए खूबज जहेमत ऊठावीने रचेल अने प्रकाशित थएल' श्री तत्त्वार्थविवरणगूढार्थदीपिका' ग्रन्थनो प्रस्तावनामां पू० पं० म० श्री—जयानन्दविजयजी गणिवर्ये २०११ मां लखेल टूंक वृत्तान्त अक्षरशः उधृदूत करीए छीए.

"तत्त्वार्थ विवरण ग्रन्थनी साक्षी अन्य ग्रन्थोमां न जणायाथी पू. श्री उपाध्यायजीए तत्त्वार्थसूत्र उपर टीका रची नहिं होय एम मानवामां आवतुं हतुं; परंतु राजनगर डेलाना उपाश्रयमांना ज्ञानभंडारना पुस्तकोनुं पत्रक बनावतां तत्त्वार्थसूत्रना प्रथम अध्यायनी" तत्त्वार्थविवरण" नाम नी टीका प्राप्त थई. ते टीका शासनसम्राट् शासनप्रभावक पृथ्वीमंडलमुकुटायमान पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्रीमद् गुरुभगवंतना उपदेशथी शुद्ध करीने मुद्रित करावामां आवी. एनो अभ्यास खूब खंत पूर्वक पू. गुरुदेवे कर्यो. अने एमने लाग्युं के ए ग्रन्थमां पीरसेली अनेरी वानगी सरल भाषामां विस्तारीने सौ विद्यापिपासुओने पीरसवामां आवे ए अत्यन्त इच्छनीय छे. ए कार्य हाथपर लेवानी तेओश्रीने लगनी जागी. तेमनी लगनीने शासनसम्राट् पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजश्रीजीना आशीर्वाद सांपड्या. दश दश वर्षना लांबा गाला सुधी सतत परिश्रम लईने पू. गुरुदेवे १६००० श्लोक प्रमाण 'तत्त्वार्थविवरण गूढार्थदीपिका' नी रचना करी. संवत् २००१ मां मृगशिर शुद एकादशीना सर्वोत्कृष्ट कल्याणक दिवसे ए ग्रन्थ पूर्ण थयो. तेओश्री कृतकृत्य बन्या. अंधारामां रहेल ग्रन्थोने प्रकाशमां आणवानुं काम तो घणाए संशोधकोना हाथे थतुं हशे, परंतु महापुरुषे रचेलां ग्रन्थ उपर सतत चिंतन अने परिशीलन करीने तेनी विद्वत्ताभरी विस्तृत टीका रचवानुं कार्य तो पूज्य गुरुदेव जेवा कोईक विरल मानवना हाथे ज बने. पूज्य गुरुदेवनो बहुश्रुतता गुढार्थदीपिकामां खूब झलके छे. तत्त्वार्थविवरणमां भरेलो भाव पूज्य गुरुदेवे अत्यन्त प्रस्फुट करी बताव्यो छे. एमांनी प्रत्येक बाबतो उपर तेओश्रीए गूढार्थदीपिकामां खूब प्रकाश पाथर्यो छे. सुंदर अने सरल संस्कृत भाषामां गहन तत्त्वोनी सरस छणावट करी छे. न्यायशास्त्रमां अति विद्वान् पंडितोने पण जणाती तत्त्वार्थ विवरणनो कठिनता दूर करीने तेमांनां गूढ तत्त्वोने पूज्य गुरुदेवे सरल रीते अने रोचक भाषामां विस्तारथी समजाव्या छे. मूल ग्रन्थनो यथार्थ भाव गूढार्थदीपिकामां प्रगट थयो छे अने तत्त्वज्ञाननी अनेक बाबतोनुं विवरण रसमय बन्युं छे. न्यायशास्त्र विषयक निरंतर सुंदर अभ्यास, विशाल वांचन अने सतत तत्त्वविचारणाने परिणामे एक कठिण कार्य तेओश्री पूज्यपाद श्री गुरुभगवंतनी असीम कृपादृष्टिथी सुशक्य बनावी शक्या छे

'गूढार्थदीपिका' रचाती हती ते समय दरम्यान बीजा पण बे ग्रंथो पू. गुरुमहाराजश्रीए रच्या छे. 'पर्युषणापर्वकल्पप्रभा' अने 'पर्युषणापर्वकल्पलता' नामनां आ बे ग्रंथोथी जनता अज्ञात नथी, पू. गुरुमहाराजश्रीए सर्वप्रथम 'स्याद्वादबिंदु' नामनो ३००० श्लोक प्रमाण ग्रंथ रच्यो छे. त्यार बाद परमपूज्य न्यायाचार्य न्यायविशारद उपाध्यायजी यशोविजयजी महाराजश्रीजी कृत "न्यायखंडनखाद्य" अपरनाम 'महावीरस्तव' ग्रंथनी 'महावीरस्तवकल्पलतिका' नामनी २५००० पचीस हजार श्लोक प्रमाण एक सुंदर टीका रची छे. तदुपरांत तेओश्रीए पूज्यपादश्री सिद्धसेन दिवाकर रचित 'सम्मति तर्क' नामना द्रव्यानुयोगमय अतिप्राचीन-अतिविषम जैन न्याय ग्रंथ उपर 'सम्मतितर्कमहार्णवावतारिका' नामनी अनुपम लघु टीका १६००० श्लोकप्रमाण रची छे.

'सम्मतितर्क' नामना प्राचीन ग्रंथमां अल्प शब्दोमां समायेला अतिगूढ भावो तेओश्रीए टीकामां सरलताथी स्फुट करी बताव्या छे. सम्मतितर्कनी प्राचीन भाषाशैली अभ्यासीने कठिन पडे तेम होवाथी वर्तमान न्यायशैलीमां पूज्य गुरुमहाराजश्रीए ते ग्रंथ पर सुंदर तेमज सर्वमूल श्लोकगत दरेक पदोना रहस्यभूत अर्थने प्रदर्शन करनारी विस्तृत टीका रची विद्यापिपासुओने सरलता करी आपी छे. आवी रीते सुंदर साहित्य जैनसमाजने चरणे धरीने पूज्य गुरुभगवंते जैनसाहित्य तेमज जैन समाजनी अपूर्व सेवा बजावी छे. एटलुं ज नहीं पण अनेक पाठशालाओ, उपाश्रयो. भव्य जिनमंदिरो, जीर्णोद्धार विगेरे अनेक स्थलोए अनेक शुभ कार्यो तेओश्रीए सदुपदेश द्वारा कराव्या छे. श्री सिद्धगिरिजी आदि अनेक तीर्थसंघ कढावी भाग्यवंत श्रावकोने संघपति बिरुदवडे अलंकृत कर्या छे. सौराष्ट्रथी मांडीने मारवाड़, मेवाड, मालवा सुधी विहार करीने 'जिनवाणी' नो सुंदर प्रचार करीने तेओश्रीए शासननी अनुपम सेवा बजावी छे.

पवित्र तालध्वज तीर्थमां बब्बे वार तेओश्रीना वरद हस्ते दीर्घकाल स्मरणीय भव्य प्रतिष्ठा थई छे. वि०सं० १९८० मां थयेल अति मनोहर अभूतपूर्व प्रथम प्रतिष्ठा महोत्सवने ३० वर्ष वीती गया पछी ताजेतरमां वि० सं० २०१० मां वैशाख शुदि पंचमीना शुभदिवसे बीजी प्रतिष्ठा थई. स्मृतिपट उपर सदाने माटे याद रहे तेवो भव्य प्रतिष्ठामहोत्सव याद करतां आजे पण जैन समाजनां हैयां पुलकित बने छे.

वि० सं० १९७८ जेठ वद ५ जेसर गाममां वर्तमान शासननायक श्री महावीर प्रभुनो प्रतिष्ठा महोत्सव तथा मारवाडना सुप्रसिद्ध शहेर 'शिरोही' ना भव्य-महा-विशाल-प्राचीन चौद जिनमंदिरोनो वि० सं० १९८५ मां अढार अभिषेकादि अष्टाह्निका महामहोत्सव तेमज गोधा गाममां वि० सं० १९८७ मां दंडप्रतिष्ठा महोत्सव, जसपरा गाममां वि० सं० १९९५ मां अति मनोहर प्रतिष्ठा-महोत्सव तेमज कपडवणज गामे सं० २००६ मां अतिसुंदर प्रभु प्रतिष्ठा-महोत्सव तथा वि० सं० २०११ जेठ शुदि ५ तणसा गाममां प्रभुमंदिर दंडध्वज प्रतिष्ठा-महोत्सव इत्यादि अनेक गाममां प्रतिष्ठा महोत्सवो पूज्यपाद श्री गुरुभगवंतना वरदहस्ते थया. अंजनशलाका आदि शुभ कार्यो पण महुवा तथा सुरेन्द्र नगरमां तेओश्रीनी निश्रामां थया हता. प. पू. श्री गुरुदेवना वरद हस्ते अनेक स्थलोए शांतिस्नात्र अर्हत्पूजन-उपधान-उजमणा विगेरे शासनप्रभावनाकारक अनेक शुभकार्यो थयेल छे.

विद्वत्ता पूज्य गुरुदेवने वरी होवा छतां तेनुं तेओश्रीने लेशमात्र अभिमान नथी. एमनी सरलता अने कोमलता सौ कोईने आकर्षी ले छे. भवभीरुता तेओश्रीना स्वभावमां ज रहेली छे. निरभिमानता अने निराडंबरिता तेओश्रीना सद्गुणो तथा अपूर्व विद्वत्ताथी आकर्षाईने पूज्य गुरुदेव शासनसम्राट् शासनप्रभावक पृथ्वीमंडलमुकुटायमान पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय बालब्रह्मचारी आचार्यमहाराजाधिराज श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजश्रीए तेओश्रीने अनेक पदवीओथी अलंकृत कर्या. वि० सं० १९६९ ना अशाड शुदि पंचमीना रोज 'कपडवंज' मां विधिविधानपूर्वक 'गणिपदवी' अने ते ज वर्षमां अशाड शुद नवमीना दिवसे सविधि पन्नयास पदवी समर्पण करी, वि० सं० १९७२ ना मागशर वद ३ ना दिवसे मारवाडना 'सादडी' शहेरमां विधिपूर्वक 'उपाध्याय' पदवी अर्पण करी. तदुपरांत जिनागमो, दर्शन शास्त्रो, अने न्याय शास्त्रोना अति-गहन परम रहस्यभूत तत्त्वना सुंदरतम अपूर्व बोधथी आकर्षाईने "न्यायवाचस्पति शास्त्रविशारद" नुं मानवंतुं बिरुद-अनेक गामना संघ समक्ष शासनसम्राट् सकलतारक-साधु-

मंडल नायक-शासनप्रभावक पू० पा० विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजाए तेओश्रीने विक्रम संवत् १९७२ मां उपाध्याय पद प्रदाननी साथोसाथ अर्पण कर्युं. तथा वि० सं० १९७९ ना वैशाख वद २ बीजना शुभ दिवसे 'खंभात' शहेरमां विद्यापीठादि पंचप्रस्थानमय सूरिमंत्रनी अपूर्व आराधनापूर्वक विधि सहित सूरि-मंत्रयुक्त 'आचार्यपदवी' तेओश्रीने अर्पण करी, अने तेओश्रीना पट्टधर तरीके पू. गुरुदेवनी स्थापना करी अने पूज्य गुरुदेव पण ते पदने आज पर्यंत शास्त्रोक्त मर्यादापूर्वक शोभावी रह्या छे.

पूज्यपाद गुरुदेवनो जन्म वि. सं० १९४३ ना पोष शुद पुनमना रोज थयो हतो. बाल्यअव-स्थाथी ज तेओश्रीनुं अंतःकरण धर्मभावनाथी वासित हतुं. पूज्य मातापिताश्रीए तेओश्रीमां सुंदर संस्कारो रेड्या हता. मुनिसत्तम महनीय मान्य पूज्य श्रीखान्तिविजयजी दादा नी छट्ठने पारणे छट्ठ आदि उग्र तपश्चर्या तथा तेमना तीव्र वैराग्य अने उत्तम चारित्र नी तेओश्रीना जीवन पर सुंदर छाप पडेली. तमेज तेवा वचनसिद्ध महापुरुषना उपदेशथी अपरिणीत अवस्थामां पूज्य गुरुदेवने भव-निर्वेद प्रगट्यो, अने ते भव-निर्वेद-वैराग्य भावनाने शासनसम्राट् तीर्थोद्धारक परमोपकारक पूज्यपाद प्रातस्मरणीय आचार्य-महाराज श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजश्रीए सचोट उपदेश आपी विकसावी अने विक्रम संवत् १९५९ ना अशाड शुद १० ना रोज भावनगरमां भागवती दीक्षा आपीने पूर्ण करी. मात्र सोल वर्षनी वये परम पवित्र भागवती दीक्षा अंगीकार करीने तेओश्रीए वीशा श्रीमालिवंशदीपिका अर्हद्धर्मउपासिका पूज्य माता धनीबाई तेमज वीशाश्रीमालिवंशशिरोमणि श्राद्धवर्य पूज्य पिताश्री कमलशीभाईनुं कुल अज-वाल्युं, अने शासनप्रभावक नररत्नोथी विभूषित 'मधुमति' (महुवा) नगरीने भाग्यशाली बनावी. संसारी अवस्थाना श्रीसुंदरजीभाई मटीने पू० महाराजश्री दर्शनविजयजी बन्या. आ शुभ प्रसंगथी पूज्यश्री धनी-माता तथा कसलचंद, हेमचंद तथा जीवराज त्रणे वडील भाईओना हृदयमां आनंदोर्मि उछली. दीक्षानी अनुमोदनाथी तेओ अपूर्व पुण्यभागी बन्या. आ शुभ अवसरे कमनसीबे पूज्य पिताश्री कमलशीभाई आ सुंदर प्रसंग निहालवा माटे हैयात न हता.

दीक्षित अवस्थामां प्रतिदिन सतत वांचन, मनन अने निदिध्यासन द्वारा तेओश्रीए थोड़ा वर्षोमां सारी प्रगति साधी अने दरेक आगमशास्त्रोनुं तेमज जैन अने जैनेतर न्यायशास्त्रोनुं सारी रीते परिशीलन तेमज अवगाहन कर्युं अने तेना परिणामे तेओश्रीए विद्वद्भोग्य अने उच्च कोटीना न्याय आदिना उत्तम ग्रंथो रच्या छे. तेओश्रीनी विहारभूमि अतिविशाल छे. सौराष्ट्र, गुजरात, मारवाड अने मेवाड उपरांत विविध स्थलोए तेओश्री विचर्या छे.

प्रत्येक स्थलोए तेओश्रीए सरल अने आकर्षक भाषामां जिनवाणीनो प्रचार कर्यो छे. तेओश्रीना विद्वत्ताभर्या अने सरल प्रवचनोए अनेक भव्य आत्माओने मुग्ध कर्या छे. केई भावुक हैयाओए भागवती दीक्षा अंगीकार करीने तेओश्रीना चरणकमलोमां जीवन समर्पित कर्युं छे. जे पैकी अमुक शिष्यो तो बालब्रह्मचारी प्रातःस्मर्णीय न्यायवाचस्पति शास्त्रविशारद-पूज्यपादश्री गुरुमहाराजश्रीनी निश्रामां स्वपरदर्शनमां विद्वत्ता प्राप्त करी शासननी सुंदर सेवा करी रहया छे. तेओश्रीना शिष्यो सरल अने शांत स्वभावी तपस्वी मुनि श्रीकुसुमविजयजी तथा 'स्तोत्रमाला' अने 'हैमधातुमाला' ना रचयिता न्यायव्याकरण विद्वद्वर्य बाल अवस्थामां दीक्षित-मुनि श्रीगुणविजयजी, तथा तपस्वी मुनिश्री महोदयविजयजी तथा मुनिश्री कल्याण विजयजी, अनुपम संयमनी आराधना करीने स्वर्गे संचर्या छे. तेओश्रीना प्रशिष्य तपस्वी मुनिश्री तिलक-

विजयजी (मुनिश्री गुणविजयजीना शिष्य) पण समाधिपूर्वक कालधर्म पाम्या, उपरोक्त सद्गत सर्व मुनिओनी संयमनी आराधना हजी स्मृतिपट उपर अंकित छे.

तेओश्रीना शिष्यरत्न पन्नयासप्रवर श्रीप्रियंकरविजयजी गणी संयमनी सुंदर आराधना करवा पूर्वक भव्यात्महृदयआकर्षक जिनागम उपदेश द्वारा शासननी शोभा वधारी रह्या छे.

तेओश्रीना प्रशिष्यो (मारा शिष्यो) तपस्वी मुनिश्री शान्तिप्रभविजयजी, रत्नाकर-विजयजी, बालमुनि श्रीहरिभद्रविजयजी तथा सुबोधविजयजी उपर तेओश्रीनो कदि न भूली शकाय तेवो उपकार छे. बाल्य-वयथी ज मने धर्मप्रेरणा करीने श्रीगुरुदेवे मारुं जीवन सार्थक कर्युं. पगले पगले पथदर्शक बनता मारा श्रीगुरुदेवनो उपकार व्यक्त करवा मारी पासे तेवा शब्दो नथी कठिण षड्दर्शनशास्त्रनो तलस्पर्शी अभ्यास करीने अल्पसमयमां ज तेओश्रीए परमोपकारी पू. पाद श्रीगुरुभगवंत नी कृपादृष्टिथी स्वपर-सिद्धांतनी अपूर्व विद्वत्ता प्राप्त करी, तेना परिणामस्वरूप अतिउत्तम कोटीनी आ कृति जोईने हुं अत्यंत हर्ष अनुभवुं छुं. पू. गुरुमहाराजश्रीनी मारा पर खूबज कृपा छे. ए माटे हुं तेओश्रीनो अति ऋणी छुं तेओश्रीनो मारा परत्वे हरहंमेश कृपाप्रसाद वरसतो रहे, ए शुभ-अभिलाषा पर्वक विरमुं छुं."

आ ग्रन्थना मुद्रणादि सकलकार्यमां पूज्य पन्यासजीमहाराज श्रीधुरन्धरविजयजी गणि महाराजनो पूर्ण सहयोग अमने अतिशय साधक थयो छे.

आ ग्रन्थ मूलमात्र श्रीयशोविजय-जैन ग्रन्थमाला ना २० मा ग्रन्थांक रूपे वीरसंवत् २४३७ मां अर्थात् आजथी ४० वर्ष पूर्वे वाराणसीथी हर्षचन्द्र भूराभाई श्रेष्ठिए प्रकाशित कर्यो हतो.

आ ग्रन्थना १९ सर्ग छे तेमांथी चार सर्ग सुधी आ विभागमां टीका साथे मुद्रित थएलछे. क्राउन आठ पेजी जेवा मोटा कदमां ३०० पृष्ठनो दलदार आ ग्रन्थ थयो छे, हवे पछीना १५ सर्गो शक्य थशे तो बीजा भागमां एकसाथे मुद्रित करावववानी अमारी पूर्ण इच्छा छे.

आ ग्रन्थनुं अध्ययन अध्यापन वधे अने ते द्वारा व्युत्पत्ति साथे सम्यग्ज्ञाननी अभिवृद्धि थाय एवी इच्छा साथे श्रीसंघना आशीर्वादनी मांगणी करवा पूर्वक आवा विशिष्ट ग्रन्थने प्रसिद्ध करवानुं सौभाग्य अमने प्राप्त थयुं ए अंगे अमे अमारुं अहोभाग्य मानीए छीए.

पालीताणा
ता० ९-५-१९६१

लि.
श्री श्रमणसंघसेवक
चुनीलाल उकाभाई झवेरी

* ओँ अर्हं नमः *

अमन्दानन्दसन्दोहप्रदा-ऽनन्तलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ।

न्यायव्याकरणसिद्धान्तादिपारावारनिमज्जनसमवाप्तानल्पतत्त्वरत्नप्रणीतानेकग्रन्थरत्नेभ्यः शासनसम्राट्-सूरिमण्डलमुकुटायमान—श्रीविजयनेमिसूरीश्वर-सद्गुरुभ्यो नमः ।

तत्पट्टपूर्वाचलविभाकर – न्यायवाचस्पति – शास्त्रविशारद – बिरुदविभूषित-तपागच्छाचार्य-श्रीविजयदर्शनसूरि-संदब्ध "प्रबोधिनी" इत्याख्यटीकासमलंकृतं महासाहित्यवादिशिरोमणि-श्रीपेरोजमहीमहेन्द्रसदसि प्राप्तप्रतिष्ठोदय-श्रीमुनिभद्रसूरिविरचितं—

श्री शान्तिनाथमहाकाव्यम्

टीकाकृत्कृतं मङ्गलाचरणम्—

जिताशेषाऽपाया विदितसकलार्था नृविबुधै—
र्नता नित्यं भक्त्याऽखिलभविकजीवान् शिवपथे ।
नियन्तारश्शीघ्रं विमलतमबोधाऽमृतगिरा,
ह्यमन्दानन्दालिं ददतु निखिलाश्श्रीजिनवराः ॥१॥
त्यक्त्वा राज्यरमां विशुद्धविरतिं चादाय यस्तत्त्ववित्,
कम्रां केवलचिद्घनान्तरधनां श्रीतीर्थकृन्मामगात् ।
सोऽयं चक्रिषु पञ्चमो जिनपतिः शान्तिप्रभुः षोडशो,
भव्यानां विदधातु शाश्वतरमां युक्तामनन्तैर्गुणैः ॥२॥

काव्यानि पञ्च पठनीयतया श्रुतानि,
यानि स्वदर्शनबहिस्स्थितिमार्ञ्जि तानि ।
तस्मादिहात्महितकृत् कविवर्त्मबोधं,
जागर्ति शान्तिचरितं मुनिभद्रदब्धम् ॥३॥

१—माम्-श्रीम् ।

काव्याम्बरे निबिडदोषतमो हरन्तो,
यज्ज्ञानभानुकिरणाः परितो लसन्ति ।
भद्रं तनोतु शुचिकाव्यकलाविलासे,
सोऽयं सदैव सदयो मुनिभद्रसूरिः ॥४॥

मया तत्काव्येऽस्मिन् वरविषणभाव्ये विवरणं,
चिकीर्षाया नीतं विषयमविसंवादिमनसा ।
तथाप्येतत् कृत्यं कठिनतरमाभाति नहि मे,
यतश्चित्ते चिन्तामणिसमधिकाः सन्ति गुरवः ॥५॥

भवाब्धौ नीतोऽहं वरचरणनावं सपदि यैः,
कृतोऽत्यङ्गश्शास्त्रोदधितरणनैपुण्यलसितः ।
प्रतिष्ठां सन्निष्ठां क्रमश इह यैरेव गमितः,
क्षितौ ते भ्राजन्ते स्म मम गुरवो नेमिकृतिनः ॥६॥

तत्कृपालेशमासाद्य, श्रीमद्दर्शनसूरिणा ।
शान्तिनाथमहाकाव्ये, तन्यतेऽसौ प्रबोधिनी ॥७॥
इमामधीत्य विद्वांस-स्तुष्यन्ति सारदर्शनात् ।
अविद्वांसोऽपि तुष्यन्ति, स्पष्टार्थबोधबोधनात् ॥८॥

卐

श्री शान्तिनाथमहाकाव्यकृत्कृतं मङ्गलाचरणम्

प्रभाकरो यः परमः कलानिधि-र्य एव यस्मादपरो न पावकः ।
विभाति यद्भाभिरिदं चराचरं, जिनाय तस्मै परमात्मने नमः ॥१॥

अन्वयः—यः परमः प्रभाकरः, य एव (परमः) कलानिधिः, यस्मादपरः पावकः न, यद्भाभिः इदं चराचरं विभाति, तस्मै परमात्मने जिनाय नमः ।

व्याख्या—"सर्गबन्धो महाकाव्य"-मिति लक्षणलक्षितदिशा महाकाव्यं चिकीर्षन् कविः "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इति लोकोक्तेर्विघ्नैर्बाधा मा भूदिति विघ्नव्यूहविध्वंसपूर्वकसमाप्तिकामनया शिष्टाचारानुमितावश्यकर्त्तव्यताकम्, "आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽथ मङ्गल" मिति त्रिविधमङ्गलमध्ये स्वेष्टदेवता-

नमस्कारात्मकमेव मङ्गलमास्तिकानामुचितमिति विभाव्य तत्कुर्वन् शिष्यशिक्षायै व्याख्यातॄश्रोतॄणामपि विनाऽऽयासम्मङ्गलाय चादौ तन्निबध्नाति-**प्रभाकरो य** इति । **यः**—जिनः, तस्मै इत्यनेन जिनस्य परामर्शात्, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धादिति भावः । **परमः**—लोके प्रभाकरत्वेन प्रसिद्धादुत्कृष्टतमः, प्रभां करोतीति **प्रभाकरः**—सूर्यः । "भास्कराऽहस्करब्रध्नप्रभाकरविभाकराः" इत्यमरः । अथ च प्रकाशकारकः, सर्वविषयक-ज्ञानप्रकाशशालित्वेन तत्कारकः, सर्वज्ञ इति यावत् । प्रभाया आकर इति व्युत्पत्त्या सहस्रकलायाः, पक्षान्तरेऽनन्तज्ञानप्रभाया आधारश्च, । **य एव**—परम उत्कृष्टतमः, कलानां निधिः **कलानिधिश्चन्द्रः** । 'षोडशोंऽशः कला" इति हैमः । "मृगाङ्कः कलानिधिः" इत्यमरः । अथ च बाह्याभ्यन्तरसर्वकलाकुशलः, सर्वज्ञ इति यावत् । **यस्मादपरो**-ऽन्यः, पुनातीति **पावको**ऽग्निः, अथ च पवित्रयिता **न** । "अपावनानि सर्वाणि, वह्निसंसर्गतः क्वचित् । पावनानि भवन्त्येव तस्मात् स पावकः स्मृतः ॥१॥" इत्युक्तेः शान्तिजिन एव परमार्थवृत्त्याऽग्निः । यतस्तत्संसर्गत एव सर्वे भव्यजीवाः पवित्रीभवन्तीति भावः । **यद्भाभिः**—यस्य भाः यद्भास्ताभिर्यदीयप्रभाभिः । "स्युः प्रभारुचिस्त्विड्भा भाश्छविद्युतिदीप्तयः" इत्यमरः । **इदं**—चरञ्चाचरञ्च चराचरे, अनयोः समाहारे **चराचरं**—स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् । **विभाति**—प्रकाशते । **तस्मै**—पूर्वोक्तसकलगुणगणमहिताय, **परमात्मने**-सर्वोत्कृष्टात्मतत्त्वशालिने । **जिनाय**—जयति रागादीनिति जिनो वीतरागस्तस्मै, केवलिजिनाय । **नमः**—तम्प्रति प्रणतोऽस्मीति ।

अयं भावः—जगति त्रीणि तेजांसि प्रकाशकत्वेन प्रसिद्धानि, रविश्चन्द्रो वह्निश्च । तत्र रविस्तावद्दिवैव बाह्यमेव तमो नाशयति; जिनस्तु रात्रिन्दिवं बाह्यमभ्यन्तरञ्च भव्याङ्गिनामज्ञानतमो नाशयतीति स एव परमः प्रभाकरः । एवञ्च तस्योपमानत्वेन प्रसिद्धाद्रवेरप्युत्कृष्टत्वं सूचितम् । चन्द्रश्च षोड़श-कलानामेव निधिः, जिनस्तु बाह्याभ्यन्तरसकलकलानाम् । किञ्च चन्द्रीयाः कलाः शुक्लपक्षकृष्णपक्षयोर्वृद्धिक्षयशालिन्यः, एतदीयास्तु सर्वदैव सम्पूर्णा इत्येष एव परमः कलानिधिः । एवञ्च कलानिधित्वेन प्रसिद्धादुपमानभूताच्चन्द्रादप्यस्याधिक्यम् । एवं पावकः स्वल्पदेशप्रकाशको दार्वादिदाहक एव, मलदूरीकरणेन सुवर्णादेश्च पावकः; अयन्तु सर्वजगत्प्रकाशको भव्याङ्गिनिखिलकर्मेन्धनदाहकः, अतिमलीमसभव्यात्मचित्त-पवित्रीकारकश्चेत्येवमनन्यसाधारणधर्मेति पावको वस्तुतोऽयमेवेति प्रसिद्धात् पावकादुपमानादाऽऽधिक्यमस्य । किञ्चास्यैव प्रभाभिः सकलचराचरं विभातीति सर्वतेजसामादिभूतोऽयमेवेति युक्तमेवास्य परमत्वम् । तथा चात्रोपमानभूताद्रविचन्द्रपावकप्रभृतेराधिक्यस्य वर्णनात्, तत्र च चराचरप्रकाशकत्वरूपस्य वाक्यार्थस्य हेतुत्वावगमात् काव्यलिङ्गानुप्राणितो व्यतिरेकालङ्कारः स्पष्टः । तत्र प्रभाकरत्वांशे कलानिधित्वांशे चाभि-व्यज्यमानः, पावकत्वांशे तु वाच्यो व्यतिरेकः । तयोर्लक्षणन्तु—"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा व्यतिरेक इति । हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे, काव्यलिङ्गं निगद्यते" इति च साहित्यदर्पणे । सर्वजगत्प्रकाशकत्वेन रविचन्द्रवह्निभ्योऽप्युत्कृष्टतमाय जिनाय नमः इति निर्गलितोऽर्थः । एतेन सर्वतेजोभिरुत्कृष्टवर्णनेन स एव समाश्रयणीयत्वेन सर्वकार्यादौ नमस्करणीय इति कविना तन्नमस्कारो ग्रन्थसमाप्तिसाधनतया विज्ञायाचरित इति सूचितम् । अत्र च सर्गे वंशस्थवृत्तम्, तल्लक्षणञ्च "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति ॥१॥

जिनं स्तुत्वा नमस्कृत्य चादिनाथं स्मरन् व्याख्यातृश्रोतृणां शुभमाशंसते-**गणान्वित** इति—

गणान्वितन्द्रश्चकलां बिभर्ति यः, समाश्रितश्चक्रिवरेण भोगिना ।
शिवाश्रयो भूरिविभूतिरेष वः, श्रियं स पुष्याद् वृषभध्वजप्रभुः ॥२॥

अन्वयः—गणान्वितः, भोगिना, चक्रिवरेण, समाश्रितः, शिवाश्रयः, भूरिविभूतिः, यः, चन्द्रकलाम्, बिभर्ति, एषः, सः, वृषभध्वजप्रभुः, वः, श्रियं, पुष्यात् ।

व्याख्या—गणान्वितः—गणैः साधुगणैः नामैकदेशग्रहणे नामग्रहणमिति न्यायात् गणधरैश्च, पक्षान्तरे गणैः प्रमथैः अन्वितो युक्तः "प्रमथाः पार्षदा गणाः" इति हैमः । **भोगिना**—सुखादिभोगवता; शिवपक्षे फणिना च, "भोगी भुजङ्गभुजगावुरगो" इत्यादिहैमः । **चक्रिवरेण**—चक्रं चक्ररत्नमस्ति येषां ते चक्रिणः, तेषु वरेण चक्रवर्त्तिष्वाद्यत्वाच्छ्रेष्ठेन भरतेन; शिवपक्षे चक्रं कुलालोपकरणं कुण्डलं च तद्वत्तदाकारविशेषोऽपि लक्षणया चक्रं, तदस्ति येषां ते चक्रिणः तेषु वरेणेत्येवं विग्रहेण सर्पराजेन च, यद्वा 'चक्री व्यालः सरीसृपः' इत्यमरोक्तेश्चक्रिणस्सर्पाः तेषु वरेण सर्पराजेन, **समाश्रितः**— संसेवितः । **शिवाश्रयः**— शिवस्य मोक्षस्य कल्याणस्य वा आश्रयः, शिवं निःश्रेयसमाश्रीयते यस्माद् वा सः शिवाश्रयः, मुक्तो मोक्षदाता सकल-कल्याणालंकृतो वा "शिवं निःश्रेयस" मिति हैमः । शिवपक्षे "शिवा भवानी रुद्राणी" इत्यमरोक्तेः शिवायाः पार्वत्या आश्रयः । अर्धनारीश्वरत्वेनाधारो—यः स शिवाश्रयः । **भूरिविभूतिः**—भूरि बहुतरा, सर्वेति यावत्, विभूतिः—ऐश्वर्यं चतुस्त्रिंशदतिशयाष्टप्रातिहार्यैश्वर्यमस्यस्येति यावत् । शिवपक्षे विशिष्टा भूतिर्भस्म च यस्य स तादृशः । 'विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्,' इति "भूतिर्भस्मनि संपदि" इति चामरः । **यः चन्द्रकलां बिभर्त्ति**—यश्चन्द्रस्य कलामिव कलाम्, ज्ञानाद्यनन्तकलां, पक्षान्तरे कलां षोडशांशात्मिकां कान्तिं वा बिभर्त्तीति । **एषः सः**—पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टः । **वृषभध्वजः**—वृषभः ध्वजो चिह्नं यस्य स तादृश आदिनाथो नाभेयः, पक्षान्तरे वृषभध्वजः शिवः, अत एव वृषलाञ्छनः शिवः इति कोशे उक्तं वृषवृषभयोरेकार्थत्वात् "ऋषभो वृषभो वृषः" इति हैमोक्तेः, तदुपमः । **प्रभुः**—जगत्त्रयाधिपतिः । **वः**—युष्माकं व्याख्यातृश्रोतृणाम् । **श्रियं**—शोभां लक्ष्मीञ्च । **पुष्याद्**—अभिसंवर्धयेत् । अत्र च "दुर्गालङ्कितविग्रहः" इत्यादिवच्छब्दशक्तिमूलोपमाध्वनिः, न च श्लेषः । अर्थद्वयस्य वाच्यत्वे तात्पर्याभावात् । तदुक्तं तल्लक्षणम्—"श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाऽभिधाने श्लेष इष्यत" इति । अत्र तु नानेकस्यार्थस्याभिधानम्, अपि त्वेकस्याभिधानम् । अपरोऽर्थस्तु व्यङ्ग्य एव । वृषभदेवस्यैव प्रथम-तीर्थङ्करस्य पर्य्यवसाने बोधनीयत्वात् । तथा च शिवार्थप्रतिपादनसमर्थशब्दावलीयोजनप्रयासः कवेः वैफल्यं मा स्म गच्छदिति शिव इव वृषभदेव इत्युपमायां पर्यवसानं भवतीति उपमाध्वनिः स्पष्टः ॥२॥

अथ शान्तिजिनं स्तौति—**समेति** ।

समासदद् यत्पदपर्युपासनात्, कलानिधेर्मण्डलमध्यवर्तिताम् ।
मृगस्तिरश्चां प्रथमोऽपि सन्ततं, स शान्तिनाथः शिवतातिरस्तु वः ॥३॥

अन्वयः—यत्पदपर्युपासनात् तिरश्चां प्रथमोऽपि मृगः, कलानिधेर्मण्डलमध्यवर्तिताम् समासदत्, सः शान्तिनाथः, वः सन्ततं शिवतातिरस्तु ।

व्याख्या—**यत्पदपर्युपासनात्**–यस्य पदयोः चरणयोः पर्युपासनं सेवनं तस्मात्। **तिरश्चां**– तिर्यग्योनीनां, **प्रथमोऽपि**–प्रधानोऽपि "आद्ये प्रधाने प्रथमश्चिषु" इत्यमरः,**मृगः**–हरिणः । **कलानिधेः**–चन्द्रस्य । "ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधि" रित्यमरः । **मण्डलमध्यवर्तिताम्**–मण्डलस्य–बिम्बस्य, मध्ये वर्त्तत इति मध्यवर्ती तस्य भावस्तत्ता ताम्, मण्डलान्तःस्थायिताम् । **समासदत्**–प्रापत्। शान्तिजिनस्य हरिणाङ्कत्वात् मृगस्य तत्पदसेवनमध्यवसीयते, तत एव च चन्द्रकलङ्काभेदाऽध्यवसायेन मृगस्य चन्द्रमण्डलमध्यवर्त्तित्वाध्यवसायः । तादृशः–**स शान्तिनाथः**–षोडशजिनेश्वरः । **वः**–युष्माकं व्याख्यातृश्रोतृणां । **सन्ततं शिवतातिः**–क्षेमङ्करः । **अस्तु**–भवतु । "क्षेमङ्करो रिष्टतातिः शिवतातिः शिवङ्कर" इति हैमः । यत्पदसेवनात्तिर्यग्योनिरप्यनुत्तममतिशयं लभते किम्पुनर्यो मनुष्य इति शान्तिनाथस्यालौकिकमतिशयं पदसेवनेन व्यनक्ति । अत्र च मृगस्य सेवनाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेः, ततश्च मृगस्य चन्द्रमण्डलमध्यवर्त्तित्वाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेः, मृगकलङ्कयोरभेदाध्यवसायाच्चातिशयोक्तिरलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा–"सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते" इति ॥३॥

अथ युग्मेन नेमिं स्तौति–पितेति—

पिता भवेत्पुत्र इति श्रुतिश्रुतं, यथार्थमर्थं रचयन्निवाजनि ।
समुद्रजातोऽपि समुद्र एव यः, स्वलक्ष्मशङ्खाश्रयणात् सलक्षणः ॥४॥

अन्वयः—पिता पुत्रो भवेत् इति श्रुतिश्रुतम् अर्थम्, यथार्थम् रचयन्निव, यः समुद्रजातोऽपि, स्वलक्ष्मशङ्खाश्रयणात्, सलक्षणः, समुद्रः, एव, अजनि ।

व्याख्या—**पिता**–जनकः । **पुत्रो भवेत्**–पुत्ररूपेण परिणमेत् । **इति**–इत्थं । **श्रुतिषु**–वेदेषु । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी' इत्यमरः । **श्रुतं**–प्रसिद्धम् । "आत्मा वै जायते पुत्र" इत्युक्तेरिति भावः । **अर्थम्**–अभिधेयम् । **यथार्थम्**–वाच्यमनतिक्रम्य वर्त्तत इति यथार्थं सत्यम्। **रचयन्निव**–कुर्वन्निव । **यः**–नेमिः । **समुद्रात्**–तन्नामनृपात् । **जातः**–उत्पन्नोऽपि । **अपि**–विरोधे' । **स्वलक्ष्मशङ्खाश्रयणात्**–स्वस्य लक्ष्म-चिह्नं, शङ्खः, तस्याश्रयणाद्धारणाद्धेतोः । **सलक्षणः**–लक्षणेन लक्ष्मणा सहितः सलक्षणः सचिह्नः शङ्खलक्ष्मा । 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः । **समुद्रः**–समुद्राज्जातः समुद्र इति विरोधः, तत्परिहारश्चैवम्–समुद्रः मुद्रया स्वचिह्नेन सहितः सामुद्रिकोक्तशङ्खादिविशिष्टहस्तपादादिरेखासहित **एव**–स्याद्वादमुद्रया सहितो वा, तदुपदेशवत्त्वात् समुद्र एव । **अजनि**–जज्ञे । एवञ्च समुद्राज्जातः समुद्र एवाजनीति शास्त्रमर्यादास्थापकोऽयमिति भावः अत्र शब्दाऽभेदाद्वाच्ययोरभेदाऽध्यवसायः । किञ्च न पिता एव पुत्रो भवति, किन्तु तत्सधर्मेति अपिना विरोधप्रदर्शनेन द्वयोः विरोधातिशयोक्त्योः सङ्करः । "विरुद्धमिव भासेत, विरोधोऽसौ प्रकीर्त्तित" इति तल्लक्षणात् ॥४॥

शिवाङ्गसङ्गात् कलयन्नपि स्फुटं, कुमारतां यश्च जितान्तराहितः ।
चकार चित्रं किल तारकोदयं, नमोऽस्तु तस्मै जगदीशनेमये ॥५॥

अन्वयः—जितान्तराहितो यश्च शिवाङ्गसङ्गात् कुमारतां स्फुटं कलयन्नपि किल चित्रं तारकोदयं चकार, तस्मै जगदीशनेमये नमोऽस्तु ।

व्याख्या—**च**—शब्दः पूर्वोपवर्णितार्थसमुच्चायकः । **जितान्तराहितः**—जिताः-निरस्ताः, आन्तराः-मनोभवा रागादयः, अहिताः-रिपवो येन स तथा, वीतराग इत्यर्थः । "द्विड्विपक्षाऽहिताऽमित्र-दस्युशात्रवशत्रवः" इत्यमरः । **यः**—तच्छब्देनोद्दिश्यमानो नेमिः । **शिवाङ्गसङ्गात्**—शिवा-पार्वती तस्याः । अथवा शिवस्य-शङ्करस्य, यद्वा शिवा च शिवश्चेति "पुरुषः स्त्रियाः" [३-१-१२६] इत्येकशेषे शिवौ तयोः अङ्गसङ्गात्-देहसम्बन्धात् । **कुमारतां**—कुमारः, कार्तिकेयनामा शङ्करसूनुः, तस्य भावं तथा । **स्फुटं**—प्रकटमाबालगोपालविदितं यथा स्यात् तथा । **कलयन्**-धारयन् । **अपि**—शब्दो विरोधोपदर्शनार्थः,कार्तिकेयस्वरूपोऽपीत्यर्थः, पुत्रे मातृदेहांशतः पितृदेहांशतस्तदुभयतश्चोत्पत्तेः स्वीकारात् शिवाङ्गसङ्गादित्युक्तिः । अपिशब्दसूचितं विरोधमेव दर्शयति । **किल**—निश्चयेन चित्रं-विरोधाघ्रातत्वादाश्चर्यजनकम् । **तारकोदयं**-तारकस्य-तारकनाम्नो दानवस्य उदयम्-उन्नतिम्, **चकार**-कृतवान् । कार्तिकेयः स कथं नाम तारकोदयं कुर्यात्, न हि कार्तिकेयेन तारकासुर उदयं नीतोऽपि तु निधनम्, इति स्पष्टं विरोधः । कोशेऽपि 'तारकारिः, तारकान्तकः' इत्यादिशब्दानां कुमारशब्दपर्यायता वर्ण्यते । विरोधपरिहारश्चेत्थम्-**शिवाङ्गसङ्गात्**—शिवा-शिवादेवीनाम्नी नेमिनाथजननी, या समुद्रविजयनृपजाया, तस्या अङ्गसङ्गात् देहसम्बन्धात् **कुमारतां**—पुत्रत्वम् युवराजत्वम्, यद्वा कुत्सितः रूपसौन्दर्यादिना तुच्छतां गमितो मारः—कामदेवो येन तस्य भावं तथा, अथवा शिवस्य मोक्षस्य अङ्गम् अद्वितीयकारणं "प्राणभूतं चरितस्य परब्रह्मैककारणम् । समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते" इतिवचनात् ब्रह्मचर्य—शीलमित्यर्थः, तस्य सङ्गात् आसङ्गात् जीवनप्रियत्वात्, कुमारतां-अविवाहितताम्, यद्वा कुत्सितः सर्वतोमुखशीलपरिशीलनेन पराजयं नीतः, मारः- कामदेवो येन, तस्य भावं तथा । **चित्रं**—विविधप्रकारम्, **तारकोदयं**—तारयन्ति संसारसागरात् पारं नयन्तीति तारकाः, शिवपुरप्रयाणे सार्थवाहसन्निभाः साधवः, तेषाम् उपलक्षणत्वादन्येषां श्रावकादीनां भव्यात्मनाम् उदयं परमपदप्रापणतदभिमुखीकरणादिना समुन्नतिं **चकार**—कृतवान् । इत्थं विरोधे परिहृतेऽत्र विरोधाभासालङ्कारः । **तस्मै**—यच्छब्देन निर्दिष्टाय । **जगदीशनेमये**—जगदीश्वराय द्वाविंशतितमाय नेमिनाम्ने तीर्थङ्कराय । **नमोऽस्तु**—नमस्कारो भवतु ॥५॥

अथ पार्श्वनाथं स्तौति—**उपास्यते**— इति

उपास्यते भोगिभिरेव चक्रिभिः, समन्ततश्चन्दनवत् सदैव यः ।
भवाधितापव्यपरोपणक्षमः, स पार्श्वनाथस्तनुतां सुखानि वः ॥६॥

अन्वयः—यः चक्रिभिः भोगिभिश्चन्दनवत्सदैव समन्तत उपास्यते, स भवाधितापव्यपरोपणक्षमः पार्श्वनाथः वः सुखानि तनुताम् ।

व्याख्या—**यः**—पार्श्वनाथः । **चक्रिभिः**—चक्रमेषामस्तीति चक्रिणः, तैः कुण्डलाकारस्थायिभिः । **भोगिभिः**—सर्पैः अथ च भोगिभिः सांसारिकसौख्यपरम्परामनुभवद्भिर्नृपैः चक्रिभिश्चक्रवर्तिनृपैरिवेति ध्वनिः । **चन्दनवत्**—मलयजवत् । **सदैव**—सर्वदैव । **समन्ततो**—विश्वक् । **उपास्यते**—सेव्यते, यथा भोगिभिस्सर्पैश्चन्दनवृक्षः सदैवाश्रीयते, तथाऽयं पार्श्वप्रभुः चक्रवर्त्तिनृपरिव भोगिभिर्नृपैस्सर्पैश्चोचितवृत्त्या सदा सेव्यत इत्यर्थः । **स**—तादृशः । **भवस्य**- संसारस्य योऽधितापः-अधिकं तापः, आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपः । तस्य **व्यपरोपणे**-दूरीकरणे -**क्षमः**—समर्थः । **पार्श्वनाथस्तदाख्यस्तीर्थङ्करः** । **वः**—युष्माकं । **सुखानि**—कल्याणानि । **तनुतां**-विस्तारयतु । त्रिविधतापनाशनसमर्थाश्रयणं सुखायैव भवेदिति भावः । उपमाऽलङ्कारः ।।६।।

अथ महावीरजिनं स्तौति **न वेदेति**—

न वेद सिद्धार्थभवोऽपि यः स्वयं, चकार सिद्धार्थभवत्वमात्मनः ।
सुसंवरः संवरवैरिनिर्जयात्, स सम्मदं वीरजिनस्तनोतु वः ॥७॥

अन्वयः—न वेद यः सिद्धार्थभवोऽपि स्वयमात्मनः सिद्धार्थभवत्वं चकार, (यश्च) संवरवैरिनिर्जयात् सुसंवरः स वीरजिनो वः सम्मदं तनोतु ।

व्याख्या—**न वेद**—न वेद्मि, "विदक् ज्ञाने" इत्यस्य वर्तमाना 'मि' प्रत्यये मेश्च "तिवां णवः परस्मै" [४-२-११७] इति णवादेशे 'वेद' इति, विरोधाभासान्न मे मतिपथं सम्यगवतरतीति कविसमयप्रसिद्धविनोदात्मकवैचित्र्येण स्तुतिकारस्य ग्रन्थकृत इत्थमुक्तिः । किं कथङ्कारं च भवान् न वेत्तीत्याकाङ्क्षायामाह । **यः**— तच्छब्देन निर्दिश्यमानः, वीरजिन इत्यर्थः । **सिद्धार्थभवोऽपि**—सिद्धार्थनाम्नो नृपाल्लब्धजन्माऽपि । **स्वयम्**—आत्मनैव, परनैरपेक्ष्येणेत्यर्थः । **आत्मनः**-स्वस्य । **सिद्धार्थभवत्वं**—सिद्धार्थनृपलब्धजन्मत्वं । **चकार**—कृतवान्। यः सिद्धार्थभवस्तत्र सिद्धार्थभवत्वं वर्तत एवेति तत्करणं कथं, सिद्धसाधनदोषादिति विरोधः, अथवा सिद्धार्थभवत्वे सिद्धार्थापेक्षा वर्तत एवेति कथं परनैरपेक्ष्येण तत्करणमिति विरोध, ? तत्परिहारश्चेत्थम्- **सिद्धार्थः**—निखिलप्रयोजनातिशायिप्रयोजनवान् **भवः**—चरमावतारो यस्य स सिद्धार्थभवः, तस्य भावं सिद्धार्थभवत्वं, चकार महति राजकुले लब्धेऽपि जन्मनि न तावता तुतोष, किन्तु राजवैभवं विहाय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकरत्नत्रयीमभ्युपगम्य सर्वथा कृतकृत्यतोपयोगितया भवं सफलं कृतवानित्यर्थः। सर्वथा कृतकृत्यो भूत्वा शिवं जगामेति भावः। यदुक्तं वाचकावतंसेन भगवतोमास्वातिपादेन—सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति । दुःखनिमित्तमपीदं सुलब्धं भवति तेन जन्मेह ॥

पुनः **संवरवैरिनिर्जयात्**—संवरः, संवरनामकोऽसुरः, तदात्मको यो वैरी रिपुः, तस्य निर्जयात् नितरां

निराकरणात्। **सुसंवरः**–शोभनः संवरो यस्मात् तादृशः, यः संवरनामानं रिपुं निराकृतवान् ततः संवरः शोभनः कथं भवेदिति विरोधः, तत्परिहारश्चेत्थम्। **संवरः**–नानाविधकर्मागमनमार्गनिरोधो यो जैनदर्शने विख्यातः, तस्य वैरिभूतः–हिंसादिलक्षण आश्रवः, निर्जयात् परिहारात् तस्य, यद्वा संवरवैरी कामदेवः; तस्य नितरां निराकरणात्। **सुसंवरः**–शोभनः सर्वातिशायी संवरः– विविधकर्मागमनमार्गनिरोधो यस्य तादृशः। **स**–यच्छब्दोद्दिष्टः। **वीरजिनः**–चरमतीर्थङ्करः। **वः**–युष्माकम्। **सम्मदम्**–आनन्दाद्वैतम्। **तनोतु**–विस्तारयतु। विरोधालङ्कारः ॥७॥

अथर्षभजिनादिपञ्चतीर्थङ्करान् प्रथमं स्तुत्वा महोपकारित्वात् सामान्यतः तदन्यानपि जिनेश्वरान् स्तौति, **सुधाशनेति**—

सुधाशनाध्यासनजातकीर्तयः, स्फुरद्वृषालम्बनचा(तु)रुमूर्तयः।
मनःसमीहापरिपूर्तये भृशं, समेऽपि वः सन्तु परे जिनेश्वराः ॥८॥

अन्वयः—सुधाशनाध्यासनजातकीर्त्तयः स्फुरद्वृषालम्बनचारुमूर्तयः समेऽपि परे जिनेश्वराः वः मनः-समीहा-परिपूर्तये भृशं सन्तु।

व्याख्या—सुधामश्नन्तीति **सुधाशनाः**–देवाः। तेषां प्रभुचरणाब्जयोरध्यासनं–भक्त्योपवेशनम्। तेन **जातकीर्तयः**–जाता कीर्तिर्येषां ते तथा, जघन्यतोऽपि कोटिदेवसेव्यत्वात्तस्य। तथा **स्फुरन्**–विलसन्, यो **वृषः**–पुण्यं धर्मश्च क्षान्त्यादिदशविधयतिधर्मलक्षणः। तस्य **अवलम्बनेन**–धारणेन 'श्रेयः पुण्यं वृषो धर्मः सुकृतमित्यहैमः।' **चारुमूर्त्तयः**–चार्वी मनोहरा मूर्त्तिराकृतिर्येषां ते तादृशाः। **समेऽपि**–सर्वेऽपि। **परे**–कीर्तितेभ्योऽन्ये। **जिनेश्वराः**–जिनेन्द्राः। **वः**–युष्माकम्। **मनःसमीहा**–मनसः समीहा स्वाभिलाषा तस्या। **परिपूर्त्तये**–पूरणाय। **भृशं**–अभीक्ष्णं। **सन्तु**–भवन्तु ॥८॥

अथ तीर्थङ्करान् स्तुत्वा गणधरान् स्तौति-**स्वयमिति**—

स्वयं समस्ता अपि लब्धयो वरं, समेत्य रत्नाकरमापगा इव।
परस्परस्पर्धितयेव यं श्रिताः, स गौतमः संचिनुतां शुभानि वः ॥९॥

अन्वयः—समस्ता अपि लब्धयः यं वरम्, आपगा रत्नाकरमिव परस्परस्पर्धितया इव स्वयं समेत्य श्रिताः स गौतमः वः शुभानि सञ्चिनुताम्।

व्याख्या—**समस्ताः**–सकला। **अपि**–न तु काश्चिदेव। **लब्धयः यं**–गौतमाऽऽख्यं। व्रियते इति **वरस्तं**, वरणीयं श्रेष्ठं प्रियञ्च। **आपगाः**–नद्यः। **रत्नाकरमिव**–रत्नानामाकरः खानिः समुद्रस्तमिव। **परस्परस्पर्धितयेव**–अहंपूर्विकयेवेत्यर्थः। **स्वयं**–स्वत एव। **समेत्य श्रिताः**–आश्रिताः। यथा नद्यः स्वयमेव

समुद्रं सम्मूयाऽऽश्रयन्ति नतु तत्र समुद्रस्याणुमात्रोऽपि प्रयासस्तथाऽऽस्याऽद्भुतपुण्यप्रभावेणानायासेनैव तं युगपत् तास्सम्मिलन्ति, नत्वेकैकशो नवा पौर्वापर्येण। एतेनास्य भुवनाद्भुतोऽतिशयो व्यज्यते। स—तादृशालौकिकातिशययुक्तः। **गौतमः**-गौतमगोत्रोत्पन्नत्वात्तदाख्योगणधरः। **वः**-युष्माकम्। **शुभानि**—मङ्गलानि कल्याणानि वा। **सञ्चिनुतां**-प्रचयं प्रापयन्तु। अत्र वरमिति सामान्यविशेषणमहिम्ना लब्धिषु नदीषु च स्वयं पतिंवरायाः स्त्रिया व्यवहारसमारोपः। रत्नाकरे गौतमे वरत्वव्यवहारसमारोपश्चेति समासोक्तिः, तल्लक्षणं यथा—"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुन" इति। सा च आपगा इवेत्युपमाऽनुप्राणिता। उपमालक्षणं तु—"उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः" इति। यथा नद्यः स्वयं समुद्रं श्रयन्ते तथा लब्धयो गौतममिति द्वयोः सादृश्यम्। एवञ्च द्वयोः सङ्करः। उत्तरार्धे च परस्परस्पर्धित्वस्य चेतनमात्रधर्मस्य अचेतनासु लब्धिषु सम्भावनादुत्प्रेक्षा, तल्लक्षणं यथा—"भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा, प्रकृतस्य परात्मना" इति। अत्र च नदीनां समुद्रे प्राप्तिरिव लब्धीनां गणधरे प्राप्तिः प्रस्तुता। तत्र परस्परस्पर्धित्वं सम्भाव्यत एव, नतु तत्र वस्तुतस्तस्य सत्त्वम्, तस्य चेतनमात्रधर्मत्वात्। सा चोत्प्रेक्षा समासोक्त्याश्रयीभूतलब्धिविषयिणीति एकाश्रयाऽनुप्रवेशात्सङ्करः। एवञ्च त्रयाणामप्यलङ्काराणामत्र सङ्करः ॥९॥

अनुरागाधिक्यात्पुनरपि तमेव स्तौति-**जगदिति**—

जगत् त्रिपद्या परितोऽनवद्यया, कयाऽपि यः श्रीपतिवद् व्यगाहत।
अनन्तधामा गणभृद्विशेषकः, प्रसत्तये मे भवतात् स गौतमः ॥१०॥

व्याख्या—**यः**—गौतमः। **श्रीपतिवत्**—श्रियाः लक्ष्म्याः पतिः प्रियः श्रीपतिर्विष्णुः, स इव। **कयाऽपि**—अनिर्वचनीयस्वरूपया। **अनवद्यया**—पवित्रतमया। **त्रिपद्या**-त्रयाणां पदानां समाहारः त्रिपदी, तया, पक्षान्तरे जिनेश्वरप्रोक्तया उत्पादव्ययध्रौव्यरूपया त्रिपद्या। **जगत्**—त्रिभुवनं। **व्यगाहत**—व्याप्नोत्। यथा विष्णुर्वामनरूपः बलिराजयज्ञे दानप्राप्तां त्रिपदभूमिं परिच्छिन्दन् चरणत्रयेण जगत्त्रयं व्याप्तवान्, तथैव गणधरः उत्पादादित्रिपद्या जगत्त्रयं समावेशयत्, जगत्त्रयगतपदार्थमात्रं त्रिपदीविषयमकरोदितिभावः। एवञ्चानिर्वचनीयोऽस्य प्रभावः, अत एव स **अनन्तधामा**—अनन्तमियत्तारहितं धाम प्रभावो यस्य सोऽनन्तधामा निःसीमप्रभावः। **गणभृद्विशेषकः**—गणभृत्सु गणधरेषु विशेषकस्तिलकः। 'तिलके तमालपत्र-चित्रपुण्ड्रविशेषका, इति हैमः। यथा तिलक उत्तमाङ्गस्थः तथा गौतमोऽपि गणधरेषु सर्वोपरिस्थ इति तिलकरूपः। एतेनापि तस्य सर्वविलक्षणं महत्त्वं सूचितम्। **गौतम**स्तदाख्यो गणधरः। **मे**—मम। **प्रसत्तये**—प्रसादाय। **भवतात्**—भूयात्। अत्र त्रिपद्येतिश्लेषानुप्राणितोपमेति सङ्करः। उत्तरार्धे च गणभृद्विशेषक इति रूपकं लुप्तोपमा वा,तस्य च पूर्वार्धोपात्तोपमानिरपेक्षत्वात्, संसृष्टिर्नामाऽलङ्कारः। तल्लक्षणञ्च 'मिथोऽनपेक्षयैतेषां[1] स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इति॥१०॥

१—एतेषाम्—अलङ्काराणामिति।

अथ महामहिमत्वाद्गणधरं सुधर्मस्वामिनं स्तौति-चतुर्विधमिति—

चतुर्विधं सङ्घमशेषभावुकप्रसारवल्लीवनसारिणीनिभाः ।
इमा गणाधीशसुधर्मदेशनागिरश्चिरं पान्तु निपातितांहसः ॥११॥

व्याख्या—**इमाः**—अतीतकालोत्पन्ना अपि स्वातिशयमहिम्ना प्रत्यक्षतया अनुभूयमानाः । इदमः प्रत्यक्षवाचित्वात् । **अशेषाः**—सकला ये **भावुकाः**—भव्याः प्राणिनः तेषां **प्रसारः**-विस्तारः स एव **वल्लीनां**—लतानां "वल्ली तु व्रततिर्लता"इत्यमरः । **वनम्** काननम्'काननं वनं'इत्यमरः, तत्र **सारिणी**-जलप्रवर्तककुल्या, **तन्निभाः** तत्सदृशाः । यथा हि सारिण्यः जलप्रवर्तनेन लताः पुष्णन्ति, अपायेभ्यश्च रक्षन्ति तथा गणधरगिरोऽपि भव्यान् भवक्लेशात् पान्ति, आत्मसामर्थ्यञ्च पुष्णन्ति विकाशयन्ति, इति तास्तत्सदृशाः, अत एव **निपातितांहसः**—निपातितानि अंहांसि पातकानि याभिस्ताः, नहि दुरितविनाशमन्तरा भवक्लेशात् त्राणम्, आत्मशक्तिपोषणञ्च सम्भवतीत्यर्थः । **गणाधीशः**—गणानामधीशः यः **सुधर्मा**—तदाख्यो गणधरस्तस्य **देशनागिरः**—उपदेशवचांसि **चतुर्विधं**-श्रमणप्रधानं चतुःप्रकारकं **सङ्घं**, **चिरं**-दीर्घकालं यावत्, **पान्तु**—रक्षन्तु । सन्मार्गप्रवर्त्तनद्वारेति शेषः । अत्रोपमालङ्कारः स्पष्टः ॥११॥

अथागमं स्तौति—**यदीयेति**—

यदीयपारं सुगमं विपश्चितां, न पुण्यपोतं प्रविहाय केवलम् ।
जिनेन्द्रचन्द्राभ्युदये कथं न स, श्रुताम्बुधिर्वृद्धिमुपैतु नित्यशः ॥१२॥

व्याख्या—**विपश्चितां**-विदुषाम् । **केवलम्**—एकं । **पुण्यं**—धर्म एव **पोतः**—जलयानपात्रम् । 'यानपात्रे शिशौ पोत' इत्यमरः । तं, **प्रविहाय**—परित्यज्य । **यदीयं**—यच्छास्राम्बुधिसम्बन्धि । **पारं**—परतीरं । **सुगमं**—सुखेन गम्यतेऽत्रेति सुगमं सुप्राप्यं **न** । न हि दुरितकलुषितस्वान्ताः शास्त्रे श्रद्दधते, न वा कलुषितबुद्धीनां तत्र प्रवेशसम्भवः, दूरे तत्पारप्राप्तिः, तस्या निर्मलबुद्धिगम्यत्वात्, तत्र पुण्यस्यैव प्रयोजकत्वादितिभावः । **स**—तादृशः । **श्रुताम्बुधिः**—श्रुतम् शास्त्रमेवाऽम्बुधिः समुद्रः स । **जिनेन्द्रचन्द्राभ्युदये**—जिनेन्द्र एव चन्द्रः, पक्षे जिनेन्द्रश्चन्द्र इव, तस्याभ्युदये समुदये । **कथं**—केन प्रकारेण । **नित्यशः**—प्रतिदिनम् । **वृद्धिं न उपैतु**—प्राप्नोतु । अपितु प्राप्नोत्येव । चन्द्राभ्युदये हि सागरस्य वृद्धिरवश्यमेव भवतीति, चन्द्रतुल्यस्य जिनेन्द्रस्याभ्युदये अम्बुधितुल्यस्य शास्त्रस्याभ्युदयो निष्प्रत्यूह एव । अत्र जिनेन्द्रस्य चन्द्रतया रूपणे सत्येव शास्त्रस्याम्बुधितया रूपणमुपयुज्यते । तत्र सत्येव च पुण्यस्य पोतत्वेन रूपणमुपयुज्यते इति परम्परितरूपकाऽलङ्कारः । तल्लक्षणं तु "यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्, तत्परम्परितम्" इति । तथाऽम्बुधिवृद्धिरन्या शास्त्रवृद्धिश्चान्या, द्वयोर्भेदेऽपि अभेदाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिरिति द्वयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः ॥१२॥

अथार्वाचीनेषु देवसूरेरप्रतिम-प्रतिभाशालित्वात्तं स्तौति—अतिष्ठिपदिति—

अतिष्ठिपन्निर्वृतिमङ्गनाजने, विजित्य ये दिक्पटमागमोक्तिभिः ।
विवादविद्याविदुरं वदावदा, जयन्ति तेऽमी प्रभुदेवसूरयः ॥१३॥

व्याख्या—**ये**—देवसूरयः, विरुद्धो वादो विवादस्तस्य विद्या ज्ञानकला तां वेदितुं शीलमस्येति स **विवादविद्याविदुरः**—विरुद्धवादकुशलस्तम्। **दिक्पटम्**—दिगेव पटो वस्त्रं यस्य तं, दिगम्बरसम्प्रदायानुसारिणम् कुमुदचन्द्रम्। **आगमोक्तिभिः**—आगमे शास्त्रे प्रतिपादिता या उक्तयः वचनानि ताभिः, न तु स्वकल्पिततर्कैरेवेति भावः। एतेन स्त्रीनिर्वृतिस्थापनस्य प्रमाणमूलत्वाच्छ्रद्धेयतेति सूचितम्, दिक्पटानामागमानभिज्ञत्वं, तदुक्तेश्च प्रमाणापेतत्वादश्रद्धेयत्वञ्च द्योतितम्। **वदावदाः**—शास्त्रमर्यादया अतिशयेन वदन्तीति वदावदा वक्तारः शास्त्रार्थनिपुणाः। 'वदो वक्ता वदावद' इति हैमः। **विजित्य**—पराजित्य तन्मतमुन्मूल्य। **अङ्गनाजने**—स्त्रीलोके। **निर्वृतिं**—मुक्तिम्। **अतिष्ठिपन्**—स्थापितवन्तः। स्त्रीणां न मोक्ष इति दिगम्बरा, श्वेताम्बरास्तु तासामपि मोक्ष इति मन्यन्ते इति भावः। "निर्वाणं निर्वृतिः सुख" मित्यमरः। **ते**—तादृशा अलौकिकप्रतिभावन्तः। **अमी**—वर्णनविषयाः। **प्रभवः**—तपागच्छनायकाश्च ते **देवसूरयस्तदाख्याः** सूरयः, **जयन्ति**—सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते। 'नायको नेता प्रभु'रित्यमरः ॥१३॥

अथ पुनस्तत्प्रभावान्तरं निर्दिशन् तमेव स्तौति—**सिताम्बराणामपि**—

सिताम्बराणामपि यैश्च दर्शनं, स्थिरं कृतं गूर्जरभूमिमण्डले ।
चलाचलं दिक्पटवादवात्यया, मनोमुदे ते मम देवसूरयः ॥१४॥

व्याख्या—**यैः**—देवसूरिभिः। **दिक्पटवादवात्यया**—दिक्पटानां दिगम्बराणां वादो विवाद एव वात्या चक्रवातो वातूलस्तया "वातूलवात्ये बातानां" इति हैमः। **चलाचलं**—कम्प्रमस्थिरमपि **सिताम्बराणां**—श्वेताम्बराणां। **दर्शनं**—शास्त्रम्। **गूर्जरभूमिमण्डले**—गुर्जराख्यभूभागे। **स्थिरं**—तन्मतं खण्डयित्वा निश्चलमसत्प्रतिपक्षं। **कृतम्**—प्रमाणभावाऽऽलिङ्गितं विहितम्। **ते**—तादृशाः शास्त्रमर्मज्ञाः। **देवसूरयः मम मनोमुदे**—मनसो मुदे हर्षाय भवन्त्विति शेषः। अत्र दिक्पटवादवात्येति रूपकालङ्कारः, वादस्य वात्यात्वेन रूपणात्। यदुक्तम्—"रूपकं रूपितारोपे विषये निरपह्नवे" इति। निरपह्नवे इत्यपह्नुतेरविषये। तथा वात्यया चलाचलत्वमन्यत्, वादेन च चलाचलत्वमन्यत्, द्वयोर्भेदेऽप्यभेदोक्तिरित्यतिशयोक्तिरलङ्कारः। तस्य च पूर्वोक्तं रूपकमङ्गमिति द्वयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥१४॥

अथ गुणभद्रसूरिं स्तौति—प्रवादेति—

प्रवादविद्याजितदेवसूरये, चरित्रविद्योतितदेवसूरये ।
स्वदेशनारञ्जितदेवसूरये, नमोनमः श्रीगुणभद्रसूरये ॥१५॥

व्याख्या—**प्रवादविद्याजितदेवसूरये**–प्रकृष्टो वादः प्रवादस्तस्य विद्या तत्करणाऽपूर्वज्ञानकला तया जितः देवानां सूरिः पण्डितः बृहस्पतिर्येन स तस्मै, "धीमान् सूरिः कृती" त्यमरः । **चरित्रविद्योतितदेवसूरये**–चरित्रेण शुद्धपञ्चाचाराऽऽचरणेन विद्योतितः प्रसिद्धिं प्रापितः देवसूरिः स्वगुरुः देवसूरिनामाचार्यो येन तथोक्तस्तस्मै, शिष्यख्यात्या हि आनुषङ्गिकी गुरुख्यातिरितिभावः । **स्वदेशनारञ्जितदेवसूरये**–यास्वदेशनास्वकीयोपदेशगिरः ताभिः रञ्जितौ प्रीणितौ देवश्च सूरिर्विद्वांश्च तौ देवसूरी येन सः तथोक्तस्तस्मै । **श्रीगुणभद्रसूरये नमो नमः**–मूयो नतयः सन्त्विति शेषः । अत्र बृहस्पतिजयसम्बन्धाभावेऽपि तदुक्तेरसम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥१५॥

अथ सामान्यतः कवीन् स्तौति—क्षमाधरेभ्यः इति—

क्षमाधरेभ्यः कमलोत्तमाश्रया, समुच्चगोत्रेभ्य इवोल्लसद्रसा ।
बभार येभ्योऽभ्युदयं सरस्वती, महाशया ग्रन्थकृतो जयन्ति ते ॥१६॥

व्याख्या—**समुच्चगोत्रेभ्यः**–समुच्चानि उन्नतानि तत्तत्क्रियाभिः प्रसिद्धानि अथवा समुच्चानि उन्नतिं प्रापितानि गोत्राणि कुलानि येषां यैर्वा ते तादृशास्तेभ्यः "गोत्रं कुलाख्ययोः" इति मेदिनी । "गोत्रं तु सन्तानोऽन्ववायोऽभिजनः कुल" मिति हैमः । "तुङ्गसुच्चमुन्नतमुद्धुर" मिति हैमः । पक्षे समुच्चा अत्युन्नता गोत्राः पर्वताः लक्षणया शिखराणि येषां ते तथोक्ताः, तेभ्यः, समुन्नतशिखरेभ्य इत्यर्थः । 'गोत्रोऽचलः सानुमान्' इति हैमः । **क्षमाधरेभ्यः**–क्षमा क्षान्तिः सहिष्णुता वा तस्याः धरन्तीति धरास्तेभ्यः, अपराधकारिण्यपि क्षमया सहिष्णुत्वात् प्रतीकाराऽकरणेनोपकारकारकेभ्यो मुनिभ्यः, "क्षितिक्षान्त्योः क्षमा" इत्यमरः । "तितिक्षा सहनं क्षमा" इति हैमः । पक्षे–क्षमायाः पृथिव्या धराः महीधरास्तेभ्यः । **येभ्यः**–ग्रन्थकृद्भ्यः । **कमलोत्तमाश्रया**–कमलया लक्ष्म्या हेतुना उत्तमाः लोकपूज्या नृपादयः आश्रया वर्णनीयत्वेन विषया यस्याः सा तादृशी । 'पद्मा कमला श्री'रित्यमरः । पक्षान्तरे 'कमलं नलिनं पद्म', मिति हैमोक्तेः । पक्षे कमलानां पद्मानाम् उत्तम इतरविलक्षण आश्रय आश्रयणं यस्याः यस्यां वा सा तादृशी, उत्तमाश्रयत्वेन यत्र कमलानि प्राचुर्येण सन्ति इत्यर्थः । **उल्लसद्रसा**–उल्लसन् स्वादुशीतलत्वादिगुणयुक्तत्वेन हृद्यः सततजलाधारत्वेन वर्धिष्णुर्वा रसो जलं यस्या यस्यां वा सा, सुस्वादुशीतलसलिलेत्यर्थः । **सरस्वती**–तदाख्या नदीव 'ब्रह्मपुत्रा सरस्वती' इति हैमः । पक्षे उल्लसन् सकलजनहृदयावर्जकतया विलसन्तो रसाः शृङ्गारादिनव रसा वर्णनीयतया यत्र सा तादृक्स्व-

भाषा, "शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः" इत्यमरः । सरस्वती वाणी "गीर्वाग् वाणी सरस्वती" इत्यमरः । अभ्युदयमभ्युन्नतिमाविर्भावं वा बभार--प्राप । ते--तादृशा विलक्षणगुणविशिष्टाः । महाशयाः--महान् आशयोऽभिप्रायो येषां ते तादृशः, सकलजनहितचिन्तादिधर्मयुक्तत्वेनात्युदाराशयाः । ग्रन्थकृतः--निबन्धरचयितारः । जयन्ति--सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते । अत्र समुद्गगोत्रेभ्य इत्यादिशब्दशक्तिमूलः सरस्वती सरस्वतीवेत्युपमा ध्वनिः । तथा श्लिष्टविशेषणमहिम्ना वाण्यां नदीव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः ॥१७॥

अथ साधून् स्तौति—निसर्गेति—

निसर्गकारुण्यनिवासभूमयः, परार्थनिर्माणनिबद्धचेतसः ।
असंस्तुतस्यापि रता गुणस्तुतौ, चिराय ते केऽपि जयन्ति साधवः ॥१७॥

व्याख्या—निसर्गात्स्वभावादेव न तु परप्रेरणया । कारुण्यस्य--करुणायाः "कारुण्यं करुणा घृणे" त्यमरः । निवासस्य--स्थितेः । भूमयः, प्राणिमात्रे स्वभावदयालवः, न तु नटादिवत् कृत्रिमदयालवः । परार्थाय--परस्यार्थः प्रयोजनम्, तस्मै तत्सम्पत्त्यै परोपकृतये यन्निर्माणं--विधानं क्रिया तत्र । यद्वा परार्थस्य यन्निर्माणं विधानं परोपकारकरणं तत्र निबद्धं--तदेकतानं चेतश्चित्तं येषां ते तथोक्ताः । यद्वा परमार्थकरण--प्रसन्नमनसः इति । परशब्दः परमार्थकोऽत्र । यद्वा परः प्रकृष्टः अर्थः प्रयोजनं मोक्षलक्षणं फलं तस्य यन्निर्माणं सम्प्राप्तिः स्वस्यातिनिर्मलचारित्राराधनाद्वाराऽन्येषां भव्यानां जिनोपदिष्टतत्त्वोपदेशद्वारा शीघ्रं कथं स्यादित्येवं निबद्धचेतसः । तथा असंस्तुतस्याऽपरिचितस्यापि "संस्तवः स्याद् परिचयः" इत्यमरः। गुणस्तुतौ--गुणकीर्तने । रताः--अनुरक्ताः, परिचितस्य हि गुणान् परिचयमर्यादारक्षणाय सर्व एव स्तौति, अपरिचितस्य तु पुनः निरुपकृताऽनभिलाषिणः साधव एव गुणान् स्तुवन्तीति भावः । केऽपि--अनिर्दिष्टनामानः महात्मानः, मोक्षमार्गं साधयन्तीति साधवः, मोक्षमार्गे सीदतां साहाय्यदानबद्धचित्ताः इति ते परोपकृतिप्रवणाः । चिराय--दीर्घकालं । जयन्ति--सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते । अत्र जातिरलङ्कारः ॥१७॥

अथ तानेव प्रकारान्तरेण पुनरपि स्तौति—पुरस्सरा इति—

पुरस्सरा धार्मिकलोकसंहतेः, परं न ये कुत्रचनापि हिंसकाः ।
सुपर्वपक्षाश्रयिणोऽपि निश्चितं, नमोऽस्तु सद्भ्यो भुवि तेभ्य एव मे ॥१८॥

व्याख्या—ये--सन्तः । धार्मिकलोकसंहतेः--धर्मं चरन्तीति धार्मिकाः धर्माचरणपरायणास्ते च ते लोकाश्च, तेषां संहतिः, समूहस्तस्याः धार्मिकजनतायाः । पुरस्सराः--अग्रेसराः, धर्मकार्याणां प्रधानप्रवर्तकाः, तथा सुपर्वपक्षाश्रयिणः--सुपर्वणां बाणानां पक्षः बाणाऽवयवः, तदाश्रयिणः बाणमूलभागस्थायिनोऽपि,

अपिविरोधे। कुत्रचनाऽपि--कापि। परमत्यन्तं। हिंसका--घातका न। अत्र यो हि बाणमूलभागस्थः स न हिंसक इति विरोधः, बाणस्य हननमात्रे नियोगात्। तत्परिहारस्तु सुपर्वाणो देवाः "सुपर्वसुरनिर्जरे" ति हैमः। तेषां पक्षस्तदाश्रयिणोऽपि आस्तिकत्वात् देवपूजका अपि हिंसकाः, यागादौ छागादिप्राणिघातकाः अर्थाद्देवपूजार्थमेव, न--नैव। यद्वा सुष्ठु पर्व सुपर्व तस्य पक्षः श्राद्धयागादितिथिः तस्य देवपितृकार्यार्थमाश्रायिणोऽपि हिंसका न, तत्र शास्त्रे सन्नृत्वान्यथाऽनुपपत्तेः प्राणिघातनिषेधात्। यद्वा सुष्ठु पर्व पर्युषणादि महापर्व तस्य पक्षोऽभ्युपगमः तदाश्रयिणोऽपि तदाराधका अपि ये हिंसका न, अर्हत्पूजाद्यर्थं श्रावकाणां यथाकथञ्चिज्जलपुष्पादिजीवहिंसाभावेऽपि भावविशुद्धेः, साधूनां तु हिंसापरिहारित्वात्। भुवि--पृथिव्यां। तेभ्यः--तादृशगुणविशिष्टेभ्य एव, नान्येभ्यो देवपूजार्थं पशुघातकेभ्यः। सद्भ्यः--सज्जनेभ्यः। मे--मम। नमः--नमस्कारः। निश्चितं अस्तु--भवतु। अत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥१८॥

अथाधिकस्याधिकं फलमिति कृत्वा पुनः सज्जनानेव स्तौति--परस्येति--

परस्य सन्तापमपाकरोति यः, स्वजीवनेनापि नभस्यमेघवत्।
करोति यो वा सुमनोऽभिवर्धनं, न सज्जनः कस्य मुदं तनोति सः ॥१९॥

व्याख्या--यः--सज्जनः। नभस्यमेघवत्--भाद्रपदीयवारिदवत्। स्वजीवनेनापि--स्वस्य जीवनं जीवितं सलिलञ्च तेनाऽपि। परस्याऽन्यस्य। सन्तापं--दुःखं तापञ्च। अपाकरोति--दूरीकरोति, सर्वेषामेव जीवनं सर्वस्मात् प्रियतरम्, येन केनापि प्रकारेण तद्रक्षति, सज्जनस्तु मेघवत् परसन्तापनाशार्थं तदपि विसृजतीति महद्वैशिष्ट्यमस्येति भावः। तथा सुमनोऽभिवर्धनं--सुमनसां देवानां पण्डितानाञ्च पक्षे पुष्पाणाञ्चाभिवर्धनम्, अभितो वृद्धिं पोषणञ्च यः करोति--विदधाति, स्वजीवनेनापीत्यनुषज्यते, स--तादृशः। सज्जनः--साधुः। कस्य मुदं--प्रीतिं। न तनोति--विस्तारयति, अपि तु सर्वस्य विस्तारयत्येव। अत्रोपमाऽलङ्कारः। स च स्वजीवनमिति सुमनोऽभिवर्धनमिति च श्लेषानुप्राणितः। किञ्च पुष्पाभिवर्धनमन्यत् देवपण्डिताभिवर्धनञ्चान्यत्, द्वयोर्भेदेऽप्यभेदोक्तिरूपातिशयोक्तिः। एषाऽपि चोपमायाः अङ्गमेवेति, त्रयाणामङ्गाङ्गिभावः सङ्करः। 'स्युर्नभस्यप्रौष्ठपदभाद्रभाद्रपदा समाः' इति। 'जीवनं सुवनं वनं, पयः' इति। 'जीवनं जीवितं समे' इति। 'सुमनसः पुष्पम्' इति। 'सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकस' इति चामरः ॥१९॥

अथ सज्जनानेव स्तुवन् तस्यानुपमेयत्वमाह-न पूर्णचन्द्रेणेति--

न पूर्णचन्द्रेण सतो विनिर्मितिर्जगत्त्रयाह्लादकृतोऽपि शङ्क्यते।
कलङ्किता हेतुमता तथासति, प्रवर्तमाना कथमत्र वार्यताम् ॥२०॥

व्याख्या--जगत्त्रयाह्लादकृतः--त्रयोऽवयवा अस्येति त्रयं, जगतां त्रयं जगत्त्रयं, तस्याह्लादमानन्दं

करोतीति स. तस्यापि सतः--सज्जनस्य, विनिर्मितिः--निर्माणं, पूर्णचन्द्रेण--राकाचन्द्रेण, न शङ्क्यते--नानुमीयते नोत्प्रेक्ष्यते । ननु चन्द्रोऽपि जगत्त्रयाह्लादकृत्सज्जनोऽपि तादृशः, एवञ्च कार्येण कारणानुमानस्य निष्प्रत्यूहत्वा-च्चन्द्रेण सतो विनिर्मितिः सिद्धैवेति चेन्न । तदाह—तथा सति--पूर्णचन्द्रेण सतो निर्माणस्वीकारे सति । हेतुगता--कारणगता चन्द्रगतेत्यर्थः । कलङ्किता--मालिन्यम् । अत्र--सज्जने । प्रवर्तमाना--अनुसरन्ती । कथं--केन प्रकारेण । वार्यताम्--निरुद्ध्यताम् ? अयं भावः—यदि पूर्णचन्द्रेण सतो निर्माणं स्यात्तदा पूर्णचन्द्र-गतकलङ्किता सज्जनेऽपि स्यात्, आह्लादकत्ववत् । 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते', इति नियमात् । सा च सज्जने न दृश्यते, आह्लादकत्वमात्रं दृश्यते, इति आह्लादकत्वं हेतुर्न प्रयोजकः, व्यभिचारशङ्कानिवर्तकतर्क-शून्यत्वात् । अत्र कलङ्कितत्वाभावहेतुना सतः पूर्णचन्द्रेणानिर्माणानुमानादनुमानाख्योऽलङ्कारः, तल्लक्षणं यथा-"अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्" इति ॥२०॥

ननु माऽस्तु पूर्णचन्द्रेण सतो विधानम्, पूर्वोक्तविप्रतिपत्तेः, चन्दनेन तु अस्तु, न च तत्र पूर्वोक्त-विप्रतिपत्त्यवसरः, तस्य निष्कलङ्कत्वादित्याशङ्कायां तदपि नेत्याह—सत इति—

सतोऽन्यसन्तापहृतोऽपि तर्क्यते, न चन्दनेनापि विधानकल्पना ।
यतो न काठिन्यमवेक्ष्यतेतरां, न चात्र हृद्ग्रन्थिरवाप्तघर्षणः ॥२१॥

व्याख्या—अन्यसन्तापहृतोऽपि--अन्यस्य परस्य सन्तापं हरतीति स तस्य परसन्तापहारकस्यापि । सतः-सज्जनस्य । चन्दनेन--मलयजेनाऽपि विधानस्य-निर्माणस्य,कल्पना--शङ्का । न तर्क्यते--न तर्कविषयिणी । सन्तापहरणरूपकार्येण चन्दने सज्जनकारणत्वानुमानम् न तर्कसिद्धम्, चन्दने परसन्तापहारकत्वधर्मस्त्व-किञ्चित्करः कुतस्तत्राह-यतः--यस्मात् कारणात् । अत्र--सज्जने काठिन्यं--कर्कशता । न अवेक्ष्यतेतराम्--न दरीदृश्यते । अवाप्तघर्षणः--प्राप्तसङ्घर्षः । हृद्ग्रन्थिः--हृदयगतगूढमाया च नावेक्ष्यतेतराम्, कारणगुणानां कार्यगुणारम्भकत्वनियमात्, चन्दनस्य सज्जनकारणत्वे परसन्तापहरणगुणवत् कर्कशत्वस्य अवाप्तघर्षणहृद्ग्र-न्थेश्चात्र सत्त्वं स्यात्, तच्च नास्ति, अतः न चन्दनं सज्जनकारणमिति भावः । अत्रापि पूर्वश्लोकवत्-अनुमानाऽलङ्कारः ॥२१॥

अथ न केवलं सज्जन एव स्तोतव्यः किन्तु दुर्जनोऽपि, तस्य स्तोतव्यत्वे भूमिकां रचयति—महीयसामिति—

महीयसामाश्रयसन्निधानतो, भवेल्लघीयानपि गौरवास्पदम् ।
गजाननं पूजयता जनेन किं, न पूज्यते यानममुष्य मूषकः ॥२२॥

व्याख्या—महीयसाम्--अतिशयेन महताम् । आश्रयस्याश्रयणस्य । सन्निधानतः--प्राप्तेः, महत्सामी-प्यात् । लघीयान्--अतिशयेन लघुर्लघीयानतिनीचोऽपि गौरवस्य--सम्मानस्य । आस्पदं--पात्रं भवेत् । कुत

एतत् संभाव्यते, तत्राह—**गजाननं**--गजस्य हस्तिनः आननमिवाननं यस्य तं गणपतिम्। "अप्येकदन्त हेरम्बलम्बोदरगजानना:" इत्यमरः। **पूजयता**--अर्चयता। **जनेन**–लोकेन। **अमुष्य**–गणेशस्य। **यानं**–वाहनं **मूषकः**--आखुः। 'उंदुरूर्मूषकोऽप्याखु' रित्यमरः। **न पूज्यते**–अर्च्यते **किम्** ? अवश्यं पूज्यते, एवञ्च तस्य पूजा महतो गणेशस्याश्रयप्राप्तेरेव, अन्यथाऽन्योऽपि तादृग्नीचस्तिर्यग्योनिः किं न पूज्यते ? अतो महतामाश्रयणान्नीचपूजा संभाविताऽस्ति। अतो मयापि दुर्जनः स्तूयते इति न तत्र विप्रतिपत्तव्यम्। अत्र गणेशाश्रयतो मूषकपूजनरूपेणार्थेन साधर्म्यात् सामान्यः महीयस्सामीप्यान्नीचपूजनरूपः अर्थः समर्थ्यत इति विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तल्लक्षणं यथा–"सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि, कार्यञ्च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।" 'साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासः स इष्यते।" इति ॥२२॥

अथ दुर्जनस्तुतिमेव प्रकारान्तरेणापि समर्थयति-जडोऽपीति–

जडोऽपि निर्व्याजमहत्त्वभाजनं, जनः क्षणादेव गरिष्ठसंश्रयात्।
निधीयते मूर्धसु कैर्न वा जलं, सुरापगाया अपि कश्मलाविलम् ॥२३॥

व्याख्या—**जडोऽपि**–मूर्खोऽपि, अपिना धीमानपि **जनः**। अतिशयेन गुरुरिति **गरिष्ठः**–महत्तमस्तस्य। **संश्रयात्**–संसेवनात्, गुरुतरजनसंसर्गात्। **क्षणादे**वाचिरमेव। **निर्व्याजं**–निष्कपटं निर्मलं। **महत्त्वभाजनं**–यन्महत्त्वं गौरवं तत्प्रयोज्यसम्मानादि, तस्य भाजनं पात्रं भवतीति शेषः। एतदेव समर्थयति, तथाहि—**सुरापगायाः**–सुराणां देवानामाऽऽपगा नदी गङ्गा "स्वर्गि-खापगा" इति हैमोक्तेः। तस्याः **जलं कश्मलाविलमपि**–कश्मलेन कुत्सितेन धूल्यादिनाऽऽविलमपि व्याप्तमपि कलुषितमपि। **मूर्धसु**–शिरस्सु। **कैः**–किं नामधेयैर्न **वा**–न हि। **निधीयते**–धार्यते ? अपि तु सर्वैरेव धार्यते। एवञ्च कश्मलस्य शिरसि धारणं गरिष्ठगङ्गाजलसंपर्कादेवेति सुष्ठूक्तं गरिष्ठसंश्रयाज्जडोऽपि निर्व्याजमहत्त्वभाजनमिति। अत्रापि पूर्वपद्यवदर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥२३॥

ननु सज्जन एव स्तोतव्यः, दुर्जनस्तु निन्दापात्रमेवेति सर्वजनसिद्धम्। एवञ्च दुर्जनं स्तोतुं तवायं प्रयासस्तुषकण्डनमेवेत्याशङ्क्य समाधत्ते—**न सज्जनस्येति**—

न सज्जनस्य स्तवनीयताविधौ, स्पृशत्ययं सज्जन एव योग्यताम्।
यतः स्वभावादपि तौ परस्परं, गुणान् ग्रहीतुं स्वत एव सोद्यमौ ॥२४॥

व्याख्या—**सज्जनस्य**–सतः परोपकारकरणादिसद्गुणविशिष्टस्य जनस्य। **स्तवनीयताविधौ**–स्तवनीयतायाः स्तुतेर्विधिः विधानं तत्र, स्तुतिकर्मणि। **अयम्**–अस्मिँल्लोके महामहिमशालित्वेन रूढः। **सज्जनः**–

सज्जनशब्दवाच्य एव केवलं। **योग्यतां**–पात्रत्वं। **न स्पृशति**–भजति, लोकप्रसिद्धः सज्जन एव सज्जनस्य स्तुतिं कर्त्तुं योग्य इति न, ननु लोकविरुद्धं त्वया कुत उच्यते, तत्राह। **यतः**–यस्माद् कारणाद्। **स्वभावादपि**–निसर्गत **एव तौ**–सज्जनौ स्तोतृस्तुत्यौ। **परस्परम्**–अन्योऽन्यं। **गुणान्**–प्रशंसाविषयधर्मान्। **ग्रहीतुं**–सञ्चेतुं। **स्वत**–आत्मना। **एव, सोद्यमौ**–सयत्नौ। एवञ्च तयोः परस्परप्रशंसनं सिद्धसाधनमेव न किमपि तदपूर्व–मिति भावः। यद्वा पूर्वार्धे एवकारो भिन्नक्रमः, तथा च सज्जनः सज्जनस्यैव स्तवनीयताविधौ योग्यतां स्पृशतीति न, सज्जनेन सज्जन एव स्तोतव्य इति न नियमः। यतः तयोः स्वत एव परस्परं गुणग्रहणप्रवणत्वात्, परस्परं प्रशंसनं स्वेन स्वस्य प्रशंसनमिव निष्फलमेव, अतः सति संभवे दुर्जनोऽपि स्तोतव्य एवेति गूढ़ार्थः ॥२४॥

ननु भवतु दुर्जनोऽपि प्रशस्यः, किन्तु प्रशंसा गुणस्यैव भवति, न च दुर्जने कोऽपि गुणः, तथा च किं स्तूयताम् ? इत्याशङ्क्य हेतुप्रदर्शनपुरस्सरं तस्य प्रशस्यत्वं व्यवस्थापयति—**तत** इति—

ततः प्रशस्यः परमत्र दुर्जनः, परोपकारप्रवणः स्वभावतः।
ग्रहात् समादाय निबद्धदूषणं, समुज्ज्वलं यः कुरुतेतरां परम् ॥२५॥

व्याख्या—**ततः**– उक्तहेतोः। **स्वभावतः**–निसर्गादेव। **परोपकारप्रवणः**–परोपकारपरायणः। एतेन स्तोतव्यत्वे हेतुरुक्तः, स्तोतव्यत्वे हि बीजं परोपकारप्रवणत्वम्, तच्च सज्जने दुर्जने चोभयत्र समानमिति। **अत्र**–द्वयोर्मध्ये। **दुर्जनः**–खलः। **परम**त्यन्तं। **प्रशस्यः**–स्तोतव्यः। परोपकारमेव विवृणोति। **यः**–खलः,'निर्ब-न्धोपरागार्कादयो ग्रहाः' इत्यमरः। तत्र निर्बन्ध आग्रहविशेषः इत्युक्तेः। **ग्रहात्**–आग्रहविशेषाद्। **निबद्धं**–संसक्तं **दूषणं**–दोषं। **समादाय**–नीत्वा, दुर्जनो हि परदोषमेव प्रकटयति, अथवा निबद्धदूषणं दोषिणमेव स्वलक्ष्यी–करोति,तथा च यस्य पुंसः यस्य यस्य दोषस्य प्राकट्यं दुर्जनेन क्रियते स तं तं दोषं परित्यजति, यद्वा दोषिणो ग्रहणे तदपेक्षयाऽन्यः निर्दोष एव परिशेषाद्भवति। एवञ्चोभयथाऽपि दुर्जनः। **परमन्यं**। **समुज्ज्वलं**–निर्मलं निर्दोषम्। **कुरुतेतराम्**–विधत्तेतराम्। एवञ्च दुर्जन एवातिशयेन प्रशस्यः, सज्जनस्तु गुणान् स्तौति, न तु दूषणान् प्रकटयति। एवञ्च स प्रकारान्तरेण दोषावरणद्वारा दोषिणः प्रोत्साहक एवेति स नात्यन्तं प्रशस्यः, इति भावः। यद्वा यश्चाण्डालादिदुर्जनः "उपरागो ग्रहः" इत्यमरोक्तेः ग्रहाद् उपरागाद् चन्द्रस्य सूर्यस्य वा राहुणा ग्रासात् निबद्धं संसक्तं दोषं समादाय नीत्वा उच्चैस्स्वरेणोद्घोष्य स्नानादिद्वारा परमन्यं समुज्ज्वलं पवित्रं करोति। एवञ्च दुर्जनः परोपकारकरणप्रवणत्वाद् दुर्जनः प्रशस्य एवेति भावः ॥२५॥

ननु दुर्जनः परदोषप्रकाशक एव, ननु परगुणग्राहक इति स निन्द्य एव, सज्जनस्तु परगुणग्राहक इति स प्रशस्यः, इत्याशङ्क्याह **गुणानिति** —

गुणानगृह्णन् यदि निन्द्यते खलः, कथं न मातापितरौ तथास्थितौ।
अथापरस्येति विशेषणादिदं, न वाच्यमालिङ्गति तर्हि तुल्यता ॥२६॥

व्याख्या—**खलः**–दुर्जनः। यदि–चेत्। **गुणान्**–सद्धर्मान्। **अगृह्णन्**–अस्वीकुर्वन्। **निन्द्यते**–विगीयते। **तर्हि तथास्थितौ**–गुणान् अगृह्णन्तौ, माता च पिता च इति **मातापितरौ कथं** कस्मान्न, निन्द्येते इति शेषः। अयं भावः–कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते इति नियमात् मातापितृगुणः पुत्रे प्रवर्त्तते नतु पुत्रगुणः मातापित्रोः, एवञ्च मातापित्रोरपि गुणाग्राहकत्वात् निन्द्यत्वं प्रसज्यते इति भावः। तस्मान्न गुणाग्रहणमात्रेण कोऽपि निन्द्यः। अथेति पक्षान्तरे। **अपरस्य इति विशेषणात्**–विशेषणदानात्, इत्यपि न। मातापित्रौ हि पुत्रापेक्षया अन्यस्य गुणग्राहकौ इति तौ न निन्द्यौ, दुर्जनस्तु न कस्यापि गुणग्राहक इति स निन्द्य इत्युत्तराशयः। तदपि न सम्यक्। तदाह **तर्हि**–तथा सति अपरस्य इति विशेषणदाने सति। **तुल्यता**–ऐक्यं **इदं वाच्यं**–खलशब्दवाच्यम्। **नालिङ्गति**–न स्पृशति। अयं भावः—सामान्यतोऽपरस्येति विशेषणदाने पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यम्, पुत्रस्यापि अन्यत्वात्, पुत्रापेक्षयाऽन्यस्येत्युक्तौ च खलशब्दस्य नानार्थत्वापत्तिः। यतः यस्य यस्य यो गुणान् न गृह्णाति तत्तदपेक्षया तस्य खलत्वापत्तिः सज्जनस्यापि, एवञ्च यस्य यस्य गुणाग्रहणं तत्तदन्यत्वं निवेशनीयम्, न च तेषां केनचिदेकेन रूपेणानुगमः शक्यः कर्त्तुं, यत्तद्घटितस्य च निर्वचनस्याननुगतत्वमेव। एवञ्च खलशब्दस्याननुगतार्थत्वेन नानार्थत्वात् सज्जनेऽपि कदाचित्खलत्वसंभवः, इति सर्वस्यैव निन्द्यत्वापत्तिः ? नहि कोऽप्येकस्तादृशः पुमान् यः सर्वस्य गुणान् गृह्णाति। ततश्च निन्दाप्रशंसयोर्न काऽपि मर्यादा निश्चिता भवति, इति सज्जनवद् दुर्जनस्यापि प्रशंसने बाधकाभाव इति ॥२६॥

ननु सज्जनः स्वयं मलिनो भवति नान्यं मलिनयति। किञ्च स स्वक्षयेऽपि परं पुष्णाति, इति विशिष्टगुणवत्तया स एव स्तोतव्यः, नतु दुर्जनः, स त्वन्यमेव मलिनयति, स्वञ्च पुष्णाति इति चेत्तत्राह—**विमुच्येति**—

विमुच्य यः स्नेहमवञ्चनास्थितं, दधाति मूर्त्तिं सहसा मलाविलाम्।
निजक्षये पोषणमाचरन् गवां, खलः कथङ्कारमयं न वर्ण्यताम् ॥२७॥

व्याख्या—**यः**–खलः दुर्जनः कणमर्दनस्थानं तिलकल्कश्च 'दुर्जनः खलः' इत्यमरः। 'खलधानं पुनः खलं' इति हैमः। 'पिण्याकखलौ' समौ, इति हैमः। न वञ्चना **अवञ्चना** तया **स्थितं** निष्कपटमिति यावत्। वञ्चनं तु प्रतारणं इति हैमः। पक्षे अपां जलानां अञ्चना क्षेपस्तया कृत्वा स्वस्मिन् स्थितमवञ्चनास्थितम्। तथा अपां गोमयमिश्रितजलानां अञ्चना लेपना तया स्थितम्। **स्नेहं**–प्रेम, तैलं, स्निग्धतां च "तैलं स्नेहः" इति "स्नेहः प्रीतिः प्रेमहार्दे" इति च हैमः। **विमुच्य**–परित्यज्य, तथा अप्सु जलेषु अञ्चना क्षेपस्तया स्थितमुपरितरन्तम् स्नेहं विमुच्य। **सहसा**–झटित्येव। **मलाविलां**–मलेन मालिन्येन श्यामलिम्ना कज्जलेन च आविलामनच्छां। **मूर्तिं**–स्वरूपं। **दधाति** 'अनच्छं स्यादाविलं कलुषञ्च तदि' ति हैमः। तथा **निजक्षये**–स्वनाशेऽपि। **गवां**–वाचां वृषभानां सौरभेयीनां प्रभाणां च "गौर्गीर्वाणी भाषेति" हैमः, 'गौर्बलिवर्दश्चेति', 'गौः सौरभेयी माहेयी' इति च हैमः।

'अंशुगो ज्योतिरर्चिः' इति हैमः। **पोषणं**–पुष्टिमाचरन्–कुर्वन्नयं **खलः**–दुर्जनः कणमर्दनस्थानं तिलकल्कश्च **कथङ्कारं**। **कथं न वर्ण्यताम्**–स्तूयताम्, अपि तु स्तूयतामेव। अयं भावः—खलः न निष्कपटं प्रेम करोति, सर्वदा मलिनस्वरूपेण तिष्ठति। तथा तस्य मरणे जनाः तद्विषये अनेकप्रकारां निन्दात्मिकां चर्चां कुर्वन्ति। एवञ्च स्वयं मलिनो भवति न तु स्नेहं मलिनयति, इति शब्दच्छलादायाति, तथा स्वक्षयेऽपि अन्यस्य पोषणमादधाति इत्यपि सिद्धम्। इति स सज्जनधर्मत्वात् स्तुत्यः। अत्र च शब्दशक्तिमूलो मालोपमाध्वनिः। तथाहि कणमर्दनस्थानं गोमयमिश्रितजललेपनोद्भुतां स्निग्धतां परित्यज्य गोमयसंसर्गेण मलिनं जायते। कणमर्दनात् पूर्वं हि जनास्तत्स्थानं गोमयमिश्रितजलेन लिम्पन्तीति लोकसिद्धम्। तथा तैलिकाः तिलान् यन्त्रे निधाय ततस्तैलनिस्सारणार्थं तत्र जलक्षेपं कुर्वन्ति, तेन तैलं तिलान्निर्गत्य यन्त्रच्छिद्रेण बहिः पात्रे पतति, तिलकल्कश्च श्यामल एव भवति, तद्भक्षणेन गावश्च बलिवर्दाश्च पुष्टा भवन्ति, तथा कणमर्दनानन्तरम् तत्र प्रयोजिता वृषभास्सस्यं भक्षयित्वा पुष्टा भवन्ति, इति उभयत्रैव गवां पोषणं लोकप्रसिद्धम्। एवञ्च खल इव खल इव खल इति मालोपमा ध्वन्यते। प्रकरणेनैकस्यैवार्थस्य वाच्यत्वाद् अन्यस्य व्यङ्ग्यत्वात्। मालोपमा लक्षणन्तु—"मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते" इति। अत्रैकस्यैव खलस्यानेकमुपमानं ध्वन्यते। तथा अत्र समानविशेषणमहिम्ना खले दीपवर्तिव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः। तथाहि पात्रे जलं निधाय तत्र तैलं क्षिप्यते–तत्र च वर्तिस्तिष्ठति, सा च अबञ्चनार्थितं तैलं न मलिनयति, स्वयमेव दीपशिखया दहन्ती कज्जलाविला भवति, तेजसा च स्वक्षये गवां किरणानां दीपप्रभाणां पोषणं करोति, न हि वर्तिदाहं विना दीपेन प्रकाशः शक्यो भवितुम्। एवञ्च स्पष्टमेव समानविशेषणेन दीपवर्तिव्यवहारसमारोपः खले इति।

एष च श्लोकः व्याजस्तुतिपर्यवसाय्यपि, तथाहि—खलः कपटस्नेही, मलिनः, मरणानन्तरं लोकनिन्दाविषयश्चेत्यर्थो लभ्यते गूढः। सामान्यतस्तु–स्नेहं परित्यज्यापि स्वयमेव मलिनो भवति, मृतेरनन्तरमपि वाणीपोषक इति स्तुतिरूपोऽर्थो लभ्यते। एवं पूर्वद्वयश्लोकेऽपि व्याजस्तुतिरित्यनुसम्बन्धेयम् ॥२७॥

अथ पुनरपि दुर्जनस्य व्याजस्तुतिमेवाचरति–न चेति—

न च क्षमायामपि मूलमुन्नतं, यदीयमिष्टं सुमनःफलं न सा।
प्रवर्धमाना खलता निरर्गलं, सचेतसः कस्य न विस्मयावहा ॥२८॥

व्याख्या—**यदीयं**–यत्सम्बन्धि यस्या इत्यर्थः। **मूलम्**–आशयः बुध्नश्च "मूलं बुध्न" इत्यमरः। **क्षमायां**–क्षान्त्यां सहिष्णुतायाम् पृथिव्याञ्च "क्षितिक्षान्त्योः क्षमा" इत्यमरः। **उन्नतमुच्चैर्नापि** या न क्षमावती, न च पृथिव्यां प्ररूढा इत्यर्थः, तथा यदीयं **सुमनसः**–शोभनस्य मनसः **फलम्**। सर्पस्येव दुर्जनस्य सुमनोऽपि वस्तुगत्या दुर्मन एवेति विपरीतलक्षणायां दुर्मनसः फलम् दुर्मनसो यत्फलम् परपीडनादि, तथा सुमनसः कुसुमानि च फलानि च एषां समाहारः इत्येवं द्वन्द्वे सति एकवद्भावः "स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्" इत्यमरः। **न इष्टम्**–न प्रियं, न प्राप्यञ्च। **सा निरर्गलमर्गलया**–प्रतिबन्धेन रहितं यथा

स्यात्तथा । **प्रवर्धमाना**–उल्लसन्ती । **खलता**–खलस्य भावः, खस्य आकाशस्य लता वल्लरी च । **कस्य**–किं नामधेयस्य । **सचेतसः**–सहृदयस्य । **विस्मयावहा**–विस्मयस्याश्चर्यस्य आवहा प्रदात्री । **न**–अपि तु सर्वस्यैव विस्मयावहेत्यर्थः । अत्र खलता खलता इवेति शब्दशक्तिमूलोपमा ध्वनिः । अत्रापि व्याजस्तुतिः, उक्तार्थस्य क्षमारहितः दुर्मना दुर्व्यापारः उच्छृङ्खलश्च खल इत्यर्थे पर्यवसानात् । व्याजस्तुतिलक्षणन्तु—"निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः", उक्ता व्याजस्तुतिः, इति ॥२८॥

अथ पुनरपि दुर्जनस्य व्याजस्तुतिमेव करोति—**यथास्थितमिति**—

यथास्थितं दोषमुदीरयन्नयं, न साधुभावं भजतां कथं खलः ?
यथार्थवादेन वदन्ति साधुतां, विधूतमात्सर्यभरा हि धीधनाः ॥२९॥

व्याख्या—**अयं**–वर्ण्यत्वेन प्रस्तुतः । **खलः**–दुर्जनः, स्थितमनतिक्रम्य । **यथास्थितं**–वास्तविकम्, अस्थितमितिच्छेदेन चावास्तविकम्, अलीकमित्यर्थः । **दोषं**–दौर्गुण्यमुदीरयन्–कथयन् । **साधुभावं**–साधोः सज्जनस्य भावः, साधुतां । **कथं**–केन प्रकारेण । **न भजताम्**–अपि तु भजतामेव । ननु कस्माद्धेतोरेत-दुच्यते तत्राह—**हि**–यतः । **विधूतमात्सर्यभरा**–विधूतः दूरीकृतः मात्सर्यस्य परोत्कर्षाऽसहिष्णुत्वस्य भरोऽतिशयः यैस्ते तादृशा निर्मत्सराः । **धीधनं**–येषां ते तादृशा बुद्धिमन्तः, **यथार्थवादेन**–अर्थमनतिक्रम्य वर्त्तत इति यथार्थं सत्यं तस्य वादेन कथनेन । **साधुतां**–सज्जनतां । **वदन्ति**–कथयन्ति । सज्जनतायां यथार्थवादो हेतुः, स चात्राऽप्यस्त्येवेति स साधुरेवेत्यर्थः । यद्वा नशब्देन समासे न साधुभावमसाधुतां कथं भजतामित्यर्थः । साधुर्हि यथास्थितवक्ता, अयञ्च तथेति न दुर्जनः असाधुरित्यर्थः । एतदर्थः स्तुतिपर्यवसायी । निन्दा तु यथास्थितमित्यत्राकारप्रश्लेषेण । तथाहि वास्तवस्य चावास्तवस्य च दोषस्य वक्ता असाधुरेव । साधुस्तु वास्तवदोषमात्रवक्ता यथास्थितगुणमात्रवक्ता वेति ॥२९॥

एवं सज्जनान् दुर्जनाँश्च प्रशस्य तौ अत्र गुणग्रहणावेव यथा स्यातां तथा तयोः प्रसादमाशास्ते ग्रन्थ-कारः—**ममापीति**—

ममापि शान्तेश्चरितं मनोहरं, प्रकुर्वतः षोडशधर्मचक्रिणः ।
प्रपञ्चतः पञ्चमचक्रवर्त्तिनः, प्रसीदतां सज्जनदुर्जनाविमौ ॥३०॥

व्याख्या—**षोडशधर्मचक्रिणः**—धर्मचक्रं-धर्म एव चक्रं धर्मचक्रं, यथा चक्रिचक्रमरिसमूहच्छेदकं तथाष्टकर्मारिच्छेदकं तदित्यर्थः । तद् यस्यास्तीति धर्मचक्री । यद्वा धर्मस्य चक्री चक्रवर्ती धर्मचक्री । षोडशश्चासौ धर्मचक्रीच षोडशधर्मचक्री तस्य षोडशतीर्थङ्करस्य । पञ्चमश्चासौ चक्रवर्ती चेति **पञ्चमचक्रवर्ती** । तस्य **शान्तेः**–

श्रीशान्तिनाथजिनेश्वरस्य । **मनोहरं**–मनसश्चेतसोहरम्, मनोऽनुरागजनकम् । **चरितम्**–चरित्रम् । **प्रपञ्चतः**–विस्तारतः साङ्गोपाङ्गमित्यर्थः । **प्रकुर्वतः**–निबध्नतः । **इमौ**–सद्य एव वर्णितौ सज्जनश्च दुर्जनश्च तौ । **ममाऽपि प्रसीदताम्**–तुष्यताम्, गुणग्रहणेनेति शेषः । सज्जनास्तु स्वभावतः दुर्जनाश्च प्रार्थनया प्रसह्य गुणमेव गृह्णन्त्वित्यर्थः ॥३०॥

अथेदानीं स्वगौरवं परिहरति—**मनसीति**—

मनस्यवस्थाप्यमहो मनीषिभिः, क्वचित् प्रकाश्यं न रहस्यमादरात् ।
प्रकाश्यते यन्मयका कथञ्चन, प्रभोः प्रभावः स तु तस्य केवलम् ॥३१॥

व्याख्या—**मनीषिभिः**–प्राज्ञैः। "ज्ञाः प्राज्ञपण्डित मनीषीति" हैमः । **रहस्यं**–मन्त्रादिगोप्यं मर्म "गुह्ये रहस्यम्" इति हैमः । **आदरात्**–आदरपूर्वकम् । **मनसि**–चेतस्येवावस्थाप्यं–धर्त्तव्यम् । **क्वचित्**–कुत्रापि कदापि वा । **न प्रकाश्यम्**–मयैतच्चरित्रं कृतमिति न प्रकाशनीयम् । नन्वेवं तर्ह्यनेन ग्रन्थकृतैतच्चरित्रं कथं प्रकटितमित्याशङ्कायां तन्निवृत्त्यर्थमाह । **कथञ्चन**–देवगुरुप्रसादादिना । **मयका**–मया । **यत्प्रकाश्यते**–प्रकटीक्रियते । **स तु**–प्रकाशस्तु । **तस्य**–चरित्रनायकस्य **प्रभोः** । **केवलमहो**–जगदाश्चर्यकरः । **प्रभावोऽनु**–भावः । श्रीशान्तिप्रभोर्जगदाश्चर्यकरप्रभावादेवैतत्साध्यम्, न तु मम तत्र प्रयासस्य सामर्थ्यम्, तेन च न मम रहस्यभङ्गो दोषाय, एतादृशरहस्यप्रकटने तत्प्रभावस्यैव प्रयोजकत्वादिति भावः । एतेन च स्वगौरवमपि परिहृतम् । सतोऽपि स्वसामर्थ्यस्यागणनेन तत्प्रभावस्यैव प्रयोजकत्वोपगमाद् ॥३१॥

नन्वेवमार्जवेन तव स्वगौरवपरिहारेऽपि कदाचित्तव वचनीयत्वमपि संभाव्यते तदिष्टापत्त्या परिहरति—**स कोऽपीति**—

स कोऽपि नैवास्ति गुणाद्भुतः क्वचित्, यकोऽपि विश्वस्य भवेत् प्रियङ्करः ।
सुधाकरोऽप्यभ्युदितः प्रमोदयेत् चकोरचक्रं न च चक्रमण्डलम् ॥३२॥

व्याख्या—**क्वचिदपि**–कुत्रापि । **स कः**–सः तादृशः । **गुणाद्भुतः**–गुणैः कृत्वा अद्भुतः अभूतपूर्वः गुणैराश्चर्यकरो वा "अद्भुतं चोद्याश्चर्ये" इति हैमः । **नैव अस्ति, यकः**–यः । **विश्वस्यापि**–सर्वस्यापि प्रियङ्करोऽस्तीति **प्रियङ्करः**–प्रियकर्ता । **भवेत्**–स्यात् । एवञ्च केषाञ्चन कृते वचनीयत्वं स्वस्य न दोषाय, एतादृशस्य दोषस्य सर्वसाधारणत्वादिति भावः । ननु कुत एतत्त्वयोच्यते, तत्राह । **सुधाकरोऽपि**–सुधायाः आकरः खनिः अथवा सुधा अमृतमेव करो किरणो यस्य सः सुधानिधिरमृतांशुर्वा, एतेन तस्य सर्वप्रियत्वे बीजमुक्तम्, अमृतस्य सर्वाभिलाषविषयत्वात् । **अभ्युदितः**–उदितः सन् । **चकोरचक्रं**–चकोराणां

ज्योत्स्नाप्रियाणां पक्षिविशेषाणां चक्रं समूहं । **प्रमोदयेत्**–प्रहर्षयेत् । चकोराणां चन्द्रिकापानस्य कविसमयसिद्धत्वादिति भावः । **चक्रमण्डलं**–चक्राणां चक्रवाकानां मण्डलं समूहं । **न च**–न हि प्रमोदयेत्,रात्रौ हि चक्रवाकमिथुनानां भिन्नताश्रयणं कविसमयसिद्धम् । एवञ्च विरहहेतुत्वाच्चन्द्रो न तेषां मोदायेति भावः । अत्र विशेषेण चन्द्रस्य चकोरप्रियत्व—चक्रवाकाप्रियत्वरूपवचनेन जनसामान्ये सर्वप्रियङ्करत्वाभावस्य समर्थनात् सामान्यस्य विशेषेण समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासो नामालङ्कारः ॥३२॥

नन्वेवमिष्टापत्त्या किमर्थमयं तवारम्भस्तत्राह—**भवन्तीति**—

भवन्ति पापानि नृणां न साम्प्रतं, चिरन्तनानि प्रलयं व्रजन्त्यपि ।
पराणि विन्दन्त्युदयं न भावतश्चरित्रमात्रश्रवणादिहार्हताम् ॥३३॥

व्याख्या—**भावतः**--भावनापूर्वकं श्रद्धाविश्वासाभ्यां मनः समाधायेत्यर्थः । **अर्हताम्**--जिनेन्द्राणां । **चरित्रमात्रश्रवणात्**–चरित्रमेव चरित्रमात्रम्, नत्वन्यत् तत्रापेक्ष्यते इति भावः । एतेन चरित्रनायकस्य महामहिमशालित्वं व्यज्यते । तस्य श्रवणादाकर्णनात् लक्षणया श्रवणप्रयोजकपाठाद्यपि गृह्यते । **इह**--अस्मिन् लोके । **नृणां**–नराणाम् । **साम्प्रतम्**--वर्तमानकाले । **पापानि**--दुरितानि । **न भवन्ति**,–अभिनवपापकर्मबन्धनानि न भवन्ति, तेन तन्निरोधात्, एकान्तकर्मनिर्जराकारणत्वात् । तथा **चिरन्तनानि**–चिरतरपूर्वकालोत्पन्नानि, पूर्वजन्मशतसहस्रोपार्जितानि पापानि । **प्रलयं**–विलयम् । **व्रजन्त्यपि**–गच्छन्त्यपि अपेरेवकारार्थत्वात्, भोगावस्थामप्राप्यैव क्षीयन्ते इति भावः । तथा **पराणि**--उक्तादन्यानि भविष्यदशुभकर्माणि । **न**–नैव उदयमुत्पत्तिं । **विन्दन्ति**--श्रवणप्रभावात् सज्ज्ञानोत्पत्तेः सत्प्रवृत्तिभावात्तदुत्पत्तेः प्रसराऽभावादिति भावः । एवञ्च त्रैकालिकदुरितनाशकमर्हच्चरित्रश्रवणमित्यर्थः । एवञ्चैतादृशलोकविलक्षणफलजनकतया परमपुरुषार्थोपायभूतचरित्रकथने ममेष्टापत्तिर्गुणायैवेति भावः ॥३३॥

एवञ्चार्हत्सामान्यचरित्रश्रवणस्य तादृशफलवत्त्वे तद्विशेषेऽपि तत्त्वमिति कृत्वा ममायं प्रयास इत्याह—**अत** इति —

अतो मयाऽपि प्रयतेन कीर्त्यते, जिनेशशान्तेश्चरितं यथामति ।
जडत्वजम्बालनिरासनामृतं, कुकर्महालाहलनाशनामृतम् ॥३४॥

व्याख्या—**अतः**–अर्हच्चरित्रश्रवणस्य परमपुरुषार्थसाधनत्वात् । **प्रयतेन**–सावधानेन सप्रयासेन च । **मयाऽपि, कुकर्महालाहलनाशनामृतम्**–कुकर्म एव हालाहलं विषविशेषः तस्य नाशने अमृतममृततुल्यम् "पीयूषममृतं सुधे" त्यमरः । यथाहि अमृतपाने सति विषं निर्मूलं भवतीति न विषबाधा तथाऽत्रापि इत्यर्थः । एवञ्च **जडत्वजम्बालनिरासनाऽमृतम्**–ज्ञानावरणीयानां कर्मणामुदयाद् यज्जडत्वं मूर्खता तदेव जम्बालः

पङ्कः 'मूढो मन्दो यथाजातो बालो मातृमुखो जड' इति 'जम्बाले चिकिलः पङ्क' इत्युभयत्रापि हैमः। तस्य निरासने दूरीकरणे अमृतं जलमिव "पयः कीलालममृतमि" त्यमरः। यथाहि पादादिसंलग्नः पङ्कः जलेन दूरीभवति तथा। तच्चरित्रश्रवणेनेत्यर्थः। **जिनेशशान्तेः**-जिनेशश्चासौ शान्तिश्च स तस्य श्रीशान्तिनाथजिनेश्वरस्य **चरितं**-चरित्रं। **यथामति**-मतिमनतिवृत्त्य, स्वबुद्धयनुसारेण। **कीर्त्यते**-ख्याप्यते कथ्यते वा, एवञ्च लोकोपकृतिरेवात्र मुख्यं प्रयोजनम्, न तु स्वयश इति सूचितम्। अत्र चरित्रस्य तादृशेनामृतेन रूपणादेव कुकर्मणो हालाहलत्वेन जडत्वस्य च जम्बालत्वेन रूपणमिति परम्परितरूपकाऽलङ्कारः ॥३४॥

अथ कथां प्रस्तुवन् जम्बूद्वीपं युग्मेन वर्णयति—**तथाहीति**—

तथाहि जम्बूपपदं विशालतां, दधानमारामवदुन्नताचलम्।
समस्ति सद्द्वीपमनूनवृत्तता, – समाश्रयं मानसवन्मनस्विनाम् ॥३५॥

जिनेन्द्रवद्योजनलक्षमानतां, दधत् क्षमाभृद्भिरितस्ततः श्रितम्।
समृद्धवर्षानुगतं पयोदवत्, समुद्रवद् द्वीपवतीभिरञ्चितम् ॥३६॥

व्याख्या—**तथाहीति** कथाप्रस्तावे। **आरामवद्**–आराम उपवनम् "आरामः स्यादुपवनं, कृत्रिमं वनमेव यत्" इत्यमरः। तद्वत् **उन्नता**–अत्युच्चा। **अचलाः**–पर्वताः "उच्चप्रांशून्नतोदग्रे"ति, "अचलशैलशिलोच्चयाः", इति चामरः। पक्षे वृक्षाश्च यत्र तत् अत्युन्नतगिरितरुवरादियुक्तमियर्थः। **मनस्विनां**–प्रशस्तमनसां। **मानसवद्**-मानसं चेतः तद्वत्। **अनूना**–महती या **वृत्तता**-वर्तुलाकारता तस्याः, पक्षे अनूना अखण्डा वृत्तता चारित्राचारता 'वर्तुलं तु वृत्त' मिति। 'चारित्रचरित्रे अपि, वृत्तं शीलं चे' ति हैमः। तस्याः **समाश्रयं**–सम्यक् प्रकारेणाश्रयः आश्रयणं यत्र तत्तादृशं, वर्तुलाकारं गोलाकारं वा। **योजनलक्षमानतां**-योजनानां लक्षं लक्षसंख्या तद्युक्तं मानं परिमाणं तस्य भावस्तत्ता तां योजनलक्षपरिमाणं, पक्षे योजनानि योगास्तेषां लक्षमानं लक्षणयाऽसङ्ख्यप्रमाणं योजनलक्षमानं, तदेव योजनलक्षमानता, तां दधदिव **दधत्** **क्षमाभृद्भिः**–क्षमां पृथ्वीं क्षान्तिं च, 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमे' त्यमरः। बिभ्रतीति—क्षमाभृतः पर्वताः मुनयश्च तैः। **इतस्ततः**–समन्तात्। **जिनेन्द्रवत्**–जिनेश्वरवत्। **श्रितम्**–वेष्टितम्। **पयोदवत्**–पयोदो मेघस्तद्वत्। **समृद्धवर्षानुगतम्**–समृद्धं सश्रीकं प्रचुरतरञ्च यद्वर्षं, भरतादिसप्तक्षेत्रम् वृष्टिश्च, 'स्याद् वृष्टौ लोकधात्वंशे वत्सरे वर्षमस्त्रिया' मित्यमरः। 'वृष्टिर्वर्षं' मिति चामरः। तेन अनुगतमन्वितम्। जम्बूद्वीपे सप्तवर्षाणि इति शास्त्रम्। तथा **समुद्रवद्वीपवतीभिरञ्चितम्**–समुद्रो जलधिस्तद्वत्, द्वीपवतीभिः नदीभिः। 'द्वीपवती, स्रवन्ती निम्नगाऽऽपगे' त्यमरः। अञ्चितम् युक्तम्। **विशालतां**–पृथुतां। **दधानं**-दधत्। **जम्बूपपदं**–जम्बूः जम्बूशब्द उपपदं यस्य तत्। **सद्द्वीपं**–समीचीनं द्वीपं जम्बूद्वीपमित्यर्थः। **समस्ति**–वर्तते, प्राकृतिकशोभासम्पन्नं

जम्बूद्वीपमिति भावः । अत्रोपमाऽलङ्कारः, स चाऽचलानूनवृत्ततार्षवाक्षमाभृशब्दश्लेषानुप्राणितेति तयोः सङ्करः ॥३५॥३६॥

अथ भरतक्षेत्रं वर्णयति—तदन्त इति—

तदन्तरस्यर्धशशाङ्कसन्निभं, सदादिमं क्षेत्रमकृत्रिमाकृति ।
अभिख्यया तद्भरतं प्रथामगादभिख्ययेव प्रथमस्य चक्रिणः ॥३७॥

व्याख्या—**तदन्तः**—तस्य जम्बूद्वीपस्य, अन्तर्मध्ये । **आदिमम्**-प्रथमम्, सप्तक्षेत्रेषु तदेवादिममिति शास्त्रम् । क्रियया निर्वृत्ता कृत्रिमा, न कृत्रिमा **अकृत्रिमा**—प्राकृतिकी शाश्वतिकी । **आकृतिः**-स्वरूपं यस्य तत् प्रकृतिसिद्धस्वरूपम् । तथा **अर्धशशाङ्कसन्निभम्**—शशाङ्कस्य चन्द्रस्यार्धमर्धशशाङ्कः तत्सन्निभमर्धचन्द्राकारम् । **सत्**—श्रेष्ठं प्रशस्तं । **क्षेत्रम् अस्ति तत्**—क्षेत्रम् । **प्रथमस्य**—आदिमस्य । **चक्रिणः**—चक्रवर्त्तिनृपस्य भरतस्य । **अभिख्यया**—नाम्ना । **इव अभिख्ययाऽभिधेयेन** । **भरतं**—भरतमिति । **प्रथाम्**—प्रसिद्धिमगात्—प्रापत् । अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिरलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—"मिथोऽनपेक्षयैव तेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते" इति । अत्र चार्धशशाङ्कसन्निभेत्युपमायाः अभिख्ययेवेत्युत्प्रेक्षायाश्च न कापि परस्परमपेक्षेति स्पष्टमेव ॥३७॥

अथ स्वाभीष्टपुरं विवर्णयिषुः प्रथमं भरतक्षेत्रस्य भागद्वयं प्रदर्शयति—प्रभाढ्येति—

प्रभाढ्यवैताढ्यमहीभृता द्विधा, कृतं च पूर्वापरसिन्धुगामिनाः ।
जिनेन्द्रचैत्याश्रयणादिवोच्चतां, प्रबिभ्रता दक्षिणमुत्तरं च तत् ॥३८॥

व्याख्या—**पूर्वापरसिन्धुगामिना**पूर्वश्चापरश्चेति पूर्वापरौ,पूर्वभागपश्चिमभागस्थौ,तौ च तौ सिन्धू सागरौ च,तौ गन्तुं प्राप्तुं शीलमस्येति स तेन तथोक्तेन पूर्वापरदिग्वर्त्तिलवणसमुद्रस्पर्शिनेत्यर्थः । तावदायतत्वादिति भावः । एतेन द्विधाकरणे बीजमुक्तम् । **जिनेन्द्रचैत्याश्रयणात्**—जिनेन्द्राणां जिनेश्वराणां चैत्यानां प्रासादानामाश्रयणाद्धारणादिव **उच्चतामौन्नत्यं** । **प्रबिभ्रता**—धारयता । एतेन जिनेन्द्रचैत्यसेविनामवश्यमभ्युदय इति सूच्यते । **प्रभाढ्यवैताढ्यमहीभृता**—प्रभया कान्त्या आढ्यः पुष्टः स चासौ वैताढ्यनामा महीभृत् पर्वतः, तेन । **दक्षिणम्**—इदं दक्षिणभरतक्षेत्रम् । **उत्तरम्**—इदमुत्तरभरतक्षेत्रञ्चेत्येवम् । **द्विधाकृतं**—विभक्तं । **तद्**—भरतक्षेत्रमस्तीति शेषः । अत्र स्वयमुन्नतस्य वैताढ्यपर्वतस्य जिनेन्द्रचैत्याश्रयणादित्यौन्नत्ये सहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥३८॥

अथ स्वाभीष्टपुरं षोडशभिर्वर्णयति—दलेऽस्तीति—

दलेऽस्ति याम्ये किल तस्य विश्रुतं महीमहेलाऽऽस्यतमालपत्रकम् ।
त्रिविष्टपश्रीप्रतिबिम्बभावनाऽनुमापकं रत्नपुरं महापुरम् ॥३९॥

व्याख्या—**तस्य**–भरतक्षेत्रस्य । **किलेति** वाक्यालङ्कारे । **याम्ये दले**–दक्षिणे विभागे, दक्षिण-भरते । **मही**–पृथिव्येव । **महेला**–योषित् तस्या । **आस्यं**–मुखम् । तस्य **तमालपत्रकम्**–तिलकरूपम् । "तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्" इत्यमरः । तथा **त्रिविष्टपस्य** स्वर्गस्य या **श्रीः** संपत् तस्याः । **प्रतिबिम्बस्य** छायायाः या **भावना** विचारस्तस्यानुमापकम् अनुगमकम् । तत्रत्यसम्पदं दृष्ट्वा स्वर्गेऽप्येवमेव सा स्यादित्येवमनुमिन्वन्ति जना इति भावः । एतेन विच्छित्त्या रत्नपुरस्वर्गसम्पदोः साम्यमुक्तम् । **विश्रुतं**–प्रसिद्धम् । **महापुरं**–विशालनगरं । **रत्नपुरं**–नामाऽस्ति–वर्तते । अत्र रूपकोपमयोरेकाश्रये रत्नपुरेऽनुप्रवेशादेकाश्रयाऽनुप्रवेशरूपः सङ्करः ॥३९॥

अथ तत्रत्यानि सरांसि वर्णयति—**सरांसीति**—

सरांसि यस्मिन् समवेक्ष्य मन्वते, न मानसं हंससमाश्रयं जनाः ।
कदापि लौकायतिका इवायतं, प्रभूतशक्त्याऽभ्युपगम्य विग्रहम् ॥४०॥

व्याख्या—**यस्मिन्**–रत्नपुरे । **सरांसि**–कासारान् "कासारः सरसी सरः" इत्यमरः । **समवेक्ष्य**–विलोक्य । **जनाः**–लोकाः । **कदापि**–कदाचित् । **प्रभूतशक्त्या**–प्रभूतानां पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मकपञ्चभूतानां शक्त्या सामर्थ्येन । **आयतं**–नियन्त्रितं । **विग्रहं**–शरीरमभ्युपगम्य–स्वीकृत्य । **लोकायतिकाः**–श्चार्वाकाः । **इव मानसं**–तदाख्यसरोवरं, पक्षे "हृन्मानसं मनः" इत्यमरवचनाद् मनः । **हंसस्य** तदाख्यपक्षिविशेषस्य, पक्षे आत्मनः । **समाश्रयं**–नियतस्थानं । **न**–नैव । **मन्वते**–स्वीकुर्वन्ति । अयं भावः यथा-लौकायतिकाः पञ्चभूतशक्तिरेव चैतन्यम्, गुडतण्डुलादिभ्यो मिश्रितेभ्यो मदशक्तिवत्, पञ्चभूतेभ्यः एव मिलितेभ्यश्चैतन्यशक्तिरुत्पद्यते । नत्वात्मा कश्चिदतिरिक्तश्चेतनः मानसप्रत्यक्षविषयः, तथा जनाः रत्नपुरीयतडागं दृष्ट्वा स एव हंससमाश्रयः, न तु मानसाऽख्यः, कश्चित् सरोवरः हंससमाश्रयः इति मन्वते, प्रचुरतरहंससमाश्रितानि रत्नपुरसरांसि इति भावः । यथा हंससमाश्रयस्य मानसरोवरस्यातिरिक्तस्य सत्त्वम्, तथाऽऽत्मन इति भङ्ग्या सूचितम् । अत्रोपमाऽलङ्कारः श्लेषानुप्राणितः ॥४०॥

अथोपवनं वर्णयति—**सदेति**—

सदाफलानोकहराजिराजितान्युदस्तसन्तापभराणि दैशिकाः ।
विलोक्य यत्रोपवनानि नन्दनं, न चाद्रियन्ते धृतकल्पपादपम् ॥४१॥

व्याख्या—**यत्र**–पुरे । **दैशिकाः**–तद्देशोद्भवाः । **सदाफलानोकहराजिराजितानि**–सदाफलानि येषां ते च अमी "अनोकहा वृक्षाः" "अंहिपः शालाऽनोकहे"ति हैमः । सर्वकालफलयुक्तवृक्षाः तेषां राजयः

श्रेणयस्ताभिः । राजन्ते शोभन्ते इति । तानि तथोक्तानि, अत एव **उदस्तसन्तापभराणि**—उदस्तः दूरीकृतः जनानां सन्तापस्य तापस्य बुभुक्षादाहस्य वा भरोऽतिशयो यैः निविडच्छायादानद्वारा फलदानद्वारा च तानि तादृशानि । **उपवनानि**—कृत्रिमवनानि, "आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यद्" इत्यमरः । **विलोक्य**—समवेक्ष्य । **धृतकल्पपादपम्**-धृताः कल्पपादपाः सुरद्रुमा येन तं कल्पवृक्षयुक्तम् । **नन्दनं**—तदाख्य-देववनं । **न च**—नैव । **आद्रियन्ते**—सत्कुर्वन्ति, अभिलषन्ति वा । नन्दनापेक्षयाऽप्येतद्वनानामुत्कृष्टत्वमिति भावः । अत्र व्यतिरेकाऽलङ्कारः । तल्लक्षणन्तु—"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा" व्यतिरेकः । अत्र सन्तापहरत्वेनोपमेयस्याधिक्यम्, उपमानस्य तु तन्नेति न्यूनता ॥४१॥

अथ द्रुमान् वर्णयति—**न ते** इति—

न ते द्रुमा यत्र सुमानि येषु नो, सुमानि नो तानि फलानि येषु न ।
फलानि नो तानि न येषु सन् रसो, रसः स न न्यत्कुरुते मधूनि यः ॥४२॥

व्याख्या—**यत्र**—यस्मिन् उपवने । **ते**—तादृशाः । **द्रुमाः**—वृक्षाः । **न येषु**—द्रुमेषु । **सुमानि**—पुष्पाणि । **नो**—न । **तानि**—तादृशानि । **सुमानि नो**—न । **येषु**—सुमेषु । **फलानि न तानि**—तादृशानि । **फलानि नो येषु सन्**—श्रेष्ठः । **रसः**—निर्यासः । **न,स रसः न यः**—रसः । **मधूनि**—माक्षिकानि । **न न्यत्कुरुते**—तिरस्करोति । "मधु क्षौद्रं माक्षिकादि" इत्यमरः । मधुररसानि फलानि पुष्पसमृद्धयश्च तत्रत्यवृक्षेषु सन्तीत्यर्थः । अत्रैकावली-नामाऽलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—"पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परम्परम्, स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदै-कावली" इति । अत्रोत्तरोत्तरं विशेष्यानि सुमादीनि पूर्वं पूर्वं विशेषणत्वेनापोहितानि ॥४२॥

अथ तत्रत्यान् जनान् वर्णयति—**गृहे गृहे** इति—

गृहे गृहे यत्र महेश्वरा जनाः, शिवाश्रया भूतगणाधिनायकाः ।
न भीमरूपा न कदाऽपि शूलिनो, न ये पशुस्वामितया प्रकीर्तिताः ॥४३॥

व्याख्या—**यत्र**—यस्मिन् रत्नपुरे । **गृहे गृहे**—प्रतिगृहम् । **भूतगणाधिनायकाः**—भूतानां प्रेतानां गणाः प्रमथादयः, तेषामधिनायकाः स्वामिनः । "भूतेशः खण्डपरशुप्रमथाधिप" इत्यमरः । पक्षे भूतगणानां प्राणिसमूहानामधीश्वराः । **शिवाश्रयाः**—शिवायाः पार्वत्या आश्रयाः पत्नीरूपेण पार्वत्या आश्रयितारः, पक्षे शिवस्य कल्याणस्य आश्रयाः आधाराः कल्याणवन्त इत्यर्थः । महेश्वराः महान्तश्च ते ईश्वराश्चेति **महेश्वराः**—महादेवाः,हराः, "महापरादेवनटेश्वरा हरः" इति हैमः । पक्षे महान्तश्च ते ईश्वरा ऐश्वर्यवन्तः,धनिका इत्यर्थः । "इभ्य आढ्यो धनीश्वर" इति हैमः । **जनाः**—लोकाः सन्ति इति शेषः । **ये**—जनाः । **कदापि**—कदाचिदपि ।

भीमरूपाः—भयानकाः। न—नैव, शान्ताकारत्वात्। कदापीत्यस्याग्रेऽपि सम्बन्धः। शूलिनः—शूलाख्यास्त्रवन्तः। पक्षे शूलरोगवन्तः न। तथा ये, पशुस्वामितया—पशुपतित्वेन। प्रकीर्त्तिताः—ख्याता न। पशुपतयोऽपि तान् पशून् भाट्यर्थं न रक्षन्तीत्यर्थः। अत्र भूतगणाधिनायका अपि भीमरूपा नेत्यादिना विरोधः, पक्षान्तराश्रयणेन च तत्परिहारः। एवञ्चात्र विरोधालङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—"विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ" इति ॥४३॥

अथ पूर्ववर्णितं पुनः समुदितमेव वर्णयति—धनानीति—

धनानि यस्मिन् धनिनां महीयसां, पयांसि यस्मिन् सरसां प्रथीयसाम्।
फलानि यस्मिन् विपुलानि भूरुहां, परोपकाराय भवन्ति सन्ततम् ॥४४॥

व्याख्या—यस्मिन्—यत्र रत्नपुरे। महीयसामतिमहतां। धनिनां—धनिकानामिभ्यानां। धनानि, तथा यस्मिन् प्रथीयसामतिविस्तृतानां। सरसां—तडागानां। पयांसि-जलानि। तथा यस्मिन् भूरुहां—द्रुमाणां। विपुलानि—प्रचुराणि। फलानि सन्ततमनिशं। परोपकाराय—परहिताय। भवन्ति—सन्ति जायन्ते वा, न तु स्वार्थमात्रसाधनाय। तथा च वृक्षादिवत् धनिनोऽपि परोपकारायैव धनानि संगृह्णन्ति, इति भावः। अत्र वर्ण्यरत्नपुराङ्गतया वर्णनीयत्वेन प्रकृतानां धनि-सरो-भूरुहां परोपकाररूपैकधर्माभिसम्बन्धेन तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥४४॥

अथ महर्षीन् गजाँश्च वर्णयति—न पिण्डमिति—

न पिण्डमिच्छन्त्यपि चाटुकोटिभि,—र्न संसजन्ति स्ववशां वशां नये।
विशिष्टगुर्वङ्कुशशङ्कितान्तरा, महर्षयो यत्र मतङ्गजा इव ॥४५॥

व्याख्या—यत्र—यस्मिन् रत्नपुरे। विशिष्टगुर्वङ्कुशशङ्कितान्तराः-विशिष्टो विलक्षणो यो गुरुः उपदेष्टा अमोघोपदेशको गुरुः, तस्य अङ्कुशेन कुमार्गप्रवृत्तिप्रतिबन्धकशासनेन कृत्वा शङ्कितं भीतमन्तरमन्तःकरणं येषां ते तादृशाः, अनुपकृतोपकारिणा गुरुणा भवोदधिर्धर्याऽऽगमोक्तमर्यादयाऽनुशासिता इत्यर्थः। पक्षे विलक्षणविशालाङ्कुशभीतात्मानः "अङ्कुशोऽस्त्री स्त्रियां" इत्यमरः। महर्षयः—दानभक्तेषणारक्ता दान्ता मुनयः। मतङ्गजाः—हस्तिनः इव, चाटुकोटिभिः—प्रियवचनकोटिभिरपि पिण्डं—भक्तं, पक्षे ग्रासं, नेच्छन्ति—स्वेच्छया नाभिलषन्ति, अनेकप्रियवचनकथनेऽपि निरीहतयाऽशनादिभक्तं मुनयो नेच्छन्ति, अथवा स्वयमेव प्रियवचनान्युक्त्वा पिण्डं नेच्छन्ति। गजा अपि हि पुरा ग्रासग्रहणे अङ्कुशाघातानुभवात् भीताः हस्तिपकेन कदाचित् प्रियवचनकथनेऽपि स्वेच्छया ग्रासं न गृह्णन्तीति लोकप्रसिद्धम्। "चटु चाटुप्रियग्रायम्" इति, "ग्रासो गुडेरकः पिण्डः" इति च हैमः। तथा नये नीतौ वर्तमाना इति शेषः। स्ववशां—स्वाधीनामपि वशां स्त्रियं करिणीञ्च। 'वशा स्त्री करिणी च स्यादि' त्यमरः। न—नैव। संसजन्ति—आसक्तिविषयां

कुर्वन्ति। महर्षयो निरीहा निष्कामाश्च, गजाश्च साधुशिक्षितास्तत्रेत्यर्थः। अत्र विशिष्टगुर्वङ्कुशशङ्कितान्तरा इत्यस्य पदार्थस्य विशेषणगत्या नेच्छन्ति इत्यत्र न संसजन्ति इत्यत्र च हेतुत्वावगमात् काव्यलिंगमलङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते" इति। तदनुप्राणिता चोपमेति द्वयोः सङ्करः ॥४५॥

अथ तत्रत्यचैत्यानि वर्णयति—सुवर्णकुम्भा इति—

सुवर्णकुम्भा भविकैर्निवेशिता, विभान्ति यत्रार्जुनचैत्यसानुषु ।
नभःस्रवन्त्या इव चक्रवाकाः, सुवर्णपाथोरुहनिश्चलासनाः ॥४६॥

व्याख्या—**यत्र**—रत्नपुरे। **अर्जुनचैत्यसानुषु**—'धवलोऽर्जुन' इत्यमरोक्तेः। अर्जुनानि धवलानि यानि चैत्यानि जिनप्रासादाः "चैत्यविहारौ जिनसद्मनि" इति हैमः। तेषां सानुषु शिखरेषु। **भविकैः**—भव्यात्मभिः। **निवेशिताः**—स्थापिताः। **सुवर्णकुम्भाः**—सुवर्णस्य कनकस्य कुम्भाः कलशाः। **नभःस्रवन्त्याः**—गंगानद्याः "स्रवन्ती'निम्नगाऽऽपगा" इत्यमरः। 'स्वर्गि–खापगा' इति हैमश्च। **सुवर्णपाथोरुहनिश्चलासनाः**—सुवर्णस्य पाथोरुहेषु कमलेषु सुवर्णानि-सुष्ठु वर्णवन्ति कमलान्येव वा निश्चलानि स्थिराणि आसनानि येषां ते तथोक्ताः। शिखरे सुवर्णकमलानि निर्माय कुम्भस्थापनादियमुत्प्रेक्षा। **चक्रवाकाः**—कोका इव "कोकश्चक्रश्चक्रवाक" इत्यमरः। **विभान्ति**—शोभन्ते। अत्राकाशगङ्गासुवर्णकमलस्थकोकासंभवात् तदात्मनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षाऽलंकारः ॥४६॥

अथ तत्रत्यखातं वर्णयति—रसातलमिति —

रसातलं यस्य गभीरखातिका, – प्रसक्तमाजीवनमार्पयन्निजम् ।
न किं प्रयच्छन्ति निबद्धमानसा, मनस्विनीषु प्रसभं मनस्विनः ॥४७॥

व्याख्या—**यस्य**—रत्नपुरनगरस्य। **गभीरखातिकाप्रसक्तम्**—गभीरा निम्ना"निम्नं गभीरं गंभीरमि"त्यमरः। या खातिका परिखा तत्र प्रसक्तं समासक्तं। **रसातलं**—रसायाः पृथिव्यास्तलं पातालं। **निजं**—स्वीयम्। **आजीवनम्**—जीवनं जलमित्यर्थः। **आर्पयत्**—प्रादात्। युक्तञ्चैतत् तदाह। **मनस्विनीषु**—स्त्रीषु। **निबद्धमानसाः**—निबद्धं संसक्तं मनश्चित्तं येषां ते तादृशाः अनुरक्ताः। **मनस्विनः प्रसभं**—हठात् आजीवनमित्यनुषज्यते। **किं न प्रयच्छन्ति**—ददति, अपि तु सर्वस्वमेव प्रयच्छन्ति, अतः खातिकाप्रसक्तरसातलस्य जीवनदानं न विरुद्धयते इत्यर्थः। अत्र जीवनमिति श्लेषः। तत्र रसातलस्य खातिकाप्रसक्तस्य जीवनार्पणरूपो विशेषः। मनस्विन्यनुरक्तमनस्विनां सर्वस्वदानरूपेण सामान्येन समर्थ्यते इति सामान्येन विशेषस्य समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तत्रापातालगभीरा परिखा, जलेन परिपूर्णा चेति निर्गलितार्थो बोध्यः ॥४७॥

अथ तत्रत्यापणं वर्णयति—क्रयाणकमिति—

क्रयाणकं भूवलये तदस्ति नो, न यद्यदट्टेषु विलोक्यते जनैः ।
भवन्ति तेजांसि विभाकरे न चेत्, परः समीक्ष्यः क्व तदा तदाकरः ॥४८॥

व्याख्या—भूवलये—भुवः पृथिव्याः वलये मण्डले भूतले इति तावत् । तत्—तादृशं । क्रयाणकं—क्रय्यं । नो—न । अस्ति, यद्—यादृशं । यदट्टेषु—यस्य रत्नपुरीय अट्टेषु हट्टेषु "अट्टो हट्टो विपणिरापण" इति हैमः । जनैः—लोकैर्न विलोक्यते—दृश्यते । युक्तञ्चैतत्, तदाह । तेजांसि—प्रभाः । विभाकरे—सूर्ये । चेद्—यदि । न भवन्ति, तदा—तेषांतेजसाम् । आकरः—निधिः । परोऽन्य । क्व-कुत्र । समीक्ष्यो—ऽवलोक्यः । न कुत्रापीत्यर्थः । तेजसामाकरत्वेन तस्यैव प्रसिद्धत्वादिति भावः । यथा तेजसामाकरः सूर्यस्तथा क्रयाणकाणामाकरः रत्नपुरमिति ध्वनिः । एवञ्च सद्धर्मवस्तुनः प्रतिबिम्बनाद् दृष्टान्ताऽलंकारः । तल्लक्षणं यथा—"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्" इति । अर्थान्तरन्यासस्तु नात्र तस्य सामान्यविशेषयोरुपादाने एव सत्त्वात्, न तु द्वयोर्विशेषयोः, अत्र च सूर्यस्य रत्नपुरस्य च विशेषस्यैव साधर्म्येण प्रतिबिम्बनात् ॥४८॥

अथ तदापणस्थरत्नानि वर्णयति—प्रसारितमिति—

प्रसारितं रत्नभरं यदापणे निरीक्ष्य कान्तिप्रसरैः परिष्कृतम् ।
स रोहणक्षोणिधरोऽपि संभ्रमाच्छिलाऽवशेषः परिभाव्यते परम् ॥४९॥

व्याख्या—यदापणे—यस्य रत्नपुरस्य आपणे हट्टे । प्रसारितम्—विस्तार्य स्थापितम् "पण्यशाला निषद्याऽट्टो हट्टो विपणिरापणः" इति हैमः । कान्तिप्रसरैः—कान्तीनां प्रभाणां प्रसरैः समूहैः कृत्वा । परिष्कृतम्-परीतम् व्याप्तमित्यर्थः । "परिष्कृतम् परीतम्" इति हैमः । रत्नभरं—रत्नानां मणीनां भरं समूहं रत्नसम्पदम् । निरीक्ष्य—विलोक्य । स—रत्नोत्पत्तिस्थानत्वेन प्रसिद्धम् । रोहणो—रोहणाख्यः । क्षोणिधरः—महीधरोऽपि । सम्भ्रमाद्—आवेगाच्छज्जया वा । परं—केवलम् । शिलाऽवशेषः—शिला एव अवशेषो यस्य स तादृशः प्रस्तरमात्रावशिष्टः । परिभाव्यते—अनुभूयते, अन्योऽपि हि सम्भ्रान्तो दौस्थ्यमापद्यते इति भावः । अत्र रोहणाचलस्य रत्नभरनिरीक्षणसम्बन्धस्य सम्भ्रमात् प्रस्तरमात्रावशिष्टत्वसम्बन्धस्य चाचेतनत्वेनासंभवादसम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिः ॥४९॥

अथ तत्रत्यसौधस्थितवैजयन्तीं वर्णयति—न वैजयन्त्य इति—

न वैजयन्त्यो मृदुमारुताहता, यदीयसौधोपरि बन्धुरा इमाः ।
पुरश्रिया वर्द्धितमानसंपदो, दिवं समाह्वातुमिवाधिकोच्छ्रयाः ॥५०॥

व्याख्याः—**यदीयसौधोपरि** – यस्य इमे यदीया रत्नपुरीया ये सौधाः प्रासादास्तेषामुपरि ऊर्ध्वदेशे। **मृदुमारुताहताः**–मृदुना मन्देन मारुतेन पवनेनाहताः कम्पिताः अत एव **बन्धुराः**–स्वभावादुन्नता वायुसम्बन्धादीषन्नताः, "बन्धुरं तून्नतानतम्" इति हैमः। शोभनाः दर्शनीया इति यावत्। **पुरश्रिया**–पुरस्य नगर–श्रिया सम्पदा। **वर्द्धितमानसम्पदः**–वर्धिता वृद्धिं नीता मानस्य परिमाणस्य सम्मानस्य च सम्पद् यासां तास्तादृश्यः। **इमा**–बुद्धिस्थतया स्पष्टं लक्ष्यमाणाः। **वैजयन्त्यः**–पताकाः 'वैजयन्ती पुनः केतु' रिति हैमः। **दिवं**–स्वर्गं। **समाह्वातुम्**–स्पर्धया समाकारयितुमिव। **अधिकोच्छ्रयाः**–अधिकमुच्छ्रयः औन्नत्यं यासां ता अत्युन्नता। **न**? अपि तु समाह्वातुमेवात्युन्नता इत्यर्थः। अत्र समाह्वातुमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा ॥५०॥

अथ तन्नगरप्राकारं वर्णयति—**निजेश्वरेति**—

निजेश्वरश्रीपतिनामशङ्कया, निषेवते यत्किल भोगिनां पतिः।
सुधीभवन् कुण्डलशायितां दधत्, समुज्ज्वलस्फाटिकवप्रदम्भतः ॥५१॥

व्याख्या—**निजेश्वरश्रीपतिनामशङ्कया**–निजस्य स्वस्य ईश्वरः स्वामी यः श्रीपतिः विष्णुः तत्रत्यानां जनानां धनिकत्वेन श्रीपतिशब्दवाच्यत्वादिति भावः। तस्य नाम तेन या शङ्का सन्देहः तया, अत्रत्यो जनः श्रीपतिर्विष्णुरित्येवं भ्रमेण। **भोगिनां पतिः**–भोगिनां सर्पाणां पतिः प्रभुः शेषः "शेषो नागाधिपः" इति हैमः। **सुधीभवन्**–सुधा अस्ति अस्य इति सुधी, सुधयालिप्तत्वाद् वप्राणाम् अमृतपायित्वाद् गौरवर्णत्वाच्च शेषस्य, न सुधी सुधी भवतीति सुधीभवन्। **कुण्डलशायितां**–कुण्डलाकारेण शेते इत्येवंशीलः कुण्डलशायी, तस्य भावस्तत्ताम्, वप्राणां कुण्डलाकारेण स्थितत्वात् सर्पाणां कुण्डलित्वप्रसिद्धेश्च। **दधद्**–धारयन्। **समुज्ज्वल–स्फाटिकवप्रदम्भतः**–समुज्ज्वला भासमाना ये स्फटिकस्य विकाराः स्फाटिकाः स्फटिकनिर्मिता वप्राः प्राकाराः तेषां दम्भतश्छलतः। **यद्रत्नपुरं निषेवते**–भजते। **किलेत्यलीके**। अत्र सुधीभवन्नित्यादिश्लेषानुप्राणिता वप्रदम्भत इत्यपह्नुतिरलङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—"प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः" इति। अत्र च प्रकृतवप्रमपह्नुत्य भोगिनां पत्युरन्यस्य व्यवस्थापनं स्पष्टमेव ॥५१॥

अथ खातिकामेव प्रकारान्तरेण वर्णयति—**अनन्तेति**—

अनन्तलक्ष्मीपुरुषोत्तमालये, निरीतिभावप्रसरन्महोत्सवे।
पयोनिधिर्यत्र स खातिकामिषात्, स्वपुत्रिकाप्रेमवशम्वदोऽवसत् ॥५२॥

व्याख्या—**निरीतिभावप्रसरन्महोत्सवे**–ईतिभ्यो निर्गता निरीतिस्तस्य भावस्तेन प्रसरन्तः महोत्सवा यत्र तत्तस्मिन् उत्पाताभावाद्विलसन्महोत्सवे "अजन्यमितिरुत्पात" इति हैमः; "मह उत्सव उद्भव" इति चामरः,

"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः," इति च। तथा **अनन्तलक्ष्मीपुरुषोत्तमालये**—अनन्ताः या लक्ष्म्यः सम्पदः पुरुषोत्तमाः पुरुषश्रेष्ठाश्च तेषामालयः स्थानम् तस्मिन्, अथवा—अनन्ता लक्ष्म्यः येषां तादृशाः ये पुरुषोत्तमास्तेषामालये। **यत्र**—रत्नपुरे। **स**—लक्ष्मीजनकत्वेन प्रसिद्धः। **पयोनिधिः**—समुद्रः। **स्वपुत्रिकाप्रेमवशम्वदः**—स्वस्य निजस्य या पुत्रिका दुहिता तस्यां यत्प्रेम स्नेहः "प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः" इत्यमरः। तस्य वशंवदोऽधीनः स्वकन्यास्नेहाधीनः सन्। **खातिका**—परिखा, तस्याः। **मिषात्**—व्याजात्। **अवसत्**—निवसतिस्म। गृहे गृहे धनधान्यसमृद्धिः, सर्वे जनाश्चोत्तमप्रकृतयः तन्नगरपरिखा च समुद्रवदगम्या दुस्तरा चेत्यर्थः। अत्रापि परिखामपह्नुत्याऽन्यस्याप्रकृतस्य समुद्रस्य व्यवस्थापनादपह्नुत्यलङ्कारः। स च लक्ष्मीति श्लेषानुप्राणित इति द्वयोः सङ्करः। "परिखा खेयखातिके" इति हैमः ॥५२॥

अथ तत्रत्यान् गजान् वर्णयति—**मतङ्गजानिति**—

मतङ्गजानञ्जनपर्वतायतान्, सलीलयातानि पथि प्रकुर्वतः।
निरीक्ष्य यत्रेति विजानते जना, न सन्ति नान्यत्र भवन्ति चैतके ॥५३॥

व्याख्या—**यत्र**—यस्मिन् रत्नपुरे। **जनाः**—लोकाः। **अञ्जनपर्वतायतान्**—अञ्जनाख्यो यः पर्वतः, अञ्जनगिरिः तद्वदायतान् दीर्घान् विशालान् वा द्वयोरेव कालत्वादन्यपर्वतानुपेक्ष्याञ्जनपर्वतेनैव साम्यमुक्तम्, अञ्जनशैलविशालान्। **पथि**—मार्गे। **सलीलयातानि**—लीलया सहितं सलीलं सविलासं यानि यातानि गमनानि तानि। **प्रकुर्वतः**—विदधतः। **मतङ्गजान्**—हस्तिनः "मतङ्गजो गजो नागः, कुञ्जरो वारणः करी" त्यमरः। **निरीक्ष्य**—विलोक्य। एते एव **एतके**—स्वार्थे, तद्धितोऽकप्रत्ययः, एतादृशा इत्यर्थः। **अन्यत्र**—रत्नपुरादन्यस्मिन् स्थाने। **न**—नैव। **सन्ति**—वर्त्तन्ते। **न**—नैव। **भवन्ति**—उत्पद्यन्ते। **च इति**—इत्थं। **विजानते**—मन्वते। अन्यथाऽन्यत्राप्येतादृशा हस्तिनः कुतो न दृश्यन्ते इति भावः। अत्र लुप्तोपमाऽलङ्कारः तेन च सर्वेभ्योऽप्युत्कृष्टा अत्रत्या गजा इति उपमानेतरगजापेक्षयोपमेयस्यात्रत्यगजस्याधिक्यलाभाद् व्यतिरेको ध्वन्यते ॥५३॥

अथ तत्रत्यपताकाः वर्णयति—**ध्वजांशुकैरिति**—

ध्वजांशुकैः शारदसारकौमुदी, समप्रभैः शर्मविसारिसम्पदा।
अधिष्ठितं यच्च विमानतायिनां, पुरं सुराणां हसतीव संमदात् ॥५४॥

व्याख्या—**यच्च**—यत् रत्नपुरं, चो—वाक्यालङ्कारे। **शर्म**—सुखम् "शर्मसातसुखानि चे" त्यमरः। तस्य **विसारिणी** विस्तारिणी या **सम्पद्** समृद्धिः तया। **अधिष्ठितं** व्याप्तं सत्। **शारदसारकौमुदी**—शरदि भवा शारदी, शरदृतूत्पन्ना, सारा प्रधाना श्रेष्ठा च या कौमुदी चन्द्रिका। **समप्रभैः**—तत्समा तत्तुल्या, प्रभा

कान्तिर्येषां तैः शारदचन्द्रिकाधवलैः । **ध्वजांशुकैः**--ध्वजानां केतूनामंशुकैर्वस्त्रैः पताकाभिः । **विमानतायिनां**--विमानानि तायन्ते पालयन्तीति ते विमानतायिनः तेषां । **सुराणां**--देवानां । **पुरं**--स्वर्गं । **सम्मदाद्**--हर्षाद् गर्वाच्च । **हसतीव**--तिरस्कारसूचकं हासं करोतीव । ततोऽप्यधिकतरोत्कृष्टत्वादिति भावः । उत्कृष्टो हि मदान्नीचं हसतीति लोकप्रसिद्धम् । अत्र ध्वजांशुकानां शुक्लत्वात् हासोत्प्रेक्षा, हासस्य शुक्लतायाः कविसमय-सिद्धत्वात् ॥५४॥ (षोडशभिः कुलकमिति नगरवर्णनम्)

अथ तत्रत्यराजानमाह—**बभूवेति**—

बभूव तस्मिन्नरमौलिशेखरः, स कोऽपि षेण क्षितिजीवितेश्वरः ।
यदाख्यया श्रीपदमादितः कृतं, किमादिभूतं न न भूतमत्र तत् ॥५५॥

व्याख्या—**तस्मिन्**--रत्नपुरे । **स**--प्रसिद्धः । **कोऽप्यनिर्वचनीयः** । **क्षितिजीवितेश्वरः**--क्षितेः पृथिव्या जीवितेश्वरः वल्लभः महीपतिः । **नरमौलिशेखरः**--नराणां जनानां मौलीनां मस्तकानां शेखरः शिखास्वरूपः "शिखास्वापीडशेखरा" वित्यमरः । नरशिरोमणिः । **षेणः**--षेणनामा । **बभूवाऽजनि** । **यदाख्यया**--यस्य षेणस्याख्यया नाम्ना । **श्रीपदमादितः**--श्रीपदं श्री--इतिपदं शब्द आदितः आदौ । **कृतं**--विहितं श्रीषेण इतिनामा राजाऽभूदित्यर्थः । **तत्**--तस्माद् कारणाद् । **अत्र**--अस्मिन् श्रीषेणे राजनि । **भूतं**--सद्भूतं वस्तुसमस्तम् । **आदिभूतं**--अग्रिमस्थानापन्नम् । **न न**--न खलु नैवेत्यर्थः । **किम्**--किमु ? अपि तु सर्वमपि वस्तुजातमिह-महीपतावादिभूतमेव । यतो हि विश्वे निखिलपदार्थाः श्रीस्वाधीनाः, श्रीश्चानेन राजराजेन निजनाम्नैवादिस्था-नमापादितेति अन्यत् सर्वमपि सुलभमस्येति । अतिशयोक्तिः ॥५५॥

अथ तद्राज्ञः प्रतापं वर्णयति—**सुदुःसहमिति**—

सुदुःसहं धाम न सोढुमीश्वरा, विरोधिनो यस्य दरीषु भूभृताम् ।
अवात्सुरुत्सृष्टनिवासभूमयो, निलीय घूका इव भानुमालिनः ॥५६॥

व्याख्या—**यस्य**--श्रीषेणराज्ञः । **सुदुःसहमत्यन्तासह्यं** । **धाम**--तेजः प्रतापम् । **सोढुं**--मर्षितुं । **न ईश्वराः**--असमर्थाः सन्तः । **विरोधिनः**--वैरिणः । **उत्सृष्टनिवासभूमयः**--उत्सृष्टाः त्यक्ताः निवासस्य आवासस्य भूमयः स्थानानि यैस्ते तादृशाः । **भानुमालिनः**--सूर्यस्य तेजः सहनेऽसमर्थाः । **घूका**--उलूकाः । **इव भूभृतां**--पर्वतानां । **दरीषु**--कन्दरासु "दरी तु कन्दरो वा स्त्री" इत्यमरः । **निलीय**--गोपायित्वा । **अवात्सुः**--न्यवसन् परिभवभवादितिभावः । अत्रोपमाऽलङ्कारः ॥५६॥

पुनस्तत्प्रतापमेव प्रकारान्तरेण वर्णयति—जलेश्वरेति—

जलेश्वराशालयभावमाश्रयन्नितान्तपूर्वोदय एव भानुमान् ।
हरित्सु सर्वासु विवृद्धिधारिणो, न यत्प्रतापस्य समानतां दधौ ॥५७॥

व्याख्या—**जलेश्वराशालयभावम्**—जलानामीश्वरः पतिः वरुणः "प्रचेता वरुणः पाशी यादसां पतिरप्पतिः" इत्यमरः। तस्य आशा दिशा पश्चिमदिशा, पश्चिमदिगीशत्वात्तस्य, तत्र लयभावमस्तमनम्। **आश्रयन्**—प्राप्नुवन्। **नितान्तमेकान्ततः**। **पूर्वोदयः**—पूर्वासु पूर्वदिशासु उदयः यस्य स तादृशः। **एव**—न तु कदाचिदन्यादृशः। **भानुमान्**—सूर्यः। **सर्वासु**—अखिलासु दशसु। **हरित्सु**—दिशासु। **विवृद्धिधारिणः**—विशेषेण वृद्धिमुन्नतिं धरतीत्येवं शीलस्य वृद्धिमतः। **यत्**—यस्य श्रीषेणस्य **प्रतापस्तेजस्तस्य**। **समानतां**—साम्यं। **न दधौ**—न प्राप्तवान्। सूर्यो हि उदयमस्तञ्च प्राप्नोति, एतत्प्रतापस्तु सर्वदोदयमेवावाप्नोति सर्वास्वपि दिशास्वित्युपमानसूर्यापेक्षयोपमेयस्य प्रतापस्याधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकाऽलङ्कारः ॥५७॥

अथ तद्यशो वर्णयति—शरदिति—

शरत्सुधांशुभ्रमभारकारिभिः, विनिर्जितो यस्य यशोभिरुज्ज्वलैः ।
भुजङ्गमानामधिपो रसातलं, प्रविश्य नूनं त्रपयेव तस्थिवान् ॥५८॥

व्याख्या—**शरत्सुधांशुभ्रमभारकारिभिः**—शरदः शरदृतोः यः सुधांशुश्चन्द्रः तस्य यो भ्रमः भ्रान्तिस्तस्य भारोऽतिशयः तं कुर्वन्तीत्येवंशीलानि तैः शरच्चन्द्रभ्रमापादकैः। **उज्ज्वलैः**—शुभ्रैः। **यस्य**—श्रीषेणस्य **यशोभिः**—वर्णवादैः। **विनिर्जितः**—पराजितः, वासुकेरपेक्षयाऽपि तद्यशसो धवलत्वादितिभावः। **भुजङ्गमानां**—सर्पाणां। **अधिपः**—अधिपतिः वासुकिः। "वासुकिस्तु सर्पराजः" इतिहैमः। **त्रपया**—लज्जया। **इव**—नूनं निश्चितं। **रसातलं**—पातालं। **प्रविश्य**—गत्वा। **तस्थिवान्**—तस्थौ। पराजितो हि लज्जया स्वं गोपायतीति भावः। यदुक्तं—"सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरगमनमिति ॥ अत्र त्रपयेवेति शब्देन हेतूत्प्रेक्षा, सा च भुजङ्गमाधिपस्य यशसा निर्जितत्वाभावेऽपि तदुक्तिरूपातिशयोक्तिजीविता ॥५८॥

अथ तस्य शासननैपुण्यमाह—चतुरिति—

चतुष्पयोनिध्यवधिक्षितीश्वरैः, प्रणम्यमानस्य सदैव देववत् ।
श्रुतेक्षिता यस्य विभोरजायत, क्षमासमासङ्गवशादिव क्षमा ॥५९॥

व्याख्या—**चतुष्पयोनिध्यवधिः**—चत्वारश्च ते पयोनिधयः चतुष्पयोनिधयः, त एव अवधिः। सीमा यस्याः। **क्षितीश्वरैः**—क्षितेः पृथिव्याः तदीश्वरैः राजभिः, स्वाधीनैः, समुद्रपर्यन्तपृथिव्यन्तर्गतैराज-

भिरित्यर्थः। **देववत्**-अनेन श्रीषेणे तेषां पूज्यभावः सूचितः। **सदैव**-सर्वदैव। **प्रणम्यमानस्य**-नमस्क्रियमाणस्य। **यस्य विभोः**-प्रभोः श्रीषेणस्य। **क्षमा**-पृथिवी। **क्षमासमासङ्गवशादिव**-क्षमायाः क्षान्तेः यः समासङ्गः संसर्गः तद्वशात् इव। **श्रुतेक्षिता**-श्रुता तेन राज्ञा आकर्णिता ईक्षिता अवलोकिता च। **अजायत**-अजनि। सर्वमेव पृथिव्याः वृत्तान्तं स क्षमाभावेन शृणोति पश्यति चेति विलक्षणमस्य शासननैपुण्यमिति भावः। "क्षितिः क्षोणी क्षमा" इति, "तितिक्षा सहनं क्षमा" इति च हैमः। अत्र क्षमासमासङ्गवशादिवेत्युत्प्रेक्षा ॥५९॥

अथ तस्य दानकर्म वर्णयति—**अजस्रेति**—

अजस्रविश्राणनकर्मणाऽर्थिनां, सुवर्णकोट्या विरचय्य योऽर्थिताम्।
जहार दीनत्वविधानलालसां, जनुः कृतार्थं रचयन्निवार्थिताम् ॥६०॥

व्याख्या—**यः**-श्रीषेणः। **अजस्रविश्राणनकर्मणा**-अजस्रं सन्ततं यद्विश्राणनं दानं'दानमुत्सर्जनविसर्जनै विश्राणन'मित्यमरः। तत्कर्मणा क्रियया सततदानक्रियया। **सुवर्णकोट्या**-सुवर्णानां कोटिस्तया। **अर्थिनां**-याचकानां "वनीपको याचनको, मार्गणो याचकार्थिना" वित्यमरः। **अर्थितां**-अर्थोऽस्यास्तीति अर्थी धनाढ्यस्तस्य भावस्तत्तां। **विरचय्य**-कृत्वा। **जनुः**-जन्म "जनुर्जननजन्मनी" त्यमरः। **कृतमर्थं**-प्रयोजनं यत्र तत्तादृशं कृतकृत्यं। **रचयन्**-कुर्वन्निव **दीनत्वविधानलालसां**-दीनत्वस्य दारिद्र्यस्य विधानं करणं तत्र लालसामभिलाषवतीं दारिद्र्यविधानकामाम्। **अर्थितां**-याचकतां। **जहार**-दूरीचकार। सर्वेषामेव धनिकरणादिति भावः। अत्र अर्थिनामर्थितां विरचय्य अर्थितां जहारेति विरोधः, अर्थिनामर्थित्वस्य याचकत्वस्य स्वत एव सत्त्वात्। धनाढ्यत्वरूपार्थान्तरेण तु तत्परिहारः। एवञ्चात्र विरोधाऽलङ्कारः। तथा याचकत्वस्य हरणाभावेऽपि तथोक्तेरतिशयोक्तिरिति द्वयोर्निरपेक्षयोः संसृष्टिः ॥६०॥

अथ तस्य दण्डं वर्णयति—**कृपापरोऽपीति**—

कृपापरोऽपि श्रुतवान्नपि क्वचि—न्न धर्मविच्छेदकरं ररक्ष यः।
नृपस्य हि न्यायपथप्रवर्त्तिनो, न धर्मविप्लावकपालने मतिः ॥६१॥

(सप्तभिः कुलकम्)

व्याख्या—**कृपापरः**-दयालुरपि, **श्रुतवान्**-शास्त्रयथार्थज्ञोऽपि सन्। **यः**-श्रीषेणः "य आत्मानमिव परात्मानं पश्यति स पश्यती'ति महर्षिवचनामृतपानासक्ततया सर्वथैव जीवा रक्षणीया इति धीमानपि, शास्त्रकृपयोरुपादानस्य तत्रैवोपयोगात्। **क्वचित्**-कुत्रापि। **धर्मविच्छेदकरं**-धर्मस्य लोकशास्त्रोभयसम्मतकर्मणः विच्छेदस्य करो विधायकस्तं दुराचारं सप्तव्यसनादिसेविनमन्यायकारिणं। **न ररक्ष**-नाक्षमत, ननु रक्षणं नृपाणां धर्मस्तथा चैतदनुचितं तत्राह हि—यतः। **न्यायपथप्रवर्तिनः**-न्यायस्य पन्था मार्गः तत्र नीतिमार्गे प्रवर्तते इत्येवं शीलस्य। **नृपस्य**-राज्ञः। **धर्मविप्लावकपालने**-धर्मस्य विप्लावकः भञ्जकस्तस्य; पालने

रक्षणे, मतिः नैव भवति ॥ "अदण्ड्यान् दण्डयते राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ? अयशो महदाप्नोति राज्यान्ते नरकं व्रजेत्"; "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्" इत्युक्तेश्चेति भावः । अत्र श्रीषेणकृतरक्षणस्य विशेषस्य सामान्येन नृपकर्तृकरक्षणमतिरूपेण समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥६१॥

अथ तस्य पत्नी प्राप्तिमाह—सधर्मचारिणीति—

सधर्मचारिण्यभिनन्दिताऽभिधा, महेश्वरस्याजनि सर्वमङ्गला ।
शिवस्य तस्य प्रतिपद्वतो यथा, महेश्वरस्याजनि सर्वमङ्गला ॥६२॥

व्याख्या—**यथा**—यद्वत् । **तस्य**—प्रसिद्धस्य । **शिवस्य**-कल्याणकृतः । **प्रतिपद्वतः**—प्रतिपच्चन्द्रकला-कलितस्य । प्रतिपच्छब्देन प्रकृते सा शशिकला लक्षणयाऽवसेया । **महेश्वरस्य**—तन्नामविश्रुतस्य रुद्रस्य । **सर्वमङ्गला**—पार्वती । 'शिवा भवानी रुद्राणी, शर्वाणी सर्वमङ्गले' त्यमरः । **सधर्मचारिणी**—पत्नी । **अजनि**—अभूत् । तथेतिशेषः । **तस्य**—प्रस्तुतस्य । **शिवस्य**—कल्याणवतः । **प्रतिपद्वतः**—प्रज्ञावतः, धीमत इति यावत् । 'प्रतिभा प्रतिपत्प्रज्ञे'ति हैमः । **महेश्वरस्य**—महांश्चासावीश्वरस्तस्य, महासंपत्समन्वितस्य राजराजस्य श्रीषेणस्य । **अभिनन्दिताऽभिधा**—अभिनन्दितेति अभिधा नाम यस्याः सा, तन्नाम्नी । **सर्वमङ्गला**—समस्तश्रेयस्कार्यसाधिका । **सधर्मचारिणी**—प्रिया । **अजनि**—समभवत् । श्लेषानुप्राणित उपमालङ्कारो यमकश्च द्वितीयतुर्यपादाभेदत इति ॥६२॥

अथ तस्य द्वितीयपत्नीपरिग्रहमाह—परापीति—

पराऽपि जज्ञे शिखिनन्दितापरा, परास्तकामप्रसरस्य तस्य च ।
रसेश्वरस्येव सुरापगा प्रिया, रजोऽपहा पुण्यनिदानजीवना ॥६३॥

व्याख्या—**च**—पुनः । **परास्तकामप्रसरस्य**—दूरीकृतमदनवेगस्य । 'प्रसरः प्रणये वेगे' इति मेदिनी । **तस्य**—प्रस्तुतस्य राज्ञः । **पराऽपि**—द्वितीयाऽपि । **परा**—उत्कर्षवती । **शिखिनन्दिता**—तन्नाम्नी । (परास्त-कामप्रसरस्य) **ईश्वरस्य**—महादेवस्य । **रसा**—सरसा, अनुरागवती च । **रजोऽपहा** धूलिहरा पापप्रणाशिका वा शोकापनुदा च । "रजः पापे च शोके चे" त्यमरः । **पुण्यनिदानजीवना**—पुण्यकारणपवित्रसलिला, पुण्यापादककर्मकारणजीविता च । **सुरापगा**—गङ्गा । **इव**—यथा । **तथा प्रिया**—दयिता । **जज्ञे**—बभूव । पूर्ववत् श्लेषोपजीवितोपमा ॥६३॥

अथ तत्सौख्यं वर्णयति—सहैवेति—

सहैव ताभ्यामवनीशितुर्मुदा, सदाऽपि भोगानुपभुञ्जतः सतः ।
विशुद्धधर्मार्थनिविष्टसंविदो, दिना व्यतीयुर्बहवः क्षणा इव ॥६४॥

व्याख्या—**विशुद्धधर्मार्थनिविष्टसंविदः**—धर्मश्चार्थश्च धर्मार्थौ विशुद्धौ च तौ तयोः निविष्टा संलग्ना संविद् बुद्धिर्यस्य "प्रेक्षोपलब्धिश्चित् संवित् प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः" इत्यमरः । तस्य । **ताभ्यां**—पूर्वोक्ताभ्यां पत्नीभ्यां । **सह**—सार्धमेव । नत्वेकाकिनः । **सदाऽपि**—सर्वदाऽपि । **भोगान्**— वैषयिकसुखानि । "भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतौ" इत्यमरः । **उपभुञ्जतः**—अनुभवतः । **मतः**—वर्तमानस्य । "सन् सुधीः" इत्यमरोक्तेः सुधियो वा । **अवनीशितुः**—नृपतेः श्रीषेणस्य । **बहवः**—अनेके । **दिना**—वासराः । **क्षणा इव**—घटिकाषष्ठ-भागा इव । 'क्षणैः षड्भिस्तु नाडिका' इति अ. चि. का-२ श्लो. ५१. **व्यतीयुः**—व्यतिक्रान्ताः । नहि सुखिनो दिनं दीर्घमिति भावः । अत्रानेकदिनस्य कतिपयक्षणात्मना सम्भावनादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥६४॥

अथ तस्य प्रथमपत्न्याः स्वप्नदर्शनमाह—**अथान्यदेति**—

अथान्यदा देव्यभिनन्दिता यथा-सुखं शयाना शयने निशात्यये ।
सुधांशुभास्वद्युगपन्मुखाम्बुज-प्रवेशसंस्वप्नमसौ निरैक्षत ॥६५॥

व्याख्या—**अथ**—अनन्तरम् । **अन्यदा**—कदाचित् । **शयने**—शय्यायां "तल्पं शय्या शयनीयं शयनं तलिमं च तत्" इति हैमः । सुखमनतिक्रम्य, **यथासुखम्**—सुखं यथास्यात्तथा । **शयाना**—निद्रासुखमनु-भवन्ती । **असौ अभिनन्दिता**—तदाख्या । देवी—पट्टराज्ञी । **निशात्यये**—रात्र्यन्ते । रात्र्यन्तस्वप्नस्य सफल-त्वादितिभावः । **सुधांशुः**-चन्द्रः । **भास्वान्**-सूर्यः । तयोः, **युगपत्**—सहैव । **मुखाम्बुजे**—मुखकमले, यः **प्रवेशः**—तस्य । **संस्वप्नं**—सम्यक् स्वप्नम् । **निरैक्षत**—अवलोकितवती ॥६५॥

अथ तदनन्तरं तस्याः कर्त्तव्यमाह—**अवाप्येति**—

अवाप्य सा स्वप्नमनिन्दितं सतां, शुभैरवाप्यं परिहृष्टमानसा ।
फलानि पुष्पाणि च पाणिपुष्करे, निवेश्य कान्तं समया समापतत् ॥६६॥

व्याख्या—**सा**—अभिनन्दिता । **सतां**—सज्जनानां । **अभिनन्दितं**—प्रशस्यं । **शुभैः**—पुण्यैः । **अवाप्यं**—प्राप्यं । **स्वप्नम्**-दर्शनम्,'दर्शनं····· स्वप्नलोचनयोश्चापि' इति हैमानेकार्थः । **अवाप्य**—दृष्ट्वा । **परिहृष्टमानसा**—परिहृष्टं प्रसन्नं मनश्चित्तं यस्याः सा तथा, मुदिता सती 'रिक्तपाणिर्न पश्येच्च राजानं दैवतं गुरुं । निमित्तज्ञं विशेषेण फलेन फलमादिशेत् ॥१॥' इति शास्त्रमर्यादामवलम्ब्य । **फलानि पुष्पाणि च**—फलकुसुमसमूहम् । **पाणिपुष्करे**—पाणिरेव पुष्करं कमलमथवा पाणिः पुष्करमिव तत्र । **निवेश्य**—कृत्वा । **कान्तं**—स्वामिनं । **समया**—समीपं । **समापतत्**—गतवती । "समयाऽन्तिकमध्ययोः" इत्यमरः ॥६६॥

अथ तस्याः प्रियप्राप्तिमाह—समर्पयन्तीति—

समर्पयन्ती फलपुष्पसञ्चयं, स्वपञ्चशाखाग्रजपल्लवेन सा ।
विशालपात्रोपगता महीभुजा, व्यभाव्यतारं ब्रततीव तत्क्षणम् ॥६७॥

व्याख्या—सा—अभिनन्दिता । स्वपञ्चशाखाग्रजपल्लवेन—स्वस्य निजस्य यः पञ्च शाखा इवाङ्गुलयो यस्य स तादृशः करः "पञ्चशाखः शयः पाणिः" इत्यमरः । तस्याग्रजा अङ्गुलयः पल्लवा इव तेन स्वकरकिसलयेनेत्यर्थः । फलपुष्पसंचयं—फलपुष्पाणां सञ्चयं राशिं । समर्पयन्ती—ददती । पल्लवानां फल-पुष्पदानं युक्तमेवेति भावः । महीभुजा—राज्ञा । विशालपात्रोपगता—विशालं महत् यत्पात्रमाश्रयस्तत्रोपग-ता प्राप्ता । ब्रततीव—लतेव "ब्रततिर्लता" इत्यमरः । तत्क्षणं—सद्य एव । अरम्—अत्यर्थं । व्यभाव्यत—अशुभ्यत । उपमाऽलङ्कारः ॥६७॥

अथ तस्या वाक्प्रवृत्तिमाह—निषेदुषीति—

निषेदुषी काञ्चनविष्टरे स्थिरे, नरेश्वरेणात्मकरेण दर्शिते ।
समुद्गिरन्तीव रसं सुधामयं, जगाद कल्याणकिरं गिरं च सा ॥६८॥

व्याख्या—नरेश्वरेण—राज्ञा । आत्मकरेण—निजपाणिना । दर्शिते—निर्दिष्टे । स्थिरे—निश्चले । एतेन वार्तालापे निरुद्वेगसामग्री सम्पादिता । काञ्चनस्य—सुवर्णस्य । विष्टरे—आसने । निषेदुषी—उपविष्टा । सा—अभिनन्दिता । "विष्टरः पीठमासनमि"ति हैमः । सुधामयं—पीयूषप्रचुरममृततुल्यं । रसं—रसप्रवाहम् । समुद्गिरन्ती—प्रकटयन्तीव । कल्याणकिरं—मङ्गलविस्तारिणीं । गिरं—वाणीं । जगाद—उदाजहार । अत्र वदनस्य सुधामयरससमुद्गिरणात्मना, संभावनादुत्प्रेक्षा ॥६८॥

अथ तदुक्तिं प्रपञ्चयति—अतिम्रदीयेति—

अतिम्रदीयस्तमहंसतूलिका – सनाथशय्यातलभागभागिनी ।
विभो ! प्रमीलासुखमाश्रयन्त्यहं, मनाग् विबुद्धा मुदिता व्यलोकयम् ॥६९॥

व्याख्या—विभो— प्रभो ! अतिम्रदीयस्तमहंसतूलिकासनाथशय्यातलभागभागिनी—अतिम्रदीय-स्तमा नितरां कोमला हंसतूलिका हंसरोमतूलिका, तया सनाथा युक्ता या शय्या—तल्पं तस्यास्तलभागं भज-तीत्येवंशीला तल्पस्थनिद्रासुखसौलभ्यप्रदर्शनायातिशयार्थकानेकपदोपादानम् । प्रमीलासुखं—प्रमीलायाःतन्द्रायाः 'तन्द्रा प्रमीला' इत्यमरः । सुखं । आश्रयन्ती—अनुभवन्ती । मनाङ्—किञ्चिद् । विबुद्धा—चैतन्यं गता प्रबुद्ध-

कल्पा तन्द्रायां तथैव सम्भवादितिभावः । मुदिता–प्रसन्ना, अनेन शुभस्वप्नसामग्री सूचिता, चिन्तामग्नस्य शुभस्वप्नाऽदर्शनात् । व्यलोकयम्–अपश्यम् ॥६९॥

अथ स्वप्नस्वरूपमाह—यश इति—

यशःप्रतापाविव ते महीपते ! परस्परं संमिलितावुपागतौ ।
तदैव पीयूषकरप्रभाकरौ, निरस्तनिष्पिष्टतमश्चयौ रुचा ॥७०॥

व्याख्या—महीपते!-राजन् ! तदैव–प्रमीलाऽनुभवक्षण एव । ते–तव । यशःप्रतापाविव–यशश्च प्रतापश्च तौ इव । एतेन यशःप्रतापयोः समानदेशव्यापित्वं सूचितम् । परस्परं–मिथः । सम्मिलितौ–सङ्गतौ । रुचा–कान्त्या । निरस्तनिष्पिष्टतमश्चयौ–निरस्तो दूरीकृतो निष्पिष्टो नाशितश्च तमसामन्धकाराणां चयः समूहः याभ्यां तौ तादृशौ । पीयूषकरप्रभाकरौ–पीयूषकरश्चन्द्रश्च प्रभाकरः सूर्यश्च तौ । उपागतौ–प्राप्ताविति व्यलोकयमिति पूर्वश्लोकेन सम्बन्धः । अत्रोपमालङ्कारः स्पष्टः ॥७०॥

अथ स्वाभीष्टं कथयति—प्रसद्येति—

प्रसद्य सद्यस्तदमुष्य मे फलं, निवेद्यतां वेद्यविवेदकोविद !
न सुभ्रुवां तत्त्वविवर्तवर्त्तनी–प्रवर्त्तिनी खल्ववलोक्यते मतिः ॥७१॥

व्याख्या—वेद्यविवेदकोविद !–वेद्यो ज्ञातव्यो यो विवेदः विशिष्टज्ञानम् विशेषेण विदन्त्यर्था अनेनेति तस्य कोविद ! पण्डित ! ज्ञातव्यज्ञानाभिज्ञ ! तत्–तस्मात् । प्रसद्य–प्रसन्नो भूत्वा, अन्यथा वैपरीत्यमपि कदाचित् संभाव्यते इति भावः । सद्यः–स्तत्कालम्, अनेन स्वोत्कण्ठातिशयः सूचितः । मे–मम । अमुष्य–अस्य स्वप्नस्य । फलं–परिणामम् । निवेद्यताम्–कथ्यतां । ननु त्वं चेत् स्वयमेव जानासि तर्हि मम कथनेनालमित्यत आह— खलु–यतः । सुभ्रुवां–नारीणां । मतिः–बुद्धिः । तत्त्वविवर्तवर्त्तिनीप्रवर्तिनी–तत्त्वस्य सारांशस्य यो विवर्त्तः परिणामः तस्य वर्त्तनी मार्गः, तत्र प्रवर्त्तिनी प्रवृत्तिशीला रहस्यं ज्ञातुं प्रवृत्ता । न–नैव । अवलोक्यते–दृश्यते, अतस्तवकथनमावश्यकम्, स्वतस्तत्त्वाज्ञानादिति भावः । "पद्धतिर्वर्त्मवर्त्तनी" इति हैमः । अत्रोत्तरार्धवाक्यार्थस्य पूर्वार्द्धवाक्यार्थे हेतुत्वोपगमात् काव्यलिङ्गम् ॥७१॥

अथ राज्ञोवचनोपक्रममाह—निपीयेति—

निपीय तस्या वदनेन्दुसंभवं, वचोऽमृतं क्ष्मापतिरभ्यधादिति ।
शुभे पुरासञ्चितपुण्यसञ्चये, त्वयोदितस्वप्नफलं निशम्यताम् ॥७२॥

व्याख्या—क्ष्मापतिः—क्ष्मायाः मह्याः पतिः राजा । तस्याः—निजप्रियायाः । वदनेन्दुसम्भवं—वदनं मुखमिन्दुश्चन्द्र इव वदनमेववेन्दुर्वदनेन्दुः स सम्भवः उत्पत्तिस्थानं यस्य तत् मुखचन्द्रनिर्गतं । वचोऽमृतं—वचो वचनमेवामृतं सुधा तत् । निपीय—सादरं श्रुत्वा । इति—वक्ष्यमाणप्रकारम् । अभ्यधात्—कथितवान् । इतीति किमित्याह—शुभे—शुभगुणयुक्ते । पुरासञ्चितपुण्यसञ्चये—पुरा पूर्वजन्मनि सञ्चित उपार्जितः पुण्यस्य सुकृतस्य सञ्चयः राशिर्यया सा तत्सम्बोधने, पुराकृतपुण्यशालिनि । त्वया—भवत्या । उदितस्वप्नफलं—उदितस्य कथितस्य स्वप्नस्य फलं । निशम्यताम्—श्रूयताम् । अत्र रूपकालङ्कारः । यद्वा निपानलक्षितश्रावणप्रत्यक्षकर्मताया: वचस्येव नत्वमृते सम्भवेन अमृतमिव वचः इत्युपमितसमासस्यैवाश्रयणीयतया प्रधानस्य तस्य वचसः इन्दूद्भवत्वाभावेन इन्दुरिव वदनमितीहाप्युपमित समासस्यैवाश्रयणेन वदनसम्भवतायाः स्थिरीक्रियमाणतया उपमानुप्राणितोपमालङ्कारः ॥७२॥

अथ राज्ञोक्तं फलमाह—यश इति—

यशोविनिर्धूतसुधांशुमण्डलौ, प्रतापसन्तर्जितसूरमण्डलौ ।
वसुन्धरामण्डलमण्डने श्रिया, भविष्यतस्ते तनयौ नयोज्वलौ ॥७३॥

व्याख्या—यशोविनिर्धूतसुधांशुमण्डलौ—यशसा कीर्त्या विनिर्धूतं तिरस्कृतं सुधांशोश्चन्द्रस्य मण्डलं बिम्बं याभ्यां तौ तादृशौ चन्द्रबिम्बादपि तद्यशसोऽधिकशुभ्रत्वादिति भावः । प्रतापसन्तर्जितसूरमण्डलौ—प्रतापेन स्वतेजसा सन्तर्जितं भर्त्सितं सूरस्य सूर्यस्य मण्डलं बिम्बं याभ्यां तौ तादृशौ "सूरसूर्यार्यमादित्ये" त्यमरः । सूरादप्यधिकचण्डत्वात्तत्तेजस इति भावः । नयोज्ज्वलौ—नयेन नीत्या उज्ज्वलौ विशुद्धौ प्रशस्तनीतिमन्तौ । श्रिया—शोभया लक्ष्म्या च । वसुन्धरामण्डलमण्डने—वसुन्धरा पृथिवी तस्या मण्डलं वलयं तस्य मण्डने भूषणरूपे । 'विभूषणं मण्डन' मित्यमरः । ते—तव । तनयौ—पुत्रौ । भविष्यतः—जनिष्यतः । अत्रोपमानाभ्यां चन्द्रसूराभ्यामाधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकः ॥७३॥

अथ फलश्रवणानन्तरं राज्ञीकर्त्तव्यमाह—इतीरितमिति—

इतीरितं स्वप्नफलं प्रियेण सा, निशम्य सम्यक्परिभूतसंशया ।
ममास्त्विति स्पष्टनिवेदनोन्मदा-निजांशुके ग्रन्थिनिबन्धनं व्यधात् ॥७४॥

व्याख्या—सा—अभिनन्दिता । प्रियेण—कान्तेन । इति—पूर्वोक्तप्रकारम् । ईरितं—कथितं । स्वप्नफलं—दर्शनपरिणामं । निशम्य—श्रुत्वा । सम्यक्परिभूतसंशया—सत्यस्वरूपतया परिभूतः दूरीभूतः संशयः शुभस्य स्वप्नस्य फलं न वेत्याकारकसंदेहः यस्या सा तथाभूता सती । मम—मदर्थं । तदितिशेषः । अस्तु—भवतु । इति—इत्थं । स्पष्टनिवेदनोन्मदा—स्पष्टं प्रकटं यन्निवेदनं ज्ञापनं तेनोन्मदा प्रचुरहर्षाकुला ।

निजांशुके–स्वसूक्ष्मवस्त्रे । **ग्रन्थिनिबन्धनं**–स्मारकग्रन्थिविशेषबन्धनं । **व्यधात्**–कृतवती, शुभफलं श्रुत्वा नार्यः तत्प्राप्तिपर्यन्तं ग्रन्थिं बद्धां निजांशुके रक्षन्तीति लोकाचारः ॥७४॥

अथ तस्या गर्भधारणमाह—**तदादीति**—

तदादि गर्भं दधती व्यभादियं, सुखेन पीयूषमिवेन्दुमण्डली ।
समग्रगोत्रोज्ज्वलतां प्रकुर्वती, समुल्लसन्मौक्तिकतारहारका ॥७५॥

व्याख्या—**तदादि**–तदारभ्य । **इयं**–राज्ञी । **इन्दोर्मण्डली**–चन्द्रबिम्बं । **पीयूषम्**–अमृतमिव । **सुखेन**–सुखपूर्वकं । **गर्भं**–दोहदलक्षणं । 'गर्भस्तु दोहदलक्षणमिति' हैमः । **दधती**-धारयन्ती । **समुल्लसन्मौक्तिकतारहारका**–समुल्लसन् शोभमानः मौक्तिकतारस्य शुद्धमौक्तिकस्य "तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरणे शुद्धमौक्तिके" इति विश्वकोशः । हारः मुक्ताहार इत्यर्थः यस्या राज्याः सा तथा । पक्षे मौक्तिकतुल्यतारागां नक्षत्राणां हारः स्रग् यस्याः सा तादृशी (इन्दुमण्डली) 'तारो निर्मलमौक्तिके । मुक्ताशुद्धावुच्चनादे, नक्षत्रनेत्रमध्ययो' रितिहैमानेकार्थः । **समग्रगोत्रोज्ज्वलतां**–समग्राणां सकलानां गोत्राणां स्वपतिपितृवंशानां, पक्षे अद्रिगोत्रगिरीत्यमरवचनात् गोत्राणां पर्वतानामुज्ज्वलतां निर्मलतां यशसा, इन्दुमण्डलीपक्षे चन्द्रिकया धावल्यम् । **प्रकुर्वती**–विदधती । **व्यभात्**–शोभतेस्म । अत्रोपमाऽलङ्कारः स्पष्टः ॥७५॥

अथ गर्भधारणानन्तरं तच्चेष्टामाह—**स्वभावत** इति—

स्वभावतो राज्ञ्यपि मन्दगामिनी, विशेषतो मन्थरतामुवाह सा ।
मदानुषङ्गात् करिणीव चाटुभिः, प्रपद्यमानाऽशनभोगजं सुखम् ॥७६॥

व्याख्या—**स्वभावतः**–निसर्गात्, अपिना गर्भधारणात्तु सुतरां । **मन्दगामिनी**–मन्दं शनैर्गच्छतीत्येवंशीला मन्दगामिनी मन्थरगमनेत्यर्थः । कुलस्त्रीणां द्रुतगतिनिषेधादिति भावः । **सा**–प्रस्तुता अभिनन्दिताख्या । **राज्ञी**–अग्रमहिषी । **मदानुषङ्गात्**–'मदो दान' मित्यमरोक्तेर्मदस्य मदोदकस्य दानजलस्यानुषङ्गः संपर्कस्तस्मात् । **करिणीव**–हस्तिनीव । **चाटुभिः**–प्रियप्रायवचनैः । एतेन स्वतोऽरुचिर्दर्शिता । **अशनभोगजं**–अशनस्य–भोजनस्य भोगोऽनुभव उपभोगात्मकः, उपलक्षणतया पानादेरपि । तस्माज्जायते इति तत् । **सुखं**–सातम् । **प्रपद्यमाना**–स्वीकुर्वाणा । **विशेषतो**-अत्यन्तम् गर्भभरगुरुत्वादितिभावः । **मन्थरताम्**–सालसगमनताम् । **उवाह**–प्राप्तवती । गर्भभारगुरुत्वाद्धि स्त्रियो मन्दं चलन्तीति भावः । अत्रोपमालङ्कारः स्पष्टः ॥७६॥

अथ तस्याः दौर्हृदपूर्तिमाह—**दधारेति**—

दधार यं यं हृदि दौर्हृदं प्रिया, महल्लकानां परिपृच्छतां मुखात् ।
विबुध्य तं तं वसुधासुधाकरः, स पूरयामास सलीलमात्मना ॥७७॥

व्याख्या—प्रिया—दयिता, सा राज्ञी। हृदि—मनसि "हृन्मानसं मनः" इत्यमरः। लज्जया अप्रकटनादिति भावः। यं यं—यत्प्रकारम् 'वीप्सायां द्विरुक्तिः। दौर्हृदं—दोहदं,"दोहदं दौर्हृदं"मिति हैमः गर्भाभिलाषमितियावत्। दधार धारयामास। परिपृच्छतां—देव्याः जिज्ञासमानानां। महल्लकानां—महतः क्षीरक्षादि रूपान् विपुलान् भारान् लाति गृह्णातीति तादृशानाम् अन्तर्वेशिकानां मुखादास्यात् सकाशात्। स—श्रीषेणाख्यः। वसुधासुधाकरः—वसुधायां पृथिव्यां सुधाकरश्चन्द्ररूपः। तं तं—तत्प्रकारं, सर्वं। विबुध्य—ज्ञात्वा। सलीलम्—अनायासम्। एतेन तस्य प्रभावातिशयः सूचितः। आत्मना—स्वयमेव, न त्वन्यद्वारेण। एतेनादरातिशयः उक्तः। पूरयामास—पूरितवान्। न हि महतां किमप्यशक्यमलभ्यं वेति भावः ॥७७॥

अथ तस्याः पुत्रप्रसवमाह—गतेष्विति—

गतेषु मासेषु नवस्वनुक्षणं, दिनेषु चार्द्धाष्टमयुक्षु सप्तसु।
यथा सुमित्रा सुषुवे तथा यमौ, शुभे मुहूर्त्ते नृपतिप्रियाऽपि सा ॥७८॥

व्याख्या—अनुक्षणं—क्षणमनतिक्रम्य। नवसु—नवसंख्यकेषु। मासेषु—पक्षद्वयात्मकेषु। अर्द्धाष्टमयुक्षु—अर्धो योऽष्टमस्तेन युक्तेषु। सप्तसु—तावत्सङ्ख्येषु। दिनेषु—वासरेषु, सार्धसप्तरात्रिंदिवेष्विति भावः। गतेषु—व्यतीतेषु। एतेन गर्भसमयपूर्त्तिः प्रतिपादिता। शुभे—मङ्गलमये। मुहूर्त्ते—समयविशेषे। यथा—येन प्रकारेण। सुमित्रा—दशरथनृपस्य तृतीया पत्नी, तन्नाम्नी। तथा—तद्वत्। सा—अभिनन्दिता नाम्नी। नृपतिप्रियाऽपि—नृपते राज्ञः प्रिया दयिताऽपि। यमौ—यमलौ, तनयौ। सुषुवे—प्रसूतवती। अत्रोपमालङ्कारः स्पष्टः ॥७८॥

अथ तस्य नृपस्य पुत्रजन्मश्रवणाद् हर्षावेगमाह—स इति—

स सौविदल्लैर्युगपत् सुतद्वय—प्रसूतिवर्धापनकेन वर्द्धितः।
इदं न देयं भवतीति मानतो, विवेद न प्रीतितरङ्गितो नृपः ॥७९॥

व्याख्या—सौविदल्लैः—सुष्ठु विदं विद्वांसमपि लान्ति वशं कुर्वन्तीति सुविदल्लाः तासामिमे रक्षकाः सौविदल्लाः, तैः कञ्चुकिभिः, अन्तःपुररक्षकैः "सौविदल्लाः कञ्चुकिनः" इति हैमः। युगपत्—सकृदेव। सुतद्वयप्रसूतिवर्धापनकेन—सुतद्वययोर्या प्रसूतिर्जन्म तस्याः वर्धापनकम् हर्षोक्तिः तेन। वर्द्धितः—वर्द्धापनिकां प्रापितः, अत एव। प्रीतितरङ्गितः—प्रीत्या आनन्देन तरङ्गितः उच्छलितः, प्राप्तहर्षावेगः। स—श्रीषेणाख्यः। नृपः—राजा। मानतः—तारतम्यतः। इदम्—एतद्वस्तु। देयम्—दानयोग्यम्, अस्मै। न भवति इति—न वर्त्तत इति। न विवेद—न ज्ञातवान्। हर्षावेशात्तदयोग्यमपि ददौ इत्यर्थः। किरीटस्य राजचिह्नत्वात्तन्मुक्त्वाऽङ्गस्थं सर्वं ददाविति भावः ॥७९॥

अथ तयोः पुत्रयोः नामकरणमाह—महोत्सवेष्विति—

महोत्सवेषु प्रथितेषु सर्वतः, सरत्सु किञ्चित्समया व्यतिक्रमम् ।
स इन्दुषेणं तनयं पुरैककं, परं पुनः प्राह च बिन्दुषेणकम् ॥८०॥

व्याख्या—सर्वतः—सर्वभावेन विष्वक् च 'सर्वतो विष्वक् समन्ताच्च' इति हैमः । महोत्सवेषु—महामहेषु, पुत्रजन्मप्रयुक्तेषु । प्रथितेषु—ख्यातेषु "प्रतीते प्रथितख्यातेत्यमरः" । सरत्सु—प्रचलत्सु सत्सु । किञ्चित्—स्वल्पम् । समयाव्यतिक्रमम्—समयस्य-आचारस्य, सिद्धान्तस्य, अवसरस्य, सङ्केतस्य वा न व्यतिक्रम उल्लङ्घनं यस्मिन् कर्मणि, तद् यथा स्यात्तथा, 'समयः—सिद्धान्ताचारसङ्केतनियमावसरेषु च' इति हैमानेकार्थः । स—नृपः, श्रीषेणः । पुरा—प्रथमम् । एतेनानुक्रमो लक्षितः । एककम्—प्रथमम्, "प्राक् पुरा प्रथमे" इति हैमः । "एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा" इति विश्वः । तनयम्—पुत्रम् । इन्दुषेणम्—इन्दुषेणनामानं । पुनश्च—भूयः । परम्—द्वितीयम् । बिन्दुषेणकं—बिन्दुषेणनामानं । प्राह—कथयामास, तन्नाम व्यधात् इत्यर्थः ॥८०॥

अथ तनये जाते तस्य सौभाग्यमाह—कुशीलवाभ्यामिवेति—

कुशीलवाभ्यामिव मैथिलीपति—र्बुधोशनोभ्यामिव वासरेश्वरः ।
अयं रदाभ्यामिव गन्धसिन्धुरो, वृतः सुताभ्यां परभागमाप सः ॥८१॥

व्याख्या—कुशीलवाभ्यां—कुशलवेतिख्याताभ्यां पुत्राभ्यां 'रामपुत्रौ कुशलवावेकयोक्त्वा कुशीलवा' विति अ० वि० ३.३६८, द्वावप्येकेन वचसा कुशश्च लवश्च कुशीलवौ, राजदन्तादित्वात् साधुः । मैथिलीपतिः—मैथिल्याः वैदेह्याः पतिः प्रियः श्रीरामचन्द्रः, स इव । बुधोशनोभ्यां—बुधश्च उशना च भार्गवश्च "शुक्रो दैत्यगुरुः, काव्य उशना भार्गवः कविः" इत्यमरः । ताभ्यां । वासरेश्वरः—वासरस्य दिनस्य ईश्वरः पतिः सूर्यः, स इव रदाभ्यां—दन्ताभ्यां । "दन्तो रदः" इत्यमरः । गन्धसिन्धुरः—गन्धगज इव । अयं—प्रस्तुतः । सः—प्रसिद्धः नृपः राजा श्रीषेणः । सुताभ्यां—पुत्राभ्याम् इन्दुषेण—बिन्दुषेणाभ्यां । वृतः—युक्तः । परभागं—गुणोत्कर्षं, परभागो गुणोत्कर्षः" इति हैमः । आप—प्राप्तवान् । अत्रैकस्यैवोपमेयस्य राज्ञः अनेकोपमानप्रदर्शनात् मालोपमाऽलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—"मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते" इति ॥८१॥

अथ तयोः लालनमाह—प्रगल्भमानाविति—

प्रगल्भमानौ तनयौ दिने दिने, महीपतेस्तावपि वृद्धिमापतुः ।
भृशं प्रसूलालनकर्मणाऽमुना, नदीरयेणेव तटौ रसाप्लुतौ ॥८२॥

व्याख्या—महीपतेः—श्रीषेणराज्ञः । तौ अपि—द्वावपि । प्रगल्भमानौ—सहजप्रतिभायुक्तौ "प्रगल्भः प्रतिभान्वितः" इति हैमः । तनयौ—पुत्रौ । अमुना—विलक्षणेन । प्रसूलालनकर्मणा—"जनयित्री प्रसूर्माता जननी" इत्यमरोक्तेः, प्रसूः जननी उपलक्षणत्वात् पञ्चधात्री वा तया यल्लालनं पालनं तस्य कर्म-अनुष्ठानं तेन । नदीरयेणेव—नदीवेगेनेव । "वेगे रयः" इति हैमः । रसाप्लुतौ—रसैः जलैः पक्षे स्नेहैः आप्लुतौ व्याप्तौ । तटौ—तीराविव 'तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु' इत्यमरः । भृशमत्यन्तं वृद्धिमुपचयमापतुः प्रापतुः । अत्राऽपि उपमालङ्कारः ॥८२॥

अथ तयोः शिक्षणार्थं नृपस्य विचारमाह चतुर्भिः श्लोकैः—जनैरिति—

जनैरुपर्यासितुमादृताऽपि यत्, स्थितिस्तु नीचैरनुधावति स्वयम् ।
जडेन तेनाऽपि न कोऽपि संस्तवं, करोति तृष्णापरितापवर्जितः ॥८३॥

व्याख्या—जनैः—लोकैः । उपरि—उच्चैः, पक्षे उत्तमत्वेन, आसितुं—स्थातुं, स्थितिं कर्त्तुम् । आदृताऽपि—गृहीताऽपि, मानपूर्वकाभिलाषविषयीकृताऽपि च । यत्स्थितिः—यस्य जडस्य स्थितिः प्रकृतिः प्रवृत्तिर्वा । नीचैः—कुमार्गे निम्नप्रदेशे, च । अनुधावति—गच्छति । तेन—तादृशेन । जडेन—मूर्खेन, डलयोरैक्यात् जलेन चापि । तृष्णापरितापवर्जितः—तृष्णा धनेच्छा जलेच्छा च, तया परितापो दाहस्तेन वर्जितः रहितः निस्पृहो निस्तृषश्च । कोऽपि—कश्चिदपि । संस्तवं—परिचयं । न—नैव । करोति—विधत्ते, किञ्चिद्धनादि प्राप्तीच्छयैव लोकाः मूर्खेन परिचयं कुर्वन्ति, अन्यथा तु मूर्खोऽयमिति ततो निर्विन्दन्त्येव । तथा पिपासयैव लोकाः जलं प्रति सोत्सुकाः भवन्ति, अन्यथा तु ततो दूरादेव गच्छन्ति । अत्र शब्दशक्तिमूलो जडेन जलेनेवेति उपमाध्वनिः, नतु श्लेषः, प्रकरणेन जडपदस्य मूर्खार्थे तात्पर्यावधारणात्, जलार्थस्य वाच्यत्वाभावात् । श्लेषस्तु श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधान एव ॥८३॥

अथ निर्विद्यत्वे दूषणान्तरं चिन्तयति—सरस्वतीति—

सरस्वतीब्रह्मनिरासनस्थिते-र्बकस्य हंसस्य च जीवनाशिनः ।
समैव येषु प्रतिपत्तिरीक्ष्यते, जडाशयाँस्तानपि कोऽभिवाञ्छति ॥८४॥

व्याख्या—सरस्वतीब्रह्मनिरासनस्थितेः—सरस्वती वाणी ब्रह्मा प्रजापतिः तयोः यन्निष्कृष्टम् तत्त्वभूतम् आसनमास्यतेऽत्रेत्यासनम् "पीठमासनम्" इत्यमरकोशोक्तेः पीठम्, तत्र, आसनत्वेनेति यावत्, स्थितिरवस्थितिर्यस्य तस्य, सरस्वत्या ब्रह्मणश्च हंस आसनमिति शास्त्रम् । यद्वा सरस्वती विद्या ब्रह्म ब्रह्मचर्यं तयोः यन्निरासनम् तत्त्वतः उपासनम् तत्रस्थितिरवस्थानम्मनोयोगो यस्य तस्य हंसस्य मरालस्य "हंसेषु तु मरालाः स्युः" इति शेषनाममाला, आत्मनश्च, तथा । जीवनाशिनः—जीवान्, नाशयतीत्येवंशीलः जीवनाशी, तस्य मत्स्यादिप्राणिसमूहघातकस्य, यद्वा जीवान् नाशयति अपकरोतीति तस्य, हिंसति हिनस्ति वा तस्य, बकस्य तदाख्य पक्षिविशेषस्य, बकवत्क्रूरस्य दुर्जनस्य च । येषु—यत्र । समैव—तुल्यैव, तारतम्यविहीनैव । प्रतिपत्तिः—

आदरः। ईक्ष्यते—विलोक्यते। तान्—तादृशान्, अगुणज्ञान् जडाशयान् मन्दबुद्धीन्, डलयौरेक्यात्जलाशयाँश्च। कः—जनः। अभिवाञ्छति—अभिलषत्यपि, न कोऽपीत्यर्थः। अयं भावः कमलादिपरिपूर्णे जलाशये हंसस्य बकस्य च स्वयोग्यवस्तुलाभद्वारा तारतम्यम् प्रकटम्। पल्वले तु कमलाद्यभावाद् द्वयोः शम्बूकादिप्राप्तिरेवेति न पल्वलं जनहृदयावर्जकम् तथा प्राज्ञजनश्लाघ्नीयानुभवविवेकशालीति सम्यग्ज्ञानचारित्रादियुक्तत्वेन सदाचारिणि हिंसादिकर्तृत्वेन दुराचारिणि च स्वस्वयोग्यतापरीक्षाकरणेन तारतम्यं निश्चिनोति, नतु मूर्खः, तथाविध-ज्ञानाभावेन तारतम्यभानाऽभावादिति तादृशं मूर्खं सर्वोऽपि जिहासत्येव, न तु तं संसजति, अतः पुत्रशिक्षणमत्यावश्यकम्, यथा जनतिरस्कारविषयो मा भूदिति। अत्रापि पूर्वपद्यवज्जलाशयानिव जलाशयानिति उपमाध्वनिः शब्दशक्तिमूलः। न तु श्लेषः, प्रकरणादेकत्राऽर्थेऽभिधाया नियन्त्रितत्वात् ॥८४॥

अथ मूर्खतायां दोषमुक्त्वा सम्प्रति बुधत्वे गुणमाह—पुरन्दरस्येति—

पुरन्दरस्य त्रिदिवेऽस्ति माननां, भुजङ्गलोकेऽपि भुजङ्गमप्रभोः।
प्रजासु किञ्चिज्जयिनः प्रजापते,-र्बुधस्य सर्वत्र च बुद्धिशालिनः ॥८५॥

व्याख्या—पुरन्दरस्य—इन्द्रस्य। त्रिदिवे—स्वर्गे, नत्वन्यत्र। भुजङ्गमप्रभोः—भुजङ्गमानां सर्पाणां प्रभोरीशस्य शेषनागस्य। भुजङ्गलोके—नागलोके, पाताले इत्यर्थः, नत्वन्यत्र। किञ्चिज्जयिनः—किंचित् स्वल्पमपि जयिनः जयशीलस्य, यद्वा किञ्चित् राज्यान्तरस्य जयिनः प्रतापवतः इत्यर्थः। प्रजापतेः—प्रजानां पतिः नृपः तस्य। प्रजासु—स्वप्रजासु, नत्वन्यत्र। बुद्धिशालिनः—धीमतः। बुधस्य—विदुषश्च। सर्वत्र—स्वर्गमर्त्यपातालेषु त्रिष्वपि लोकेषु। माननां—सत्कृतिः। अस्ति—भवति। ततो विद्वत्त्वं सर्वस्मादेव श्रेष्ठमित्यर्थः। अत्र बुद्धिमत्त्वरूपेण गुणेनेतरापेक्षया बुधस्याधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः। स च त्रिदिवे नत्वन्यत्रेत्यादि परिसंख्यया परिपुष्ट इति द्वयोः सङ्करः। परिसङ्ख्यालक्षणं यथा—"प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद् वस्तुनो भवेत्। तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा" परिसंख्या इति। अत्र च अप्रश्नतः आर्थः नत्वन्यत्र माननेति परव्यवच्छेदः, तस्मात्परिसंख्यानुप्राणितोऽत्र व्यतिरेकः ॥८५॥

अथ विदुषो गुणान्तरमाह—भवन्तीति—

भवन्ति वश्या विषया बहिस्तना, नृपस्य शस्त्रैरपरे न चान्तराः।
द्वयेऽपि शास्त्रैस्तदयं विशारदै-र्विशेष आकारकृतो विभाव्यताम् ॥८६॥

व्याख्या—नृपस्य—राज्ञः। शस्त्रैः—खड्गादिप्रहरणैः, कृत्वा। बहिस्तनाः—बाह्याः। विषयाः—देशाः "विषयस्तूपवर्त्तनमदेशः" इति हैमः, पदार्थाः वा। वश्याः—अधीना। भवन्ति—जायन्ते। अपरे—अन्ये। आन्तराः—अन्तःस्थाः कामादयः। न च—नैव। शास्त्रैः—आगमैः। द्वये—उभये, बहिस्तना आन्तराश्च। विशारदैः—सूरिभिः "मेधाविकोविदविशारदसूरिदोषज्ञा" इति हैमः। तदयम्—तत्तस्मादयं, सद्यः प्रदर्शितः।

विशेषः—शस्त्रशास्त्रयोस्तारतम्यम्, दीर्घाकारेण कण्ठ्यस्वरेण कृतः प्रयुक्तः। अथ च आकृतिकृतः। विभाव्यताम्—विचार्यताम्, आकारेण लोके यथा परस्परं विशेषः भेदः तथा शस्त्रशास्त्रयोः आकारकृतः सः, शस्त्रशब्दे न दीर्घाकारस्वरः, शास्त्रे तु सोऽस्ति, ततः द्वयोः कार्येऽपि द्विगुणतारतम्यम्। एकमात्रिकह्रस्वाकारयुक्तशस्त्रेण एको बाह्य एव विषयो वश्यः, द्विमात्रिकदीर्घाकारयुक्तशास्त्रेण द्वये आन्तरा बाह्याश्च विषया वश्याः, अतः शस्त्रापेक्षया प्रथमं शास्त्रायैव प्रयतितव्यम्। यस्मिन् कृते शस्त्रकार्यमपि सेत्स्यत्येवेति शास्त्रार्थमुद्योगे महान् लाभ इति भावः। अत्र आकारकृतो विशेष इति सामान्येनार्थेन, शस्त्रशास्त्रयोर्विशेषस्य समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥८६॥

अथैवं विचारानन्तरं तत्कर्त्तव्यमाह—हृदा इति—

हृदा विचार्येति महीभुजाऽपि तौ, महाकलाचार्यसमीपमापितौ ।
स शिक्षयामास कलाः कलाशयो, गुरूँश्च ताँस्तौ विनयाद्ररञ्जतुः ॥८७॥

॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥

व्याख्या—महीभुजा—राज्ञा। इति—पूर्वोक्तप्रकारेण। हृदा—मनसा। विचार्य—विचिन्त्य। तौ—राजपुत्रौ। महाकलाचार्यसमीपम्—महान् यः कलानामाचार्यः उपदेष्टा तस्य समीपम्। आपितौ—प्रापितौ प्रेषितावित्यर्थः। स—यस्य समीपे राजतनयौ प्रेषितौ सः। कलाशयः—कला आशये यस्य स, कलाकलापज्ञः। कलाः—नृत्यगीताद्याः चतुष्षष्टिकलाः। शिक्षयामास—उपदिदेश। तान् गुरूँश्च—गुरुश्च गुरुश्च गुरुश्चेति गुरवः तान्, मातापितरौ कलाचार्यश्चेत्यर्थः। तौ—राजपुत्रौ। विनयाद्—आर्जवतः। ररञ्जतुः—प्रीणयाञ्चक्रतुः। एतेन विद्याध्ययनस्य सद्यः फलमुक्तम् "विद्या ददाति विनयम्" इत्युक्तेः। (पञ्चभिः कुलकम्) ॥८७॥

अथ अनायासेन तयोर्विद्यासम्पत्तिमाह—समेत्येति—

समेत्य विद्याः सकलाः सिषेविरे, नृपाङ्गजौ तौ विनयोपशोभितौ ।
स्वतोऽपि मासस्य च पक्षकावुभौ, तुषाररश्मेरिव चारुचन्द्रिकाः ॥८८॥

व्याख्या—सकलाः—समस्ता आन्वीक्षिक्यादयः। विद्याः कलाः। समेत्य—मिलित्वा, नत्वेकैकशः। एतेन तयोः सकृदेव सकलविद्याप्राप्तिरिति सूचितम्। विनयोपशोभितौ—विनयेनार्जवेनोपशोभितौ विलासितौ, तौ—द्वौ। नृपाङ्गजौ—राजपुत्रौ। सिषेविरे—भेजिरे। तुषाररश्मेः—चन्द्रस्य। चारुचन्द्रिकाः—चार्व्यो मनोहारिण्यो याश्चन्द्रिकास्ताः। मासस्य—पक्षद्वयात्मकस्य। उभौ—द्वावपि। पक्षकौ शुक्लकृष्णपक्षकौ। स्वतः—स्वयमिव च। न हि पक्षयोस्तदर्थं कोऽपि प्रयासः। एवं तयोरप्यनायासेनैव सकलविद्याप्राप्तिरित्यर्थः। उपमालङ्कारः ॥८८॥

अथ तयोर्गुरुकुलाद् गृहागमनमाह—समग्रेति—

समग्रविद्याकुशलौ महीभुजे, समर्पितौ तौ गुरुणा कलाविदा ।
प्रकुर्वतां प्रश्नमुदारधीमतां, दृढं हरन्तौ विषमार्थसंशयम् ॥८९॥

व्याख्या—**कलाविदा**—कलां विद्यां वेत्तीति कलाविद्, तेन शास्त्रज्ञेन । **गुरुणा**—आचार्येण । **समग्रविद्याकुशलौ**—समग्रा समस्ता या विद्या तत्र कुशलौ पारङ्गतौ, अत एव । **प्रश्नं प्रकुर्वतां**—पृच्छां विदधताम् । **उदारधीमताम्**—उदाराणां पक्षपातरहिताणां धीमतां सुधीनां । **विषमार्थसंशयम्**—विषमो गहनो योऽर्थस्य तत्तद्वस्तुनश्संशयः यद्वा विषमस्य कुशाग्रबुद्धिग्राह्यस्यातिगूढस्यार्थस्य पदार्थस्य यस्संशयः सन्देहस्तम् । **दृढं**—सयुक्तिकम् । **हरन्तौ**—दूरीकुर्वन्तौ, एतेन तयोः शास्त्रतत्त्वज्ञत्वमुक्तम् । **तौ**—राजपुत्रौ । **महीभुजे**—राज्ञे । **समर्पितौ**—प्रदत्तौ । समग्रविद्यां शिक्षयित्वा पित्रे कलाविद्गुरुस्तौ समर्पयदित्यर्थः ॥८९॥

अथ नृपस्याचार्याय पारितोषिकदानमाह—अदूष्येति—

अदूष्यवैदुष्यमवेक्ष्य चैतयो,—स्तथा सुवर्णं वितितार पार्थिवः ।
किमप्युपाध्यायवराय रञ्जितो, द्विजन्मनां येन सुवर्णताऽजनि ॥९०॥

व्याख्या—**पार्थिवश्च**—नृपः पुनः । **एतयोः**—स्वपुत्रद्वयोः । **अदूष्यवैदुष्यम्**—अदूष्यमनन्दिनीयम् । यद्वैदूष्यं पाण्डित्यं तद् । **अवेक्ष्य**—अवगम्य । **रञ्जितः**—प्रसन्नः सन् । **उपाध्यायवराय**—उपाध्यायेषु शिक्षकेषु वरः श्रेष्ठस्तस्मै । **तथा**—तेन प्रकारेण । **किमपि**—अमितं । **सुवर्णं**—हेम । **वितितार**—ददौ । **येन**—सुवर्णदानेन । **द्विजन्मनां**—ब्राह्मणानां । **सुवर्णता**—सुवर्णं काञ्चनमस्ति यस्य सः सुवर्णः, अर्शादित्वान्मत्वर्थीयोऽच् तस्य भावः सुवर्णता, सुवर्णवत्तेत्यर्थः । सुष्ठु शोभनो वर्णश्चास्ति यस्य स सुवर्णः तस्य भावस्तत्ता, वर्णेषु चतुर्विधेषु श्रेष्ठता "वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरित्युक्तेः" सुवर्णवत्ता वर्णश्रेष्ठता चेतिभावः । **अजनि**—अभूत् । अत्र वर्णश्रेष्ठत्वस्य सुवर्णदानहेतुत्वकत्वासम्बन्धेऽपि तथोक्तेरसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः । स च सुवर्णतेति श्लेषानुप्राणित इति तयोः सङ्करः ॥९०॥

अथ तयोः दिनचर्यामाह—क्षणमिति—

क्षणं धनुर्वेदविशेषशिक्षया, क्षणं कुमारौ विदुषां परीक्षया ।
क्षणं नृपोपासनया खलूरिकाश्रमेण कञ्चिद् गमयांबभूवतुः ॥९१॥

व्याख्या—**कुमारौ**—तौ राजनन्दनौ **धनुर्वेदविशेषशिक्षया**—धनुर्वेदस्य या विशेषशिक्षा उत्कृष्टाभ्यासस्तया । **क्षणं**—कञ्चिदिति परतः सम्बध्यते, कञ्चित्क्षणमित्यर्थः । **विदुषां**—पण्डितानां । **परीक्षया**—परीक्षा—

करणेन परीक्षाप्रदानेन च । क्षणं--कञ्चित्क्षणं । नृपोपासनया--नृपस्य स्वपितुः राज्ञः उपासनया सेवनया । खलूरिकाश्रमेण--खलूरिका शस्त्राभ्यासार्थभूमिस्तत्र यः श्रमः व्यायामादिकरणं, तेन च कञ्चित्क्षणं । गमयाम्बभूवतुः--व्यतिचक्रमतुः । "तद्भूः खलूरिका" इति हैमः ॥९१॥

अथ राज्ञोऽङ्गजयोः प्राप्तिस्तयोश्च विद्यादानं पितृगृहे च विनोदपूर्वकस्थितिमभिधायाग्रे तयोर्विशेषमभिधित्सुः राजनिधनजनककथान्तरमवतारयति—इतश्चेति—

इतश्च विप्रो मगधोपवर्तनोत्तमाचलग्रामनिवासविश्रुतः ।
अपारशास्त्राम्बुधिपारदृश्वनां ललामभूतो धरणीजटोऽभवत् ॥९२॥

व्याख्या—इतश्च-अत्रान्तरे । मगधोपवर्तनोत्तमाचलग्रामनिवासविश्रुतः--मगधाख्यं यदुपवर्तनं देशः "देशविषयौ तूपवर्तनम्" इत्यमरः । तत्र उत्तमे श्रेष्ठे अचले ग्रामे निवासेन अवस्थानेन कृत्वा विश्रुतः प्रसिद्धः अचलग्रामवास्तव्य इत्येवं प्रसिद्ध इत्यर्थः । ग्रामनाम्नाऽपि हि लोके प्रसिद्धिर्दृश्यते इति भावः । अपारशास्त्राम्बुधिपारदृश्वनाम्--अपारो निःसीमा यः शास्त्रमेवाम्बुधिः समुद्रः तस्य पारं दृष्टवन्त इति पारदृश्वानः तेषां तादृशानां । ललामभूतः--शिरोमणिरूपः । विप्रः--भूदेवः । धरणीजटः--तथानामधेयः । अभवत्--बभूव । "भूदेवो वाडवो विप्रः" इति हैमः । अत्र अपारस्य पारदृश्वा इति विरोधः । पाराभावे तद्दर्शनाऽसंभवात् । अर्थान्तरपरतया तु तत्परिहार इति विरोधालङ्कारः । ललामभूत इति च रूपकम्, द्वयोः संसृष्टिः ।।९२॥

अथ त्रिभिस्तत्प्रभावातिशयं वर्णयति—महेशमौलाविति—

महेशमौलौ पदमादधाति यो, बुधेन सार्धं विरुणद्धि यः क्षयी ।
किमश्नुते तद्व्यतिरिक्तलक्षणः, स येन किञ्चित् समतां द्विजेश्वरः ॥९३॥

व्याख्या—यः--द्विजेश्वरः । महेशमौलौ--महेशस्य महादेवस्य धनाढ्यस्य च मौलौ मस्तके । पदम्--किरणमथ च चरणम् । आदधाति--निक्षिपति । बुधेन--तदाख्यग्रहेण अथ च पण्डितेन । सार्धं--सह । विरुणद्धि--विरोधं करोति । यः क्षयी--क्षयधर्मा, कृष्णपक्षे द्विजेश्वरकलानां क्रमशोऽपचयादिति भावः । अथ च स्त्र्यादीनां समधिकसेवनजन्यक्षयरोगवांश्च । तद्व्यतिरिक्तलक्षणः--ततः पूर्वोक्तधरणीजटाद् व्यतिरिक्तानि भिन्नानि लक्षणानि यस्य सः, यतो हि धरणीजटो न धनिमौलौ चरणमादधति, न हि बुधेन विरोधं विधत्ते, न च क्षयरोगवानिति । सः--पूर्वदर्शितः । द्विजेश्वरः--चन्द्रः, 'द्विजराजः शशधरः' इत्यमरः, 'द्वयग्राभ्यां जाति-जन्म-जाः' इति हैमः । द्विजेषु-ब्राह्मणेषु ईश्वरः समृद्धो ब्राह्मणश्च । येन--धरणीजटाख्येन द्विजराजेन । किञ्चित्--ईषदपि । समतां--साम्यम् । अश्नुते किम्--प्राप्नोति किम्? नैवाप्नोतीत्यर्थः । अत्रोपमानचन्द्रादेरपेक्षया धरणीजटस्याधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः ॥९३॥

अथ तस्य राजसम्मानमाह—तदद्भुतमिति—

तदद्भुतं यन्नृपसौधतोरणे, न्यधायि येनैकसुवर्णपत्रकम् ।
चकार रागं हृदि तन्महीभुजां, विनैव चूर्णं विदुषां विरागताम् ॥९४॥

व्याख्या—**येन**—धरणीजटेन । **नृपसौधतोरणे**—नृपस्य श्रीषेणराजस्य सौधस्य प्रासादस्य यत्तोरणम् । बहिर्द्वारम् "बहिर्द्वारं तु तोरणमि" ति हैमः । तत्र । **एकसुवर्णपत्रकम्**—एकं सुशोभना वर्णाः अक्षराणि यस्मिन् तादृशम्, यत् पत्रकम्, पत्रमेव पत्रकं विन्यस्तशोभनाक्षरपत्रमित्यर्थः, प्रशस्तिपत्रमिति यावत् । **न्यधायि**—स्थापितम् लम्बितम् । **तत्**—पत्रं । **चूर्ण**—वशीकारविद्वेषणसाधनरजः, रागद्रव्यविशेषश्च । **तद्विनैव**—तदन्तरेणैव । **महीभुजां**—राज्ञां । **हृदि**—चित्ते । **रागम्**—प्रीतिम् अलौकिकप्रतिभया तत्प्रशस्तेर्निर्माणात् सर्वेषामेव हृदि तस्याः प्रीतिजनकत्वात्,यदुक्तं भगवता हेमचन्द्रेण"काव्यमानन्दाये" ति ।**विदुषां**—पण्डितानां हृदीत्यनुषज्यते । **विरागताम्**—अप्रीतिम्, स्वस्य तादृशप्रसस्तिनिर्माणेऽसमर्थत्वात् परोत्कर्षाऽसहिष्णुत्वाच्चेतिभावः । **यच्चकार**—विदधे । **तदद्भुतम्**—अलौकिकम्, नह्येकमेव वस्तु परस्परविरुद्धकार्यद्वयसाधकं क्वापि प्रसिद्धम्, न वा तन्त्रप्रतिपादितचूर्णादिव्यतिरेकेण मोहनं विद्वेषणं वा क्वापि दृष्टमित्यद्भुतमेवैतदितिभावः । अत्र चूर्णादिं हेतुं विनैव रागादिकार्योत्पत्तिवर्णनाद्विभावनाऽलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—"विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते" इति । किञ्च एकस्यैव महीभुजां हृदि रागजनकसुवर्णपत्रकस्य विदुषां हृदि तद्विरुद्धविरागजनकत्वमिति विषमाऽलंकारः । तल्लक्षणं तथा—"विरुद्धयोः सङ्घटना या च तद्विषमं मतम्," इति । तयोश्च सुवर्णपत्रकरूपैकाश्रयानुप्रवेशरूपसङ्करः ॥९४॥

अथ तस्य सकलशास्त्रज्ञत्वं वर्णयति—अनाप्नुवन्निति—

अनाप्नुवन् येन समानतां गुरु-र्विवादकाष्ठां कलयन् बृहस्पतिः ।
प्रपद्य तन्नास्तिकभावमात्मनो, दिवं समासाद्य सजीवतां ललौ ॥९५॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

व्याख्या—**येन**—धरणीजटेन । **विवादकाष्ठाम्**—शास्त्रार्थस्य काष्ठामुत्कृष्टताम् । **कलयन्**—प्राप्तः, शास्त्रार्थं कुर्वन्नित्यर्थः । **गुरुः**—महान् अथ चोपदेष्टृत्वेनाचार्यत्वेन वा ख्यातः । **बृहस्पतिः**—सुराचार्यः 'बृहस्पतिः सुराचार्यः' इति हैमः । **समानतां**—समकक्षताम् । **अनाप्नुवन्**—अलभमानः, हीनतां गतः पराजित इति यावत् । **तत्**—तस्मात् कारणात् लज्जया इतिशेषः । **आत्मनः**—स्वस्य । **नास्तिकभावम्**—नास्तिकस्य नास्त्यात्मा पुण्यं पापञ्चेति बुद्धिर्यस्य स नास्तिकः तस्य, यद्वा नास्ति परलोकं तत्साधनमदृष्टं तत्साक्षीश्वरो वेति मतिर्यस्य स नास्तिकः तस्य चार्वाकस्य भावं तत्त्वं । **प्रपद्य**—प्राप्य, स्वं सङ्क्षेप्य इत्यर्थः, महतः पराजितस्य हि

लोकेभ्यः स्वसङ्गोपनं प्रसिद्धमिति भावः। दिवं—स्वर्गं। समासाद्य—प्राप्य। इह पराजितस्य स्वर्गगमनं न विरुद्धयते इति भावः। सजीवतां—जीवेन जीवनेन जीवेतिनाम्ना च सह सजीवः, तस्य भावस्तत्तां, स्वर्गतस्य तत्र जीवेन शरीरग्रहणं नामग्रहणञ्च भवत इति भावः। ललौ—प्राप्तवान्। अत एवात्र स न दृश्यते इति ध्वनिः। यद्वा स—बृहस्पतिः। जीवतां—ललौ, जीवो बृहस्पतिः तस्य भावः जीवता, तां स्वर्गतस्सन् स्वीकृतवानिति "बृहस्पतिः सुराचार्यो जीवः" इति हैमः। अत्र हि असुराणामुपदेशाय बृहस्पतिर्नास्तिकतामङ्गीचकारेति पौराणिकी कथाऽनुसन्धेया। अत्र च धरणीजटेन शास्त्रार्थे पराजितत्वमध्यवसीयते इति असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः, तथा नास्तिकभावमित्यादिसामान्यविशेषणोपादानेन बृहस्पतौ मृतात्मव्यवहारसमारोपाद् समासोक्तिः। तथा गुरुः वाक्पतिरपि शास्त्रार्थे धरणीजटेन पराजितः, का चर्चाऽन्येषाम् इति गुरुरित्यादिविशेषणानां साभिप्रायत्वाद् परिकराऽलङ्कारश्च "उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः," इति तल्लक्षणात्। तथा च त्रयाणामेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः ॥९५॥

अथ तस्य पत्नीं वर्णयति—अभूदिति—

अभूद्यशःपूर्वपदा जनीपदा-श्रिताऽपि भद्रा किल तस्य धीमती।
उवास यस्या हृदि नैव मत्सरो, भ्रमत्सरोषापरसंस्तवेऽप्यहो ॥९६॥

व्याख्या—तस्य—धरणीजटस्य। किलेति—निश्चये। यशःपूर्वपदा—यशःशब्दः पूर्वपदं वाचकत्वेन नाम्नि यस्याः सा। भद्रा—भद्राशब्दवाच्या यशोभद्रा इति नाम्नीत्यर्थः। धीमती—बुद्धिमती। जनीपदम्—जनी इति पदं जनीपदं तेनाऽऽश्रिता वाच्यत्वेन या सा, वधूपदवाच्या, दयितेत्यर्थः। अभूत्—अजनि। अपीति—वाक्यालङ्कारे, अथवा विरोधे, यशःपूर्वपदाऽपि जनीपदाश्रिता इतिविरोधः। यशःपूर्वपदस्य शब्दस्य जनीपदाश्रितत्वाघटनाद् पूर्वोक्तार्थेन तु तत्परिहारः, यद्वा जनीति पृथक्पदम् भार्येत्यर्थः। "वधूर्भार्या जनी" इति हैमः। पदाश्रिताऽपि स्वस्वामिचरणसेविकाऽपीत्यर्थः। यस्याः—यशोभद्रायाः। हृदि—चित्ते। भ्रमत्सरोषाऽपरसंस्तवेऽपि—भ्रमत्सञ्चरन्, अथ च सरोषः सक्रोधः यः अपरोऽन्यो जनः तेन संस्तवः परिचयः तस्मिन्सत्यपि सक्रोधजनसंपर्केऽपि। मत्सरः—द्वेषः। नैव-न, उवास—स्थितवान्। अहो—इत्याश्चर्ये, द्वेषशून्यम् तस्याः हृदयम् परस्य सत्यप्यपराधे क्षमाशीलेति यावत्। अत्र पूर्वार्धे विरोधाऽलङ्कारः। उत्तरार्धे तु मत्सरहेतुसक्रोधपरिचयेऽपि कार्यस्य मत्सरस्याभावोक्तेः विशेषोक्तिरलङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—"सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः प्रकीर्त्तिता" इति। एवञ्च द्वयोरेकाश्रयानुप्रवेशः सङ्करः ॥९६॥

अथ प्रकारान्तरेण तामेव वर्णयति—विवेकेति—

विवेकरत्नाभरणेन भूषितं, यदीयमन्तःकरणं विदिद्युते।
अवाप्तबाह्याभरणा शिवाऽपि यत्, स्वरूपतामञ्चति न स्वरूपतः ॥९७॥

(युग्मम्)

व्याख्या—**यदीयम्**—यस्या इदं यदीयं यत्सम्बन्धि, यशोभद्राया इत्यर्थः। **अन्तःकरणं**—हृदयं। **विवेकरत्नाभरणेन**—विवेकः सदसद्विवेचनमेव रत्नाभरणं तेन। **भूषितम्**—अलङ्कृतम् युक्तमिति यावत्, एवम्भूतं सत्। **विदिद्युते**—विललास। **अवाप्तबाह्याभरणा**—अवाप्तं धृतं बाह्यमाभरणमलङ्करणं यया सा तादृशी। **शिवापि**—पार्वत्यपि। **स्वरूपतः**—आकृतितः, यस्या यशोभद्रायाः, यद्वा अवाप्तबाह्याभरणाऽपि शिवा। अपिना यशोभद्रायाः बाह्याभरणराहित्यं सूच्यते। यस्याः यशोभद्रायाः। **स्वरूपतां**—साम्यं। **न अञ्चति**—नैव प्राप्नोति। साभरणाया निराभरणया साम्याभाव उचित एव। एतेनावाप्तबाह्याभरणा शिवाऽपीत्यनेनाभ्यन्तराभरणाऽभावस्तस्यास्सूचितः, तथा चाभ्यन्तराभरणस्यैव वास्तविकत्वेन तद्भूषिताया यशोभद्रायाः, शिवापेक्षयाऽऽधिक्यं प्रतिपादितमितिभावः। अत्र विवेकरत्नाभरणेनेति रूपकम्, रत्नेन भूषितत्वमन्यत्, विवेकेन च भूषितत्वमन्यत्, द्वयोर्भेदेऽपि अभेदोक्तेरतिशयोक्तिः, सा च पूर्वोक्तरूपकानुप्राणिता, तथा बाह्याभरणस्य सौन्दर्यातिशयजनकत्वात्तथाभूताया अपि शिवायाः सौन्दर्येण तत्साम्यालाभोक्तेः हेतौ सत्यपि कार्यानुत्पत्तिवर्णनात् विशेषोक्तिः। यशोभद्रायाः विवेकाभरणयुक्तत्वात् शिवायाश्च तदभावात् साम्यालाभ इति विवेकरत्नाभरणेनेत्यस्य साम्यालाभे हेतुत्वावगमात्काव्यलिङ्गम्। किञ्चात्र विरोधाभासः, साभरणायाः साभरणायाः परस्परं साभरणत्वेनैव साम्यस्य निर्विवादत्वात्, तत्परिहारस्तु विवेकविशेषणेनापरत्र बाह्यविशेषणेन, तेषां सर्वेषाञ्च सङ्करः ॥९७॥

(युग्मम्)

अथ तयोः सौख्यं वर्णयति—तया सममिति—

तया समं भोगपरम्परामयं, सुखं समास्वादयतो द्विजन्मनः।
कियाननेहा व्रजतिस्म यामवत्, क्षणे क्षणे यः सृजतिस्म संमदम् ॥९८॥

व्याख्या—**तया**—यशोभद्रया। **समं**—सह। **भोगपरम्परामयं**—भोगस्य उपभोगस्य स्रक्चन्दनवनितादेः परम्परा श्रेणी तन्मयं तत्प्रचुरं। **सुखम्**—आनन्दं। **समास्वादयतः**—अनुभवतः। **द्विजन्मनः**—धरणीजटस्य, विप्रस्य। **यामवत्**—प्रहरवत्, "यामः प्रहर" इति हैमः। **कियान्**—कतिसंख्यकः। **अनेहा**—समयः, "स्यात् कालः समयो दिष्टाऽनेहसौ" इति हैमः। **व्रजतिस्म**—व्यत्यगात्। **यः**—कालः। **क्षणे क्षणे**—प्रतिक्षणम्। **संमदं** हर्षम्, "मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदाः" इत्यमरः। **सृजतिस्म**—जनयतिस्म। अत्र कतिसंख्यककालस्य यामात्मना सम्भावनादुत्प्रेक्षा ॥९८॥

अथ तयोः पुत्रप्राप्तिमाह—तयोरिति—

तयोरभूतां तनयौ सुलक्षणौ, सुयुग्मजाताविव रूपसम्पदाम्।
अभिख्ययाऽऽद्य किल नन्दिभूतिकः, परः पुनः श्रीयुतभूतिसंज्ञकः ॥९९॥

व्याख्या—**तयोः**—दम्पत्योः। **रूपसम्पदा**—सौन्दर्यसमृद्धया। **सुयुग्मजाताविव**—सुशोभनौ यौ युग्मजातौ यमलजौ अश्विनीकुमारौ तद्वत् यमलजानां प्रायः सरूपत्वादिति भावः। **सुलक्षणौ**—सामुद्रिकोक्त-शुभलक्षणयुक्तौ। **तनयौ**—पुत्रौ। **अभूताम्**—अजनिषाताम्। **आद्यः**—ज्येष्ठः। **किलेति**—वाक्यालङ्कारे। **अभिख्यया**—नाम्ना। **नन्दिभूतिकः**—नन्दिभूतिरिति। **पुनः**—भूयः। **परः**—द्वितीयः। **श्रीयुतभूतिसंज्ञकः**—श्रीयुतः श्रीशब्दयुक्तो यः भूतिः—भूतिशब्दः तत्संज्ञकः तन्नामा श्रीभूतिनामेत्यर्थः। अत्र द्वयोः युग्मजातत्वा-भावात्तत्त्वेन सम्भावनमित्युत्प्रेक्षा ॥९९॥

अथ तस्य तृतीयपुत्रोत्पत्तिवर्णनोपयुक्तां दासीं वर्णयति—**पराऽपीति**—

पराऽपि तद्वप्तुरभून्निकेतने. सनातनश्रीभवदुच्चकेतने ।
अनेकनानाविधकर्मकर्मठा,-ऽशठाऽपि दासी कपिलाऽभिधानतः ॥१००॥

व्याख्या—**तद्वप्तुः**—तयोः नन्दिभूतिश्रीभूतिपुत्रयोः वप्ता पिता तस्य धरणीजटस्य। **सनातनश्रीभवदु-च्चकेतने**—सनातना पौर्वापर्यादागता सार्वदिकी या श्रीः सम्पद् तया, भवत् उच्चं केतनं पताका यस्मिन् तादृशे, 'पताका केतनं' इतिहैमः। धनाढ्या हि स्वगृहे महत्त्वसूचकं केतनं स्थापयन्तीति भावः। **निकेतने**—सद्मनि। **अनेकनानाविधकर्मकर्मठा**—अनेकानि बहूनि यानि नानाविधानि प्रत्येकं विभिन्नप्रकाराणि कर्माणि कार्याणि तत्र कर्मठा दक्षा। अथ च **अशठा**—अनलसा "शठो निष्कृतिकोऽलसः" इत्यमरः। **अभिधानतः**—संज्ञातः। **कपिला**—तन्नाम्नी। **परा**—उत्तमा अन्या वा। **अपि**—पुनः। **दासी**—भुजिष्या। **अभूत्**—जाता ॥१००॥

अथ तत्सुतं वर्णयति—**सुत इति**—

सुतस्तदीयस्तदभिख्यया जनै-रवाचि यत् तत्कपिलोऽत्र विश्रुतः ।
अहार्यमेधाभवनं सकृच्छ्रुत - ग्रहाग्रही संवरवैरिविग्रहः ॥१०१॥

व्याख्या—**तदीयः**—दास्याः। **सुतः**—पुत्रः। **तदभिख्यया**—तस्या दास्याः अभिख्यया नाम्ना। **जनैः**—लोकैः। **यत्**—यस्माद्धेतोः। **अवाचि**—कथितः, दासीपुत्रोऽयमिति परिचयार्थं लोकैः स मातृनाम्नै-वाहूत इत्यर्थः। **तत्**—तस्मात्। **कपिलः**—इति नाम्ना। **विश्रुतः**—प्रसिद्धः। **अत्र**—इह लोके। **अहार्यमेधाभ-वनम्**—अहार्या अनपायिनी, दृढा या मेधा धारणावती बुद्धिस्तस्याः भवनमाश्रयः दृढमेधावी, इत्यर्थः। अत एव **सकृच्छ्रुतग्रहाग्रही**—सकृत् एकवारमपि यच्छ्रुतं तस्य ग्रहे ग्रहणे धारणे आग्रही परायणः, श्रुतधर इत्यर्थः। तथा **संवरवैरिविग्रहः**—संवरस्य तदाख्यासुरस्य वैरी शत्रुः कामः स इव विग्रहः शरीरं यस्य तादृशः, माराभिरामः, अमूदिति शेषः। "शंबरारिर्मनसिजः", इति, "शरीरं वर्ष्म विग्रहः" इति चामरः ॥१०१॥

अथ तस्य विद्याध्ययनमाह—निजाङ्गजाविति—

निजाङ्गजावद्भुतरूपवैभवौ, त्रयीमुखोऽध्यापयितुं त्रयीमयम् ।
परिश्रमं यं निरमादनुत्तरं, स एष जज्ञे कपिले फलेग्रहिः ॥१०२॥

व्याख्या—**अयम्**—असौ । **त्रयीमुखः**—विप्रः, स वेदविद्, धरणीजटः, "ब्राह्मणस्तु त्रयीमुख" इति हैमः । **अद्भुतरूपवैभवौ**—अद्भुतो अभूतपूर्वः रूपस्य वैभवो रूपसम्पद् ययोस्तौ, निरतिशयसौन्दर्यसम्पन्नौ । **निजाङ्गजौ**—निजौ स्वौ अङ्गजौ, पुत्रौ । **त्रयीम्**—वेदत्रयम्, 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी' त्यमरः, 'स्त्रियामृक्-सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी' त्यप्यमरः । त्रयीमयम् इत्यन्वयकरणे तु वेदमयमित्यर्थो करणीयः । प्रारंभेऽय-मिति नानुसन्धेयमिति । **अध्यापयितुं**—शिक्षयितुं यं यत्प्रकारम् । **अनुत्तरं**—अविद्यमानः उत्तरः प्रधानः यस्मात्तादृशं सर्वोत्कृष्टं । **परिश्रमम्**—आयासं । **निरमात्**—व्यधात् । **स एष**—श्रमः सः । **कपिले**—कपिलापुत्रे **फलेग्रहिः**—फलप्राप्त्याऽवन्ध्यः, सफल इति यावत्, 'फलावन्ध्यः फलेग्रहि' रिति हैमः । **जज्ञे**—जातः, महता हि कृतो यत्नः लक्ष्यस्यायोग्यत्वादन्यत्रापि फलवान् भवत्येवेति भावः । अत्र यदर्थमुद्यमः न तत्र फलम् किन्त्वन्यत्रेति विरुद्धसंघट्टनाद्विषमाऽलङ्कारः, स च कपिले फलेग्रहिरित्युक्त्या यदर्थउद्यमस्तत्र फलाभावबोधन प्रयुक्तपरिसंख्यानुप्राणित इति द्वयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥१०२॥

अथ नह्यन्यार्थं कृत उद्यमोऽन्यत्र फलवान् भवतीत्याशङ्क्य तत्र युक्तिमाह—**समीपवर्त्तीति**—

समीपवर्ती च स पारिचारिकः, तयोरधीतौ समजायताधिकम् ।
प्रमादसन्दर्भविमर्दनोद्यताः, प्रकुर्वते किं न गुणार्थिनः खलु ॥१०३॥

व्याख्या—**तयोः**—नन्दिभूतिश्रीभूत्योः । **समीपवर्ती**—समीपे अन्तिके परिचर्यादिकरणेन कृत्वा वर्त्तते इत्येवंशीलोऽन्तिकचरः । **स च**—स एषः कपिलः । **पारिचारिकः**—सेवकः । **अधीतौ**—अध्ययने । **अधिकं**—विशेषं यथा स्यात्तथा । **समजायत**—अभवत् "नियोज्यः परिचारकः" इति हैमः । ननु सामीप्य-मात्रतः कथमेवमजनि, तत्राह—प्रमादेति, **प्रमादसन्दर्भविमर्दनोद्यताः**—प्रमादस्य "प्रमादोऽनवधानता" इत्यमरोक्तेः अनवधानतायाः यः संदर्भः परम्परा प्रकरणं वा तस्य विमर्दने उन्मूलने उद्यताः सन्ततोद्यम-शीलाः अप्रमत्ताः स्वकार्यं प्रति इत्यर्थः । **गुणार्थिनः**—गुणगृद्धवः । **किं न**—तत्किं यन्न । **खलु** निश्चयेन । **प्रकुर्वते**—प्रविदधते, अपि तु सर्वमेवासाध्यमपि प्रकुर्वते इत्यर्थः । अत्र कपिलस्याध्ययनेऽधिकत्वरूपविशेषस्य अप्रमत्ताः सर्वं कुर्वन्तीति सामान्येन समर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥१०३॥

अथ तस्योद्योगप्रकारमाह—यथा यथेति—

यथा यथा ऋग्गणसारणामिमौ, कराङ्गुलीभिः कुरुतः स्म नोदितौ ।
तथा तथा कापिल एष मूकवत्-तटस्थितः सर्वमबुद्ध बुद्धिभृत् ॥१०४॥

व्याख्या—**नोदितौ**—पित्रा प्रेरितौ । **इमौ**—नन्दभूतिश्रीभूती । **कराङ्गुलीभिः**—करस्य पाणेरङ्गुलीभिः । **यथा यथा**—यादृग् यादृग्, वीप्सायां द्विरुक्तिः । **ऋग्गणसारणाम्**—ऋचां वेदमन्त्राणां गणः समूहः तस्य सारणां प्रवृत्तिम् प्रस्तारं मात्रागणनामित्यर्थः, ऋगध्ययनकाले हि छात्राः अङ्गुलिपर्वसु मात्रां गणयन्तीति व्यवहार इति भावः । **कुरुतः स्म**—विदधतः स्म, । **मूकवत्तटस्थितः**—मूकः वाग्धीनस्तेन तुल्यम् मूकवत्तटस्थितः, एकभागे स्थितः, किञ्चिदवदन्नेव नातिदूरप्रदेशस्थितः । **एषः** प्रस्तुतः । **कापिलः**—कपिल एव कापिलः । **बुद्धिभृत्**—बुद्धिं बिभर्तीति बुद्धिभृत्, धीमान्, । **तथा तथा**—तेन तेन प्रकारेण । **सर्वम्**—ज्ञातव्यमखिलम् । **अबुद्ध**—ज्ञातवान् । एतेन तस्यासाधारणप्रतिभा सूचिता । बुद्धिमतां शैलीमात्रमलमिति—भावः ॥१०४॥

अथ तत्पुत्राभ्यां तस्य वैशिष्ट्यमाह—प्रपाठ्यमानावपीति—

प्रपाठ्यमानावपि शाठ्यमानितौ, हठेन पित्राऽपि मठेऽपि नन्दनौ ।
तथा न वेदार्थविशेषवेदिना-वुपेक्षमाणोऽपि यथा स कापिलः ॥१०५॥

व्याख्या—**पित्राऽपि**—जनकेनापि, अपिना शिक्षकान्तरवैलक्षण्यं सूचितम्, पुत्राध्यापने पितुः यत्न-विशेषस्यावश्यम्भावादितिभावः । **मठेऽपि**—स्वमन्दिरे छात्रालयेऽपि च "मठश्छात्रादिनिलय" इत्यमरः । अपिना इतरछात्रापेक्षयाऽत्र यत्नाधिक्यमुक्तम् । **हठेन**—बलात्कारेणाऽपि । **प्रपाठ्यमानौ**—अध्याप्यमानौ तौ । **नन्दनौ**—विप्रपुत्रौ, नन्दिभूतिश्रीभूती । **शाठ्यमानितौ**—शाठ्यं शठतां दुष्प्रवृत्तिम् अममानादिति शाठ्यमानितौ तौ दुष्प्रवृत्तिपरायणौ पठनेऽसावधानौ । **तथा**—तादृक् । **वेदार्थविशेषवेदिनौ**—वेदार्थं विशेषेण रहस्यज्ञान-पूर्वकं वित्त इति तौ तादृशौ । **न**—नैव । **यथा**—येन प्रकारेण । **उपेक्षमाणोऽपि**—दासीपुत्रत्वेन नातिचारु-कृतोद्योगोऽपि । **स कापिलः**—कपिलः सः वेदार्थविशेषवेदीति शेषः । नह्यूषरे उप्तं बीजं फलतीतिभावः । अत्र हि श्रमसत्त्वेऽपि फलाभावे शाठ्यमानितौ इत्यस्य पदार्थस्य हेतुत्वावगमात् काव्यलिङ्गम् । वस्तुतस्तु कविप्रतिभोत्थापितार्थ एवालङ्कारचर्चा न लोकप्रसिद्धार्थे इति अत्र वस्तुकथनमात्रम् ॥१०५॥

अथ महत्त्वाकाङ्क्षया तस्य प्रवृत्तिमाह—अधीत्येति—

अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगत-श्च्छलेन केनापि गृहात् स निर्गतः ।
निरीक्ष्यमाणः सकलां वसुन्धरां, क्रमात् पुरं रत्नपुरं समासदत् ॥१०६॥

व्याख्या—सः—कपिलः । शास्त्राणि—सर्वशास्त्रम् । अभियोगयोगतः—अभियोगः, उद्यमः तस्य योगतः "अभियोगोद्यमौ" इति हैमः । पित्रापाठनेऽप्रेरणेऽपि स्वयं पठनादिति । अधीत्य—प्रपठ्य । केनापि—कल्पितेन । छलेन—व्याजेन निमित्तेन । गृहात्—स्वसद्मनः । निर्गतः—निष्क्रान्तः, गृहे गुप्ताध्ययनस्य कदाचित् प्रकाशेऽपमानसम्भवात् । अप्रकाशेऽपि योग्यताऽनुरूपमानाऽलाभाच्च । बहिर्गत्वैव महत्त्वलाभसम्भवादितिभावः । सकलां—समग्रां । वसुन्धरां—पृथ्वीं । निरीक्ष्यमाणः—अवलोकमानः । क्रमात्—क्रमशः । रत्नपुरं—तन्नाम । पुरं नगरं । समासदत्—प्राप्तवान् ॥१०६॥

अथ सन्मानप्राप्त्यर्थं तस्य तत्रत्यकृत्यमाह पञ्चभिः श्लोकैः—प्रकाशयन्निति—

प्रकाशयन् ब्राह्मणतां यथास्थितां, विनिर्मितैर्द्वादशभिर्विशेषकैः ।
समुच्चरन् श्रावकतां गुरूदितै,-र्व्रतैरिवोपासक एव कश्चन ॥१०७॥

व्याख्या—विनिर्मितैः—रचितैः । द्वादशभिः—द्वादशसंख्याकैः । विशेषकैः—तिलकैः । यथास्थिताम्—यथा योग्यतया स्थितामकृत्रिमां । ब्राह्मणतां—भूसुरतां । प्रकाशयन्—प्रकटयन्, ब्राह्मणानां द्वादश विशेषकाः, तथाहि मस्तके एकः १, भालेत्रिपुण्ड्रं ३ (२-३-४.) मूर्ध्वपुण्ड्रं १ (५) बिन्दुश्चेति १ (६) पञ्च । कर्णयोर्द्वयोर्द्वौ, २ (७-८) कण्ठे एकः १ (९) बाह्वोर्द्वयोर्द्वौ २ (१०-११) हृदये एकः १ (१२) संकलनया द्वादश इति । "तिलकतमालपत्रचित्रपुण्ड्रविशेषकाः" इति हैमः । गुरूदितैः—गुरूपदिष्टैः । व्रतैः—नियमैः । श्रावकतां—द्वादशव्रतधारिताम् । समुच्चरन्—उद्गिरन् । कश्चन—अनिर्दिष्टनामा । उपासकः—श्रमणोपासना तत्परश्चाद्धः । एव इव नूनं यथा, यथा कोऽपि कृत्रिमां श्रावकतां प्रकटयति तथा कृत्रिमां ब्राह्मणतां प्रकटयन्नित्यर्थः । अत्रोपमाऽलङ्कारः ॥१०७॥

अथ तस्य वस्त्रधारणमाह—उभे इति—

उभे वसानः स कषायवाससी, वनोत्थमाध्याह्निकपुष्पसच्छवी ।
कषायतामाशयमध्यमास्थितां, बहिर्विकृष्यैव निदर्शयन्निव ॥१०८॥

व्याख्या—वनोत्थमाध्याह्निकपुष्पसच्छवी—वनेऽरण्ये उत्थम् उद्भूतं यन्माध्याह्निकं अह्निजातमाह्निकं, आह्निकं च तत् पुष्पमाह्निकपुष्पम् "माध्यं कुन्दं" इत्यमरवचनात् माध्यस्य कुंदस्याह्निकपुष्पम् माध्याह्निक पुष्पम्, तद्धि द्वितीयदिने पर्युषितं सत् कषायवर्णं भवतीत्यत एतद्ग्रहणम्, तादृशपुष्पस्य सती शोभना छविरिव छविर्ययोस्ते तथाविधे, माध्याह्निकेतिपाठेतु मध्याह्नभवं पुष्पम् माध्याह्निकम्, तस्य सती शोभना छविरिव छविर्ययोस्ते तादृशी । उभे—द्वे । कषायवाससी—कषायवर्णे वस्त्रे । वसानः—परिदधत् । सः—कपिलः ।

आशयमध्यम्—आशयस्य मानसस्य मध्ये इति आशयमध्यम् । **आस्थितां**—कृतास्पदां । **कषायतां**—मलिन-वासनां । **बहिः**—बाह्यभागे । **विकृष्यैव**—निसार्यैव । **निदर्शयन् इव**—प्रकटयन्निवोपलक्षितः । अत्र कषाय-दृद्योरन्तःकषायात्मना सम्भावनादुत्प्रेक्षा ॥१०८॥

अथ तस्य कृत्यान्तरमप्याह—अनामिकायामिति—

अनामिकायां दधदङ्गुलीयकं, हिरण्मयं नव्यकुशोपशोभितम् ।
जनाय भक्त्या प्रणतिं प्रकुर्वते, चिराय जीवेति शुभाशिषो ददत् ॥१०९॥

व्याख्या—**अनामिकायां**—कनिष्ठापार्श्वस्थायामङ्गुल्यां । **नव्यकुशोपशोभितं**—नव्येन नूतनेनाचिरोत्पा-टनेन कुशेन दर्भेण उपशोभितं । **हिरण्मयम्**—स्वर्णविकारम् । **अङ्गुलीयकम्**—ऊर्मिकाम्, "अङ्गुलीयकमूर्मिका" इत्यमरः । **दधत्**—धारयन्, 'अशून्यन्तु करं कुर्यात् हिरण्यरजतैः कुशैः' रित्युक्तेरितिभावः । **भक्त्या**—प्रेम्णा । **प्रणतिं**—प्रणामं । **कुर्वते**—विदधते । **जनाय**—लोकाय । **चिराय जीव**—चिरं, जीव । **इति**—इत्थं प्रकारं । **शुभाशिषः**—शोभनाशीर्वादान् । **ददत्**—वितरन् ॥१०९॥

अथ तं दृष्ट्वा लोकचेष्टामाह—विवन्द्यमानः इति-

विवन्द्यमानः क्वचनापि बन्दिभि-र्विनम्यमानः क्वचनापि बाहुजैः ।
वितर्क्यमाणः क्वचनापि वाणिजैः, कुतोऽयमागादिति भाषणोन्मुखैः ॥११०॥

व्याख्या—**क्वचन**—कुत्रापि । **बन्दिभिः**—स्तुतिपाठकैः, "बन्दिनः स्तुतिपाठकाः" इत्यमरः । यद्वा वंदंते स्तुवन्ते तच्छीला वन्दिनः, तैः । **विवद्यमानः**—स्तूयमानः । **क्वचन**—कुत्रापि । **बाहुजैः**—"राजन्यो बाहुजः क्षत्रियः" इत्यमरकोशोक्तेः, क्षत्रियैः । **विनम्यमानः**—पूज्यबुद्धया प्रणम्यमानः । **क्वचन**—कुत्रापि । **कुतः**—कस्मादेशाद् । **अयं**—दृश्यमानो जनः । **आगाद्**—आगमत् । **इति**—इत्येवं । **भाषणोन्मुखैः**—वक्तुमुद्यतैः । **वाणिजैः**—व्यवहारिभिः । **वितर्क्यमाणः**—विचार्यमाणः, विलक्षणमूर्त्या तदुपस्थितेरिति भावः ॥११०॥

अथ तस्यनियतस्थानप्राप्तिमाह—अवापदिति—

अवापदध्यापकधुर्यसत्यके-र्मठं पठच्छात्रकुलैः समाकुलम् ।
अलम्बमध्यं जलराशिवज्जडैः, सरस्वती सन्ततिशालिभिर्वृतम् ॥१११॥

(पञ्चभिः कुलकम्)

व्याख्या—**जलराशिवत्**—जलराशिः समुद्रः "आकरो मकराद्रत्नाज्जलान्निधिधिराशयः" इति हैमः। तद्वत् **जडैः**—मूर्खैः। **अलब्धमध्यं**—न लब्धं प्राप्तं प्राप्यं वा मध्यं मध्यभागो यस्य स तादृशस्तम् यथा जलनिधेर्मध्यमगाधत्वान्न प्राप्नोति तथा दुर्बोधत्वाज्जडैरप्राप्यमित्यर्थः। **सरस्वतीसन्ततिशालिभिः**—सरस्वत्याः शारदायाः वाण्याश्च सन्ततिः परम्परा तेन शालन्ते शोभन्ते इत्येवं शीलाः सरस्वतीसन्ततिशालिनस्तैः विद्वद्भिः व्याख्यातृभिश्च। **वृतम्**—समन्वितम्। **पठच्छात्रकुलैः**—पठतामधीयानानां छात्राणां विद्यार्थिनां कुलैः तत्तत्समूहैः **समाकुलं**—व्याप्तम्। **अध्यापकधुर्यसत्यकेः**—अध्यापकेषु शिक्षकेषु धुर्योऽग्रेसरः यः सत्यकिः तदाख्यः भूदेवः तस्य। **मठं**—छात्रालयम्। **अवापत्**—प्राप्तवान्, स कपिल इति पूर्वेण सम्बन्धः (उपमा)॥१११॥

अथ सत्यकेरातिथ्यप्रवृत्तिमाह—तमापतन्तमिति—

तमापतन्तं समवेक्ष्य सत्यकि,-र्न्ययुङ्क्त पीठानयने बहूनयम्।
स्वयं पुनः प्रत्युदियाय साधवः, क्रमस्य निर्मान्ति नहि व्यतिक्रमम् ॥११२॥

व्याख्या—**अयं**—**सत्यकिः**—तदाख्याध्यापकोऽसौ। **तं**—कपिलम्। **आपतन्तम्**—आगच्छन्तं। **समवेक्ष्य**—दृष्ट्वा। **बहून्**—अनेकान्, शिष्यान्। **पीठानयने**—पीठस्यासनस्यानयने आनयनकर्मणि, एतेनाति-थ्योत्साहः सूचितः। **न्ययुङ्क्त**—नियोजितवान्। "विष्टरः पीठमासनमि" ति हैमः। **स्वयम्**—आत्मना। **पुनः**—च। **प्रत्युदियाय**—स्वागतार्थं प्रत्युज्जगाम, नन्वेवमुत्साहे को हेतुस्तत्राह—**हि** यतः। **साधवः**—सज्जनाः। **क्रमस्य**—अवसरोचितकर्त्तव्यस्य, शिष्टाचरितपरिपाट्या वा व्यतिक्रमम्—उल्लङ्घनं। **न**—नैव। **निर्मान्ति**—कुर्वन्ति। यदुक्तम् "तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे, नोच्छिद्यन्ते कदाचन" इति। एवं चातिथिव्यतिक्रमे साधुताहानिः स्यादिति भावः। अत्र सत्यकिकृतोत्साहस्य साधुकृत-क्रमाव्यतिक्रमरूपसामान्यार्थेन समर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥११२॥

अथाऽऽगते कपिले सत्यकेरातिथ्यप्रकारमाह—तमासन इति—

तमासने सत्यकिरासयत् स्वयं, विधाप्य पाद्यादिकमर्घ्यमादरात्।
किमातिथेयाः समुपागतेऽतिथौ, न तथ्यमातिथ्यमहो वितन्वते ॥११३॥

व्याख्या—**सत्यकिः**—तदाख्याऽध्यापकः। **आदरात्**—आदरपूर्वकं पाद्यं पादार्थमुदकं तदादिकमर्घ्यं पूजां, विधाप्य कारयित्वा, छात्रादिभिः। **स्वयम्**—आत्मनैव, तम् आगतमतिथिम्। **आसने**—पीठे। **आसयत्**—समुपावेसयत्। एवं विधाने हेतुमाह—**आतिथेयाः**—अतिथौ साधवः, अतिथिविषये आदराधिकाः। **समुपागते**—सम्प्राप्ते। **अतिथौ**—प्राघूर्णके। **किं**—किम्प्रकारम्। **आतिथ्यम्**—अतिथिसत्कारं। **तथ्यं**—

यथार्थं । न वितन्वते ?—न कुर्वन्ति, रचयन्ति ? अपितु सर्वमेव यथार्थं कुर्वन्ति । यद्वा किं तथ्यं—यथार्थमातिथ्यं न कुर्वन्ति ? अपि तु यद्यद्यथार्थमातिथ्यं तत्सर्वं कुर्वन्त्येवेतिभावः । न हि तत्र तादृशावस्थायां स्वयं वा अन्येन वेति विचारावसर इति भावः । अत्र सत्यकिकृतातिथ्यस्य विशेषस्य आतिथेयकृतसर्वयथार्थाऽतिथ्यकरणरूपसामान्येनार्थेन समर्थनात्सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥११३॥

अथ सत्यकेः कपिलेन सह विशेषपरिचयमाह—स यावदिति—

स यावदध्यापकमौलिशेखरः, प्रवर्तते प्रष्टुमिमं द्विजब्रुवम् ।
अये चतुर्वर्गफलोपपादके, श्रमः क्व शास्त्रे तव पण्डितेति तम् ॥११४॥

व्याख्या—**अध्यापकमौलिशेखरः**—अध्यापकानां शिक्षकाणां मौलीनां मस्तकानां शिरसां शेखरः आपीडः इव । **सः**—अध्यापकशिरोमणिः सत्यकिः । **यावत्**—यदवधि । **अये**—इति कोमलामन्त्रणे । **पण्डित !**—सदसद्विवेकिन् ! **चतुर्वर्गफलोपपादके**—चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गः समूहः तदेव फलं परिणामः तस्योपपादके साधके चतुर्वर्गफलाधायके । **क्व**—कस्मिन् । **शास्त्रे** । **तव**—ते । **श्रमो**—व्यवसायः । **इति**—इत्थं । **तं**—समागतमतिथिम् । **द्विजब्रुवम्**—जातिमात्रजीविनम्, "जातिमात्रजीवी द्विजब्रुव" इति हैमः । **प्रष्टुम्**—प्रश्नं कर्तुम् । **प्रवर्तते**—उपक्राम्यति, तावदित्यग्रिमश्लोकेनान्वयः ॥११४॥

स्वत एव स कपिलः स्वपरिचयमदादित्याह—स एवेति—

स एव तावत् पठतामपृच्छता-मपि व्यभैत्सीद्विषमार्थसंशयम् ।
सरस्वती वा यदि वा हरिप्रिया, तिरोहिता तिष्ठति किं मनागपि ॥११५॥

व्याख्या—**तावत्**—तदवधि । **स**—कपिल एव । **अपृच्छतामपि**—प्रश्नमकुर्वतामपि । **पठताम्**—अधीयानानां छात्राणां । **विषमार्थसंशयम्**—विषमः गहनः दुरुत्तरः दुर्बोधश्च यः अर्थस्य विषयस्य संशयः यद्वा विषमस्यातिगूढस्यार्थस्य संशयः सन्देहः, तं । **व्यभैत्सीत्**—साधुसमाधायापाकरोत् । एतेन तस्य प्रकाण्डपाण्डित्यं सूचितम् । ननु "पृच्छन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेदि" त्युक्तेरपृच्छतोऽपि प्रत्युत्तरे न्यूनतैवेति,तत्राह—सरस्वतीति । **सरस्वती**—श्रुतदेवी, वाकारोऽनास्थायाम् । **यदि वा**—अथवा । **हरिप्रिया**—हरेः विष्णोः प्रिया दयिता लक्ष्मीः । **मनागपि**—ईषदपि । **तिरोहिता**—अन्तर्भूता, गुप्ता । **तिष्ठति किम्**—नैव तिष्ठतीत्यर्थः । नहि विद्वांसोऽवसरमतिक्रामन्ति, सरस्वती वा न समये मूकत्वायेतिभावः । एवञ्च सरस्वतीप्रयुक्तैव तस्य वाचालता, न स्वत इति तस्य न अपृष्टस्यापि प्रत्युत्तरे लाघवमिति गूढाशयः । अत्र कपिलकृतप्रत्युत्तरस्य सरस्वत्या अतिरोधानरूपेणार्थेन समर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥११५॥

अथ विशेषजिज्ञासया सत्यकेस्वतस्तत्परीक्षणमाह—**अपृच्छदिति**—

अपृच्छदध्यापक एव तं चिरान्, मनःस्थितान् कांश्चन शास्त्रसंशयान् ।
बिभेद तान् सोऽपि नदीप्रवाहवत्, प्रबद्धमूलानपि मेदिनीरुहान् ॥११६॥

व्याख्या—**अध्यापकः**—शिक्षक, स सत्यकिरेव । **चिरात्**—दीर्घकालात्, स्वतः समाधानाऽस्फुरणात् समाधातुश्च तादृशस्यालम्भादिति भावः । एतेन प्रश्नस्यातिगहनत्वं सूचितम् । अत एव **मनःस्थितान्**—मनसि हृदये स्थितान् । **कांश्चन**—अनेकान् । **शास्त्रसंशयान्**—शास्त्रे शास्त्रविषये संशयान् सन्देहान् । **तम् अपृच्छत्**—कपिलं पृच्छति स्म । **स**—कपिलः । **तान्**—पृष्टान् संशयान् । पुनः, **प्रबद्धमूलान्**—प्रबद्धं निम्नमूलतया दृढं मूलं बुध्नः "मूलं बुध्नोंऽघ्रिनामक" इत्यमरः, येषां तान् तादृशान् । **अपि**—किं पुनरन्यान् । **महीरुहान्**—वृक्षान् । **नदीप्रवाहवत्**—नद्याः प्रवाहः धारावेगस्तद्वद्, एतयोपमया समाधानस्य तत्कृतानायाससाध्यत्वं सूचितम् । **बिभेद**-दूरीचकार, सयुक्तिकनिश्चयात्मकोत्तरदानादिति भावः । एतेन तत्पाण्डित्यस्य पराकाष्ठा दर्शिता । अत्रोपमालङ्कारः स्पष्टः ॥११६॥

अथ तदनन्तरं सत्यकेः सत्कारप्रकारमाह—**तमभ्यषिञ्चदिति**—

तमभ्यषिञ्चत् स्वपदेऽथ सत्यकि-श्चमत्कृतश्चेतसि तस्य संविदा ।
न किं सपर्यां रचयन्ति धीमतां, महानुभावा हि गुणानुसारतः ॥११७॥

व्याख्या—**अथ**—अनन्तरम् । **तस्य**—कपिलस्य । **संविदा**—संज्ञानेन । **चेतसि**—हृदये । **चमत्कृतः**—विस्मितः । **सत्यकिः**—तदभिधानाध्यापकः । **तं**—कपिलं । **स्वपदे**—स्वस्य निजस्य पदे स्थाने, शिक्षकस्थाने । **अभ्यषिञ्चत्**—नियुक्तवान् । नन्वेतदतिसाहसम्, स्वस्थानपरित्यागस्यासुकरत्वात्तत्राह । **हि** यतः । **महानुभावाः**-उदाराशयाः जनाः । **गुणानुसारतः**—गुणानुरोधेन । **धीमतां**—विदुषां । **किं**—किं प्रकारां । **सपर्यां**—सत्कृतिं । **न रचयन्ति**—न कुर्वन्ति, अपितु सर्वप्रकारामेव सर्वस्वाद्यर्पणादिसहितां सपर्यां कुर्वन्तीत्यर्थः । नहि गुणिनः गुणवत्सु कुण्ठितमतय इति भावः । अत्र सत्यकिकृतस्वपददानरूपविशेषार्थस्य महानुभावकर्तृकसर्वप्रकार-सपर्याकरणरूपसामान्यार्थेन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥११७॥

अथ कपिलस्याध्यापनवैचक्षण्यमाह—**समुद्येति**—

समुद्य तच्छात्रसमुच्चयं बुधस्तथा कथञ्चित् कपिलोऽध्यजीगपत् ।
यथा स दुर्बोधपदार्थबोधनात्, पुरातनस्य स्मरति स्म नो कवेः ॥११८॥

व्याख्या—**बुधः**—विद्वान् कपिलः । **तच्छात्रसमुच्चयं**—तस्य सत्यकेश्छात्राणां शिष्याणां समुच्चयं समुदयं । **कथञ्चित्**—केनापि विलक्षणेन प्रकारेण । **समुद्य**—सम्यगुदित्वा, विशदं प्रतिपाद्येत्यर्थः । "वक्तुरेव हि तज्जाड्यं यत्र श्रोता न बुध्यत" इत्युक्तेरिति भावः । **तथा**—तेन प्रकारेण । **अध्यजीगपत्**—अध्यापयामास । **यथा**—येन । **स**—छात्रसमुदयः । **दुर्बोधपदार्थबोधनात्**—बोद्धुमशक्यो दुर्बोधः यः पदार्थस्तस्य बोधनाद्बगमाद्धेतोः । **पुरातनस्य**—प्राचीनस्य । **कवेः**—विदुषः सत्यकेः । **न स्मरतिस्म**—स्मरणं न करोतिस्म। नवीने स्वेष्टाऽलाभो हि अतीतस्मरणाय कल्पते इति भावः ॥११८॥

अथ सत्यकेः कन्यायाः कपिलेन विवाहस्य युग्मेन भूमिकामारचयति—**स्वरूपेति** —

स्वरूपसन्तर्जितपुष्पसायकं, त्रयीसमस्तार्थविशेषवेदिनम् ।
प्रवादविद्यापरिभूतगीष्पतिं, सुवृत्तहेतुं कपिलं विलोक्य तम् ॥११९॥

कदाचिदध्यापकजीवितेश्वरा, प्रतीतिमाप्ता किल जम्बुकाऽऽख्यया ।
रहः पतिं प्राह विचारचातुरी, विरिञ्चिकन्याकमनीयकान्तिभृत् ॥१२०॥

व्याख्या—**स्वरूपसन्तर्जितपुष्पसायकं**—स्वरूपेण निजाकृत्या सन्तर्जितोऽधरीकृतः पुष्पसायकः कामः येन स तम्, कामादप्यधिकसुन्दरम्, अनेन रूपसम्पत्तिरुक्ता, स्त्रीणां वरमात्रापेक्षित्वात् कुलचर्चामकृत्वैव तस्य विद्यासम्पत्तिमाह—**त्रयीसमस्तार्थविशेषवेदिनम्**—त्रय्याः वेदानां "श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी" इत्यमरः । समस्तानामर्थविशेषाणां गूढरहस्यानां वेदिनं ज्ञातारं । तथा **प्रवादविद्यापरिभूतगीष्पतिं**—प्रवादस्य शास्त्रार्थस्य या विद्या कला तया परिभूतः पराजितः गीष्पतिर्बृहस्पतिर्येन स तं तादृशम् । **सुवृत्तहेतुम्**—सुवृत्तः सद्वृत्तः हेतुर्निमित्तं यस्य स तं तादृशम्, सद्वृत्तहेतुशीलविनयादिसम्पन्नं, यद्वा कुलमप्याह—शोभनौ वृत्तं चरितं हेतुर्निमित्तं जनकादि चेत्येतौ यस्य स तं कुलीनं शीलवन्तञ्च । **तं** कपिलं । **विलोक्य**—वीक्ष्य । एतेन वरगुणाः उक्ताः । **विचारचातुरी**—चतुरैव चातुरी, विचारे चातुरी सद्विचारवती । **विरिञ्चिकन्याकमनीयकान्तिभृत्**—विरिञ्चेर्ब्रह्मणः 'विरिञ्चिः कमलासनः स्रष्टा प्रजापतिरि'त्यमरः, या कन्या दुहिता सरस्वतो तद्वत्कमनीयां मनोहरां कान्तिं बिभर्तीति सा सरस्वतीव कान्तिमती; यद्वा विचारचातुर्या विवेकपटुतायाः सरस्वतीतुल्येति समस्तपदार्थः । **जम्बुकाऽऽख्यया**—जम्बुका इति नाम्ना । **प्रतीतिं**—प्रसिद्धिम् । **आप्ता**—प्राप्ता, जम्बुकेति प्रसिद्धा । **अध्यापकजीवितेश्वराः**—अध्यापकस्य सत्यकेः जीवितेश्वरा दयिता । **कदाचिद्**—उपयुक्तसमये । **रहः**—एकान्ते । **पतिं**—प्रियं । **प्राह**—जगाद । **किल** ॥११९॥१२०॥

अथ तदुक्तिं प्रपञ्चयन् प्रस्तावाङ्गभूतां कन्यां वर्णयति—अपत्यवत्तेति—

अपत्यवत्ता ननु सत्यभामया, स्वचारुतानिर्जितसत्यभामया ।
तनूजया नौ विजयाङ्गभूतया, स्मरस्य सुस्त्रैणललामभूतया ॥१२१॥

व्याख्या—**स्वचारुतानिर्जितसत्यभामया**—स्वस्य निजस्य या चारुता मनोहरता सुन्दरता तया कृत्वा निर्जिताऽधःकृता सत्यभामा तन्नाम्नी सौन्दर्येण प्रसिद्धा कृष्णप्रिया यया सा तादृशी तया । अत एव **सुस्त्रैणललामभूतया**—सु उत्तमं यत् स्त्रैणं स्त्रीणां समूहः तस्य ललामभूतया शिरोभूषणरूपया, रमणीसमूहशिरोमणितुल्यया । अतः **स्मरस्य**—कामस्य । **विजयाङ्गभूतया**—विजयस्य जयस्य अङ्गभूता प्रधानसहकारिणी तया तादृश्या । **सत्यभामया**—तन्नाम्न्या । **तनूजया**—पुत्र्या । **नौ**—आवयोः । **अपत्यवत्ता**—सन्ततिमत्ता । **ननु**—इति निश्चये, अपत्यान्तरस्याभावादिति भावः ॥१२१॥

अथ स्वाभीष्टं वक्ति—विवाहयोग्येति—

विवाहयोग्या यदि सा प्रदास्यते, वराय कस्मैचन तत् प्रदीयताम् ।
द्विजाय चास्मै गुणराजिराजिने, सुभर्तृदत्ता हि सुता न दुःखभाक् ॥१२२॥

व्याख्या—**विवाहयोग्या**—षोडशवार्षिकी । **सा**—कन्या । **यदि**—चेत् । **कस्मैचन**—अनिर्दिष्टनाम्ने । **वराय**—वरणयोग्याय । **प्रदास्यते**—वितरिष्यते । **चेत्**—तर्हि । **अस्मै**—अत्रैव वर्त्तमानाय । **गुणराजिराजिने**—गुणानां राजिः श्रेणिः तया राजते शोभते इत्येवंशीलस्तस्मै, एतेन कन्यादानस्य तद्ग्रहणस्य च योग्यता सूचिता । ननु न हीनजातौ कन्यां दद्यादित्युक्तेः अस्य जात्यन्तरत्वे कथं देयेत्याह । **द्विजाय** ब्राह्मणाय । एवञ्च न जात्यन्तरतापीतिभावः । **प्रदीयताम्**—दीयताम् । ननु कुतस्तवायमाग्रह इत्याह—**हि**—यतः । **सुभर्तृदत्ता**—शोभनो भर्त्ता सुभर्त्ता तस्मै दत्ता समर्पिता । **सुता**—कन्या । **दुःखभाक्**—दुखं भजते इति सा तादृशी क्लेशभागिनी । **न**—न खलु भवतीतिशेषः । कन्या दुःखं मा आपदित्येव पित्रोर्द्रष्टव्यम् । तच्च कपिलविषये गुणान् दृष्ट्वा सम्भवतीत्यतस्तस्मै देयेति भावः । कपिलोद्देश्यककन्यादानरूपविशेषक्रियायाः सुभर्त्रे कन्यादाने दुःखानुभवाभावरूपसामान्याऽर्थेन समर्थनादर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥१२२॥

अथ तदनन्तरं सत्यकिकृत्यमाह—विचार्येति—

विचार्य चाध्यापक एव जम्बुका-वचो मनोहारि तदायतौ हितम् ।
व्यवाहयत् तां कपिलेन कन्यकां, महोत्सवात् कोविदवर्णनातिगात् ॥१२३॥

व्याख्या—**अध्यापकः**—शिक्षकः, स सत्यकिः । **मनोहारि**—समयोपयुक्तत्वान्मनोज्ञम् । **आयतौ**—उत्तरकाले, कन्यायाः सुखजनकत्वसम्बन्धात् । **हितं**—पथ्यञ्च । **जम्बुकावचः**—जम्बुकायाः स्वप्रियाया वचः वाक्यमिति । **विचार्य**—विमृश्य । **तां**—निजां । **कन्यकां**—सुतां सत्यभामाभिधां । **कपिलेन**—तन्नामश्रुतेन । **कोविदवर्णनातिगात्**—कोविदाः बुधाः "सुधीः कोविदो बुधः" इत्यमरः, तेषां या वर्णना प्रशंसनम् तामतिगच्छतीति तस्मात्, कविनापि वर्णयितुमशक्यात् । **महोत्सवात्**—विलक्षणमहोत्सवपूर्वकम् । **व्यवाहयत्**—पर्यणाययत् ॥१२३॥

अथ जामातृसुतयोर्निवासाय गृहदानमाह—**निकेतनमिति**—

निकेतनं च प्रददौ मनोरमं, महासरोवत् कमलोपशोभितम् ।
सुधाभिरालीढमनुष्णभानुवत्, विशालतालिङ्गितमन्तरिक्षवत् ॥१२४॥

व्याख्या—**महासरोवत्**—महाकायसरोवर इव । **कमलोपशोभितम्**—कमलया लक्ष्म्या, उपशोभितं विराजितम्, सम्पत्समन्वितमिति यावत्, सरःपक्षे—कमलैः उपशोभितम् । **अनुष्णभानुवत्**—न उष्णा भानवः करा यस्य स तादृशश्चन्द्रस्तद्वत् । **सुधाभिः**—भित्यादिरञ्जनकारिश्वेतलेपनद्रव्यैः । 'सुधा लेपोऽमृत' मित्यमरः । **आलीढम्**—लिप्तम्, अत एव सुधया लिप्तं धवलीकृतं सौधमिति व्युत्पत्तिसिद्धा प्रासादस्य सौधसंज्ञा । चन्द्रपक्षे सुधाभिः—अमृतैः आलीढम्—व्याप्तम् चन्द्रस्यामृतमयत्वादिति । **अन्तरिक्षवत्**—आकाशवत् । **विशालताऽऽलिङ्गितम्**—विशालतया दैर्घ्येणात्युच्छ्रायतया चालिङ्गितमन्वितम्। आकाशपक्षे-विशालता महत्परिमाणं तेनालिङ्गितम् यद्वा विगतः शाला वृक्षा यतस्तस्य भावस्तत्ता तया । "अनोकहः कुरः शालः इत्यमरः । वृक्षाणां महीरुहत्वादाकाशे तदभावादिति भावः । अत एव **मनोरमं**—हृद्यम् एवंविधं किमित्याशंकायां विशेष्यपदमाह । **निकेतनं**—भवनम् "गृहं गेहोदवसितम् वेश्म सदम निकेतनमित्य"मरः । **च**—चः—पूर्वोक्तकन्यादानसमुच्चायकः । **प्रददौ**—प्रदत्तवान् (निवासाय), यौतके वेति शेषः । अत्र श्लेषानुप्राणितोपमाऽलङ्कारः स्पष्टः ॥१२४॥

अथ विवाहानन्तरं कपिलचित्तवृत्तिमाह—**कलत्रवन्तमिति**—

कलत्रवन्तं स्वममंस्त स द्विज-स्तयैव भक्तिप्रतिपत्तिशीलया ।
अरुन्धतीजानिरिवाक्षमालया, निशीथिनीनाथ इव त्रियामया ॥१२५॥

व्याख्या—**स द्विजः**—कपिलाख्यः विप्रः । **भक्तिप्रतिपत्तिशीलया**—भक्तेः पूज्यगतानुरागस्य या प्रतिपत्तिः स्वीकारः तच्छीलं यस्या सा तादृशी तया, भक्तिमत्या, यद्वा भक्तिश्च प्रतिपत्तिर्ज्ञानञ्च ते भक्तिप्रतिप्रत्ती तच्छीलया भक्तिज्ञानयुक्तया । **तयैव**—सत्यभामयैव । **अक्षमालया**—तदाख्यया स्त्रिया । **अरुन्धतीजानिः**—वशिष्ठ इव "वशिष्ठोऽरुन्धतीजानिरक्षमाला त्वरुन्धती" इति हैमः । **त्रियामया**—रजन्या तत्संज्ञया वध्वा ।

निशीथिनीनाथः–निशीथिन्याः रजन्याः नाथः पतिः चन्द्रः, स इव । **स्वम्**–आत्मानम् । **कलत्रवन्तं**–दारवन्तम् । **अमंस्त**–मन्यतेस्म । तयैवेत्यत्रैवकारेणान्यस्त्रीनिषेधः कृतः, अन्यस्यास्तादृशविलक्षणभक्तिप्रति-प्रत्त्यभावादिति भावः । अत्र मालोपमाऽलङ्कारः ॥१२५॥

अथ तस्य सौख्यं वर्णयति—अजीगमदिति—

अजीगमत् कांश्चन वत्सरानयं, तुषारकालोदितवासरानिव ।
समं तया वैषयिकं सुखं भजन्, क्व नानुरूपं कृतपुण्यसम्पदाम् ॥१२६॥

व्याख्या—**अयं**–कपिलः । **तुषारकालोदितवासरानिव**–तुषारस्य शीतस्य "तुषारः शीतलः शीतः" इत्यमरः । काले समये हेमन्तर्तौ उदिता उदयंगता ये वासराः दिवसास्तानिव, इतरमासापेक्षया हिमर्तु-वासरस्य लघुत्वादिति भावः । **कांश्चन**–अनेकान् । **वत्सरान्**–हायनान् । **तया**–सत्यभामया । **समं**–सह **वैषयिकं सुखं**–पञ्चेन्द्रियसौख्यम् । **भजन्**–उपभुञ्जन् । **अजीगमत्**–गमयति स्म । ननु कुतस्तस्यैतादृशसौ-ख्यलाभ इत्याह । **कृतपुण्यसम्पदाम्**–कृता सञ्चिता पुण्यस्य सम्पद् यैस्ते तादृशानां । **क्व**–कुत्र । **अनुरूपम्**–आनुकूल्यं, भावप्रधाननिर्देशोऽयम् । **न**–नहि, भवतीति शेषः, सर्वत्रैव भवतीत्यर्थः । अत्र कपिलसौख्य-भजनरूपविशेषार्थस्य कृतपुण्यसम्पदाम् आनुकूल्यरूपसामान्यार्थेन समर्थनादर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥१२६॥

अथ कपिलस्य लोकप्रियत्वमाह—तनूभुवामिति—

तनूभुवां पाठनिमित्तकारणात्, ग्रहातिचारादिविबोधनादपि ।
नवीनजामातृतया च सत्यके,–रपूजि भक्त्या कपिलो न कैर्जनैः ॥१२७॥

व्याख्या—**तनूभुवां**–तनयानां । **पाठनिमित्तकारणात्**–पाठ एव निमित्तकारणं ततः, अध्यापन-हेतोः, सर्वो हि स्वपुत्रशिक्षकं बहुमनुते इति भावः । **ग्रहातिचारादिविबोधनादपि**–ग्रहाणां नक्षत्राणां यः अतिचारादिः–अतिक्रम्य चरणादिः वक्रतादिः,एतेन तत्कृतशुभाशुभफलमुपलक्ष्यते, तस्य विबोधनाज्ज्ञापनादपि । एतेन गणनापुरस्सरं यथार्थफलवक्तृत्वं सूच्यते । अद्यत्वेऽपि हि दैवज्ञाः समाजसत्कारभाजः इति भावः । **सत्यकेः**–प्रसिद्धाध्यापकस्य । **नवीनजामातृतया**–नवीना नूतना या जामातृता तया च, नवीनजामातुः श्वसुरपुरे बहुमानः प्रसिद्ध इति भावः । **कपिलः**–तदाख्योऽयं । **कैः**–किं नामधेयैः । **जनैः**–लोकैः । **भक्त्या**–सानुरागं । **न अपूजि**–न सत्कृतः ? अपितु सर्वैरेवाऽपूजीत्यर्थः । एकोऽपि हि अत्रोक्तः लोकोपकारकत्वादिगुणः लोक-सत्कारायालम् किमु यत्रैतत्त्रयमिति भावः ॥१२७॥

अथ कपिलस्य लोकप्रियताया धनप्राप्तिमाह—सकोऽपीति—

स कोऽपि नैवास्ति न येन काञ्चनं, व्यतारि तस्मै कपिलाय मानतः।
जनः समग्रो यदि वा बहिर्मुखः, प्रवाहमालम्ब्य बलात् प्रवर्तते ॥१२८॥

व्याख्या—स कोऽपि—एकोऽपि। जनः—लोकः। नैव अस्ति—न हि वर्तते। येन—लोकेन। तस्मै—प्रसिद्धाय। कपिलाय काञ्चनं—हिरण्यं उपलक्षणत्वादन्यदपि वस्तु। मानतो न व्यतारि—न दत्तम्, अपितु सर्वैरेव दत्तमित्यर्थः। नन्वेतदसमञ्जसम्, नहि सर्व एव केनचिदेकेनोपकृतो भवति, न च तथाभूतोऽपि ददात्येवेति नियमस्तत्राह। यदि वा—यतः। बहिर्मुखः—परानुकरणकर्त्ता एतेनोपकृतैरनुपकृतैश्च वा दाने बीजमुक्तम्। समग्रः—सर्व एव। जनः—लोकः, अतः इति शेषः। प्रवाहं—गतानुगतिकतां धारां वा। आलम्ब्य—आश्रित्य। बलाद्—अनिच्छया, अपि। प्रवर्त्तते—आरभते गड्डरिकाप्रवाहवदिति भावः। एवञ्च सर्वेषामेव दानं न विरुद्धयते इत्याशयः। अत्र कपिलोद्देश्यकजनकृतदानस्य विशेषार्थस्य प्रवाहालम्बनेन जनप्रवृत्तिरूपेण सामान्येनार्थेन समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। किञ्चात्र प्रवाहादिसामान्यविशेषणमहिम्ना जनप्रवृत्तौ जलव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः। एवञ्च द्वयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥१२८॥

अथ तस्याढ्यत्वं वर्णयति—अशेषेति—

अशेषशास्त्रागमतत्त्वदर्शिनां, निदर्शनं प्राक्कपिलः स्वतोऽभवत्।
अनन्तरं सत्यकिनन्दनाश्रितो, धनेश्वराणां प्रथमं निदर्शनम् ॥१२९॥

व्याख्या—कपिलः—प्रसिद्धः सः। प्राक्—विवाहात्पूर्वं। स्वतः—स्वयम्। अशेषशास्त्रागमतत्त्वदर्शिनाम्—अशेषाणि समग्राणि यानि शास्त्राणि षट्दर्शनशास्त्राणि तान्येवागमास्तेषां यद्वा शास्त्राणि आगमाश्च स्वस्वाभ्युपगतसिद्धान्तग्रन्थाश्च तेषां तत्त्वं गूढरहस्यं पश्यन्तीत्येवंशीलाः तेषां विद्वत्तल्लजानां। निदर्शनम्—दृष्टान्तः। अभवत्—आसीत्। कः सर्वशास्त्रागमतत्त्वदर्शी इति जिज्ञासायां सर्वैरेव विद्वद्भिः स एव निर्दिश्यते इत्यर्थः। अनन्तरं—विवाहानन्तरम्। सत्यकिनन्दनाश्रितः—सत्यकेः नन्दना पुत्री तयाऽऽश्रितः सन्। धनेश्वराणाम्—इभ्यानां। निदर्शनं—दृष्टान्तः, अभवदित्यनुषज्यते, अयमेव सर्वतोऽधिको धनिक इत्यर्थः। एवञ्चैतेन विद्वानिव धनवान्, धनवानिव च विद्वान् कपिल इति अन्योन्यालङ्कारो व्यज्यते ॥१२९॥

अथ विशेषं विवक्षुस्तदङ्गभूतं प्रावृडवतारं प्रथममाह युग्मेन—शिखण्डकानिति—

शिखण्डकान् धारयतोऽपि पक्षिणः, प्रनर्तयन्ती घनगर्जिवादनात्।
प्रसह्य हंसानपि या विदेशगान्, स्वरूपसन्दर्शनतः प्रकुर्वती ॥१३०॥

समुन्नमत्पीनपयोधरा रसं, प्रपुष्णती केतकपत्ररोचना ।
प्रवर्त्तयन्ती सुमनोविकासनं, वधूरिव प्रावृडुपागमत्तदा ॥१३१॥

व्याख्या—या--प्रावृड् । शिखण्डकान्--चूडास्थरोमसमूहान् पिच्छानि च "पिच्छं बर्हं शिखण्डकः" इति हैमः । धारयतः--दधतः । पक्षिणः--विहगान् मयूरान् इत्यर्थः । अपि--अपिना अन्यान् जनानिति किमुवक्तव्यमित्यर्थः सूच्यते । घनगर्जितवादनात्--घनानां मेघानां या गर्जयः गर्जितानि "स्तनितं गर्जितं गर्जि" रिति हैमः । तैः कृत्वा वादनात् केकारावप्रवर्त्तनात् घनगर्जितेन केकारावप्रवर्त्तनपूर्वकमित्यर्थः । प्रनर्त्तयन्ती--ताण्डवं कारयन्ती, घनगर्जितानि श्रुत्वा मयूराः केकारवं कुर्वन्ति नृत्यन्ती चेतिभावः । वधूपक्षे घनसदृशगर्जनवादनात् सपिच्छपक्षिणः प्रनर्तयन्ती, तथाविधशब्दकरणेन नववध्वः पक्षिणो नृत्यं कारयन्तीत्यर्थः । तथा स्वरूपसन्दर्शनतः--स्वरूपस्य सन्दर्शनं ज्ञापनं घनगर्जितवृष्ट्यादिभिः कृत्वा । ततः हंसान्--चक्राङ्गान् "हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्रांगामानसौकस" इत्यमरः । अपि--पुनः । विदेशगान्--मानस-सरोवररूपविशिष्टदेशगमनान् । यद्वा देशादितः मानसं विदेशस्तत्र गमनान् इति यावत् । प्रसह्य--हठात् । प्रकुर्वती विदधती । वर्षागमे हंसाः मानससरोवरं यान्तीतिप्रसिद्धिः । वधूपक्षे-वधूः निजरूपदर्शनद्वारा हंसान् आत्मनः विशिष्टदेशगान् विशिष्टस्थानगतीन् विदधाति, यद्वा विदेशो दूरदेशस्तत्र गमनान्, वधूमवाप्यात्मानो दूरदेशमटन्त्यर्थार्जनाय, अथवा वधूप्राप्त्या मोहः सञ्जायते ततश्चात्मभावो दूरीभवतीति वधूः हंसान् विदेशगान् करोतीति युक्तम् । समुन्नमत्पीनपयोधरा--समुन्नमन्तः वर्षिष्णवः पीनाः स्थूलाः विशालाः पयोधरा मेघाः यत्र सा तादृशी । वधूपक्षे समुन्नमन्तौ उच्चैर्भवन्तौ, एतेन नवयुवत्वं सूच्यते, तदैव स्तनवर्धनसम्भवात् । पीनौ स्थूलौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः सा तादृशी । रसं--जलं । प्रपुष्णती--वृष्ट्यादिना वर्धयन्ती । पक्षे रसं शृङ्गाररसं प्रपुष्णती विभावतयोत्पादयन्ती । केतकपत्ररोचना--केतकस्य ककचच्छदस्य 'केतकः ककच-च्छदः' इति हैमः । पत्रेण रोचते शोभते इति सा तादृशी केतकपत्रशोभिनीत्यर्थः । वर्षाकाले केतकपत्रा-णामुद्गमात् इति भावः । वधू पक्षे केतकपत्राकारपत्रावलिराजिता । सुमनोविकासनम्--सुमनसां पुष्पाणां विका-सनमुद्बोधनम् । पक्षे सुमनसां सहृदयानां विकासनं रागोद्भवं । प्रवर्त्तयन्ती--कुर्वन्ती, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् या इति यच्छब्दबलोपलब्धा सा । प्रावृड्--वर्षर्तुः । वधूरिव--योषिदिव । तदा--रममाणयोः तयोः कपिल-सत्यभामयोः सतोः । उपागमत्--प्रादुर्बभूव । अत्र श्लेषानुप्राणितोपमाऽलङ्कारः ॥१३१॥

अथ पञ्चभिः पुनर्वर्षर्तुमेव वर्णयति—सुगन्धितात्तेषु इति—

सुगन्धितात्तेषु सुवर्णकेतकी, सुमेषु लीना भ्रमरावली स्थिरा ।
व्यनक्ति यत्रैव महेभ्यकारितां, सुवर्णशालोपहिताश्मगर्भताम् ॥१३२॥

व्याख्या—यत्रैव—यस्मिन् वर्षर्तावेव नान्यत्रेत्यर्थः । सुगन्धिताक्तेषु—सुगन्धिः इष्टगन्धः "इष्टगन्धः सुगन्धिश्च" इति हैमः, तस्य भावस्तत्ता, तया आक्तेषु व्याप्तेषु, सुगन्धिष्विति यावत् । सुवर्णकेतकीसुमेषु—शोभनो वर्णो येषां तेषु केतकीनां सुमेषु पुष्पेषु, यद्वा सुवर्णकेतकी इति प्रसिद्धलता तस्याः पुष्पेषु। लीना—उपविष्टा संसक्ता च, अत एव । स्थिरा—निश्चला । भ्रमरावली—भ्रमराणां षट्पदानामावली पंक्तिः । महेभ्यकारिताम्—महेभ्यैः धनाढ्यैः कारितां निर्मापितां । सुवर्णशालोपहिताश्मगर्भताम्—सुवर्णस्य काञ्चनस्य या शाला सभागृहम् "वासः कुटी द्वयोः शाला सभा" इत्यमरः तत्रोपहितः खचितः यः अश्मगर्भः हरिन्मणिस्तस्यभावस्तत्तां । व्यनक्ति—प्रकटयति, "मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः" इत्यमरः, केतकीपुष्पलीना भ्रमरावली सुवर्णशालोपहिताश्मगर्भवत् शोभते इत्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥१३२॥

सुखस्थिता यत्र सुवर्णमालतीविकाशिपुष्पेषु षडंह्रिसन्ततिः ।
प्रपाकिजम्बूफलविभ्रमाच्छुकै-र्विचुम्ब्य चञ्चूभिरहो व्यमुच्यत ॥१३३॥

व्याख्या—यत्र वर्षर्तौ, सुवर्णमालतीविकाशिपुष्पेषु—शोभनो वर्णो यस्याः सा, सुवर्णस्य काञ्चनस्य वर्णमिव पीतं वर्णं यस्याः सा, वा, चासौ मालती जातिश्चेति सुवर्णवर्णपुष्पवती मालती सुवर्णमालतीत्युच्यते "सुमना मालती जातिः" इत्यमरः । "जातिस्तु मालती" इति हैमः । तस्याः विकाशिपुष्पेषु—विकस्वराणि यानि पुष्पाणि तेषु । सुखस्थिता—सुखेन सुखपूर्वकं स्थितोपविष्टा, या । षडंह्रिसन्ततिः—षडंह्रीणां भ्रमराणां सन्ततिः श्रेणी भ्रमरपंक्तिः,सा । शुकैः—कीरैः । प्रपाकिजम्बूफलविभ्रमात्—प्रपाकीनि परिणतानि यानि जम्बूफलानि तेषां विभ्रमाद् भ्रान्तेः । चञ्चूभिः—त्रोटिभिः । विचुम्ब्य—स्पृष्ट्वा । व्यमुच्यत—त्यक्ता, स्पर्शेन काठिन्यानुभवाद्—फलभ्रान्तेर्व्यपगमादिति भावः । चञ्चुस्पर्शेऽपि भ्रमणानां तादृशेषु पुष्पेषु स्थिरतैवेति मालतीपुष्पाणां रसनिर्भरत्वं व्यज्यते, अत एव तल्लालसत्वाद् भ्रमराणां नोड्डयनमिति बोध्यम् । अहो—अहो इत्याश्चर्ये, आश्चर्यं वर्षर्तौमहिमेत्यर्थः । अत्र हि,भ्रमरे जम्बूफलभ्रान्तेश्शुकानां वर्णनाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः । तल्लक्षणं । यथा—साम्यादतस्मिँस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थिता ॥१३३॥

नभोमणिर्यत्र धरोपतापना-पराधतः क्वापि निलीय तस्थिवान् ।
परैरभेद्ये कमलोत्कराञ्चिते, नभः समाक्रम्य नवाम्बुदे स्थिते ॥१३४॥

व्याख्या—यत्र—वर्षर्तौ । नभोमणिः—सूर्यः । परैः—अन्यैः किरणादिभिः, शत्रुभिः । अभेद्ये—अनभिभवनीये, एतेन घनानां महती घटा सूच्यते, तथा । कमलोत्कराञ्चिते—कमलायाः शोभायाः उत्करः आधिक्यं तेन अञ्चिते युक्ते यद्वा कमलोत्करः पद्मसमूहः तेन अञ्चिते, वर्षर्तौ कमलानामुद्भवादिति भावः । नवाम्बुदे—

नवश्यासौ अम्बुदस्तस्मिन् नूतनजलधरे। नभः—आकाशं। समाक्रम्य—आक्रम्य, व्याप्येत्यर्थः। स्थिते—स्थितिङ्कृते सति, अत्र समाक्रम्येति शब्देन अपराधिने सूर्याय दण्डोत्साहो मेघे सूचितः। अतएव धरोपतापनापराधतः—धराया पृथिव्याः यदुपतापनम् तत्करणम् तदेवापराधोऽविनयस्तद्धेतोः, भीत इति शेषः। क्वापि—अलक्षितस्थाने। निलीय—आत्मानं गोपयित्वा। तस्थिवान्—अवसत्, अन्योऽपि हि अपराधी दण्डभयान्निलीव तिष्ठतीतिभावः। अत्र मेघान्तरितस्य सूर्यस्य निलयनस्यासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तेन च घनघटानां नितरां निबिडत्वं सूच्यते, येन सूर्यस्यात्यन्तमदर्शनम् जायते इति बोध्यम्, किञ्चात्र समाक्रम्येत्यनेन घने विजिगीषुव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः, साच धरोपतापनापराधत इति रूपकानुप्राणितातिशयोक्तेरङ्गमिति सङ्करः ॥१३४॥

ग्रहाधिपे सागसि विश्वतापनात, कलानिधिर्यत्र करप्रसारणम् ।
अलं न कर्त्तुं जलदेऽतिगर्जति, प्रकोपने स्वामिनि का विचारणा ॥१३५॥

व्याख्या—यत्र—वर्षर्तौ। विश्वतापनात्—विश्वस्य भुवनस्य तापनात् तत्करणात् पीडनादिति यावत्। सागसि—सापराधे। ग्रहाधिपे—ग्रहाणां चन्द्रादिनक्षत्राणामधिपे ईशे सूर्ये, अति—अत्यन्तम्, कोपाधिक्यादिति भावः। गर्जति—ध्वनति, सकोपमाक्रोशति सतीति यावत्। जलदे—मेघे, प्रजानां जीवनदातृत्वाद् प्रजापीडकं सूर्यं प्रति जलदो गर्जतीतिभावः। कलानिधिः—चन्द्रः, ग्रहाधिपप्रजा इत्यर्थः। करप्रसारणम्—कराणां किरणानां राज्ञे देयषष्ठभागानाञ्च हस्तानाञ्चेति वा प्रसारणं विस्तारणं निर्यातनामुद्यमनं वा। कर्त्तुं—विधातुं। नाऽलं—नैव समर्थः, अभूदितिशेषः। लोकेऽपिहि यदा राजा स्वयं राजान्तराक्रान्तो भवति, तदा प्रजाः करं न ददति, भीता वा जडतां प्राप्ताः करादि न सञ्चालयन्ति इति भावः। निबिडघनघटया गर्जन्त्या चन्द्रोऽप्यन्तर्हित इति भावः। नन्वेतन्न युक्तम् राज्ञो यद्भवतु तद्भजतु, प्रजाभिस्तु स्वकर्त्तव्यं कर्त्तव्यमेव तत्राह—प्रकोपने—कोपशीले। स्वामिनि—प्रभौ सति। का विचारणा—को नयः, न काऽपीत्यर्थः। यथा तथा स्वरक्षणं विधेयम्, नतु तत्र नयत्यागोपादानविचारः प्राप्तावसर इत्यर्थः यद्वा, न तत्र मानापमानविचारः, सुस्थे स्वामिनि हि सर्वं विचार्यते इति भावः। अत्र विश्वतापनस्यापराधत्वेन रूपणात् जलदगर्जनस्य तद्धेतुकत्वस्याऽसम्बन्धेऽपिसम्बन्धोक्तेः, कलानिधेः करप्रसारणाऽभावस्य गर्जनहेतुकत्वावगमाच्चातिशयोक्तिकाव्यलिङ्गयोः सङ्करः, चन्द्रकृतकरप्रसारणाभावश्च प्रकोपने स्वामिनि विचारणाभावरूपेण सामान्येनार्थेन समर्थ्यते इत्यर्थान्तरन्यासः, एवञ्चातिशयोक्त्यर्थान्तरन्यासयोः सङ्करः ॥१३५॥

भवन्ति यस्माद्भुवनानि भूरिशो, यतोऽपि दुर्भिक्षमुपैति संक्षयम् ।
धनानि धान्यानि च यत्प्रसादनात्, प्रशस्यते नो जलदागमः स किम् ॥१३६॥

व्याख्या—यस्माद्—जलदागमाद् । भूरिशः—बहुशः बहूलानि । भुवनानि—जलानि । भवन्ति—"पयः कीलालममृतं, जीवनं भुवनं वनम्" इत्यमरः । यतो—वृष्ट्या, भूरिजलसद्भावाद् । दुर्भिक्षमपि—दुष्कालोऽपि । संक्षयं—विनाशम् । उपैति—प्राप्नोति, तत्र हेतुमाह—यदिति । यत्प्रसादनात्—यस्य जलदागमस्य प्रसादनात् प्रसादाद्धेतोः । धान्यानि—अन्नानि अत एव । धनानि—वित्तानि च, भवन्तीत्यनुषज्यते । जलदागमस्य प्रसादः पुष्कलवृष्टिः, तस्य कोपः स्वल्पवृष्टिः, वृष्ट्यभावो वाऽतिवृष्टिर्वा, तत्र धान्याभावो भवतीति भावः । स—तादृशः जगदुपकारकः । जलदागमः—वर्षर्तुः । किं—कुतः । नो प्रशस्यते—न चर्ण्यते, अपितु सर्वतः एव प्रशस्यते, यद्वा स जलदागमः किमिति प्रश्ने, न प्रशस्यते अपितु अवश्यं प्रशस्यते, सर्वजगदुपकारकत्वादिति भावः । अत्र जलदस्य लोकातिशयप्रभाववर्णनादुदात्ताऽलङ्कारः, तल्लक्षणं यथा—लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते इति । सम्पत्तिपदेन वित्तग्रहणस्यैव दुराग्रहे तु काव्यलिङ्गमेव बोध्यम्, प्रशस्त्वे पूर्वचरणत्रयार्थस्य हेतुत्वोपगमात् ॥१३६॥ (पञ्चभिः कुलकम्)

अथैवं महता प्रबन्धेन वर्णितस्य वर्षाकालस्य प्रकृतोपयोगाय स्थलं प्रस्तौति—कदाचनेति—

कदाचन प्रेक्षणकस्य वीक्षणं, सुरालये कापिल उत्तमर्द्धिभिः ।
समं विनिर्माय स यावदात्मना, क्षपामुखे मन्दिरमेतुमैहत ॥१३७॥

व्याख्या—स—पूर्वोक्तः, सत्यकिजामाता, कापिलः-कपिल एव कापिलः, कदाचन—एकस्मिन् दिवसे । सुरालये—देवालये । उत्तमर्द्धिभिः—उत्तमा उत्कृष्टा ऋद्धयो येषां ते उत्तमर्द्धयः तैस्समं—सह । यद्वा उत्तमा उत्कृष्टाश्च ता ऋद्धयश्च उत्तमर्द्धयः दर्शनीयसम्पत्तयः ताभिस्समं सह । प्रेक्षणकस्य—नृत्यादेः, दर्शनीयस्य । वीक्षणम्—अवलोकनं । विनिर्माय—कृत्वा । क्षपामुखे—प्रदोषे । आत्मना—स्वयं । यावद्—यदवधि । मन्दिरं—स्वगृहम्प्रति । एतुम्—आगन्तुम् । ऐहत—ऐच्छत, तावदित्यग्रिमश्लोकेनान्वयः । त्रियामा क्षणदा क्षपा इति 'प्रदोषो रजनीमुखम्' इति चामरः ॥१३७॥

अथ तदनन्तरजातवृत्तमाह—घनाघन इति—

घनाघनस्तावदरं प्रवर्षितुं,-प्रचक्रमे मारुत एव सर्पति ।
दिदृक्षुरन्तर्गतमस्य चेष्टितं, स्वयं द्विजातेरिव चञ्चलेक्षणैः ॥१३८॥

व्याख्या—तावत्—तदवधि । अस्य—कपिलाख्यस्य । द्विजातेः—द्विजन्मनः । अन्तर्गतं—रहस्यभूतमन्तरङ्गम्, जन्मसिद्धमिति यावत्, न तु कृत्रिमं । चेष्टितम्—आचरणं । चञ्चलेक्षणैः—"विद्युच्चञ्चला चपला अपि" इत्यमरकोशोक्तेः, चञ्चला विद्युत् एव ईक्षणानि तैः । स्वयम्—आत्मना । दिदृक्षुरिव—अवलोकितु-

मिच्छुरिव । घनाघनः—वर्षुकाब्दः "वर्षुकाब्दो घनाघनः" इत्यमरः । मारुते—समीरे । सर्पति—वहत्येव, एतेन झंझावातसत्तासूचिता । अरम्—अत्यर्थं । प्रवर्षितुं—वर्षणं कर्त्तुं । प्रचक्रमे—आरब्धवान्, अत्र चञ्चले-क्षणैरिति रूपकानुप्राणिता दिदृक्षुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥१३८॥

अथ तदवस्थायां कपिलकृत्यमाह—न सूचिभेद्येष्विति—

न सूचिभेद्येषु तमस्सु संसरत्—स्ववेक्षिता कञ्चन मां प्रयायिणम् ।
इति स्वचित्तेन विचिन्त्य वाससी, निधाय कक्षान्तरयं गृहं प्रति ॥१३९॥

व्याख्या—सूचिभेद्येषु—सूचिना भेद्येषु अतिनिबिडेषु । तमस्सु—तिमिरेषु । संसरत्सु—प्रसरत्सु । प्रयायिणं—गन्तारं । मां—कपिलं मां । कञ्चन—कोऽपि । न—नैव । अवेक्षिता—अवलोकयिता । इति—इत्थं । स्वचित्तेन—निजहृदयेन । विचिन्त्य—विचार्य । अयं—कपिलः । वाससी—वस्त्रयुगमूर्ध्ववस्त्रमधोवस्त्रञ्चेत्यर्थः । कक्षस्य—बाहुमूलस्य । अन्तः—मध्ये । निधाय—कृत्वा 'बाहुमूले उभे कक्षौ' इत्यमरः । गृहं—भवनं । प्रति—प्रचेलिवानिति परेणान्वयः ॥१३९॥

प्रियावियोगं न विसोढुमीश्वरो, बलाहके वर्षति स प्रचेलिवान् ।
समुन्नते वारिधरेऽथवा जनः, प्रियावियोगं स्ववशः सहेत कः ॥१४१॥

व्याख्या—प्रियावियोगं—प्रियायाः दयितायाः वियोगं विरहम्, एक रात्रिं यावदपि इति शेषः । विसोढुं—मर्षितुं । नेश्वरः—असमर्थः । स—कपिलः । बलाहके—जलधरे । वर्षति—वृष्टिं कुर्वत्यपि । प्रचेलिवान्—प्रतस्थे । ननु विदेशस्थाः नानारात्रिं यावद्वियोगं सहन्ते, किमिति स एकरात्रिमपि न सोढा । तत्राह—अथवा—अथ पुनः । समुन्नते—वृद्धिंगते । वारिधरे—जलधरे सति । कः स्ववशः—स्वतन्त्रः कः । जनः—लोकः । प्रियावियोगं—प्रियायाः दयितायाः वियोगं विरहं सहेत, न कोऽपीत्यर्थः, विदेशस्थस्तु पर-तन्त्रोऽतस्तस्य वियोगसहनं न विरुद्धयते इति भावः । यदाह कालिदासः मेघदूते "कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्, न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः" इति । अत्र कपिलकृतप्रियावियोगाऽस-हनरूपविशेषार्थस्य स्ववशजनकृतप्रियावियोगाऽसहनरूपसामान्यार्थेन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरू-पोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥१४०॥

अथ ततः प्रचलितं कपिलं वर्णयति—दिगम्बरत्वमिति—

दिगम्बरत्वं स तदा प्रपेदिवान्, विबोधभाजं गुरुमन्तरेण यत् ।
विगोपना तत्पतितत्वशङ्क्या, कयापि तेनैव निदर्शनीकृता ॥१४१॥

व्याख्या—तदा—गमनसमये । स—कपिलः । विबोधभाजं—विबोधं ज्ञानं भजते इति स तादृशं ज्ञानिनं । गुरूम्—उपदेष्टारं । अन्तरेण—विनैव । यत्—यस्माद्धेतोः । दिगम्बरत्वं—दिश एवाम्बराणि यस्य स तद्भावस्तत्त्वम्, नग्नत्वमितियावत्, अथ च दिगम्बरसम्प्रदायानुसारिणो दिगम्बराः नग्नाटाः साधवः तेषां-भावस्तत्त्वम् । प्रपेदिवान्—प्राप्तिवान् । ततू—तस्माद् । तेनैव—दिगम्बरत्वेनैव । कयाऽपि—अनिर्दिष्टाभिधानया । पतित्वशङ्कया—अनुलोमसङ्गरत्वरूपपातित्यरूपचित्तोद्वेगकारिशङ्कया कर्त्र्या । विगोपना—स्वसंगुप्तिः । निदर्शनीकृता—प्रकटीकृता, गुरुं विना गृहीतो वेषोऽनर्थायैव कल्पते इति भावः । दिगम्बरत्वेन गुप्ताङ्गादिप्रकाशनवत्स्वपतितत्वप्रकाशनमपि कृतमिति ध्वनिः । अत्र हि वस्त्रसंगोपनेन तद्विरुद्धपतितत्वप्रकाशनमिति विरुद्धसङ्घटनाद्विषमालङ्कारः ॥१४१॥

ननु दिगम्बरत्वं यदि दुष्टं तदा कथं महद्भिस्तदङ्गीकृतम्, न चेद् दुष्टं तदा कथं कपिलस्य दुष्टत्वम् इत्याह—दिगम्बरत्वमिति—

दिगम्बरत्वं परमीश्वरस्य वा, प्रकाशते नैव परस्य कस्यचित् ।
न लोकमालम्ब्य बिभर्त्ति यः स्थितिं, न यस्य तृष्णा क्वचिदप्यनारतम् ॥१४२॥

व्याख्या—यः—जनः । लोकम्—जनम् । आलम्ब्य—आश्रित्य । स्थितिम्—अवस्थानं । न—नैव । बिभर्त्ति—करोति लोकवसतीवासानाश्रयणाद् । यस्य वा—महतः । क्वचिदपि—कुत्रापि, कस्मिँश्चिदपि वनिता-दिविषये । अनारतम्—अविश्रान्तं । तृष्णा—लिप्सा । न—नैवास्ति, तस्य इति यच्छब्दबलाल्लभ्यते । परं—वेति पक्षान्तरे । ईश्वरस्य—ईशस्य, ऐश्वर्यवतः वीतरागस्य परमेश्वरस्येति पाठे तु जिनेन्द्रस्य वा । दिगम्बरत्वं—नग्नत्वं । प्रकाशते—शोभते । परस्य—अन्यस्य । कस्यचिद्—कस्यापि । न—नैव, यो हि—जिनकल्पी समर्थतयैकलवि-हारित्वेन साधुसमुदायमपेक्ष्य तन्मध्ये न तिष्ठति यो वा स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः यश्च वा ईश्वरः अलं कि-कैश्वर्ययुक्तः स दिगम्बरोऽपि चेष्टोकपूजित एव भवति, अन्यस्य तु वासनाप्रयोज्यविगीतचेष्टासम्भवाद्दोषमूलं दिगम्बरत्वमित्यर्थः । एवञ्च कपिलस्य तादृशत्वाभावाद्दिगम्बरत्वं दोषाय जातमिति भावः ॥१४२॥

अथ कपिलस्य गृहप्राप्तिमाह—अनावृतेति—

अनावृतद्वारकपाटसंपुटं, प्रियासमुद्दीपितदीप्रदीपकम् ।
गृहं समासाद्य विलम्ब्य च क्षणं, द्विजः स वस्त्रे परिधाय चाविशत् ॥१४३॥

व्याख्या—सः—कपिलाख्यः । द्विजः—विप्रः । अनावृतद्वारकपाटसम्पुटम्—अनावृतं न पिहितं प्रियप्रत्यागमनाशया द्वारस्य "कपाटोऽरिः कुवाटः" इति हैमोक्तेः कपाटयोररर्योः सम्पुटं यस्य तत्तादृशम्, तथा । प्रियासमुद्दीपितदीप्रदीपकं—प्रियया—दयितया समुद्दीपितः प्रकाशितः दीप्रः दीप्तिमान् दीपकः प्रदीपो यत्र

तत्तादृशं। गृहं—भवनं। समासाद्य—प्राप्य। क्षणं—क्षणमात्रम्। विलम्ब्य—विश्रम्य। च—गृहाद्बहिरेव। वस्त्रे—वस्त्रयुगम्। परिधाय—धारयित्वा, नग्नत्वप्रकाशनं माभूदितिच्छन्दसा व्याजेन स्वमहत्त्वप्रकटनेच्छया च। अविशत्—प्राविवेश ॥१४३॥

अथ गृहप्रवेशानन्तरं सपत्नीकर्त्तव्यमाह—प्रियस्येति—

प्रियस्य वासांसि घनेन तेमिता-न्यवश्यमस्य स्युरितीह तत्प्रिया।
प्रविश्य सा वासगृहं पतिव्रता, पराणि तान्यानयति स्म भाविनी ॥१४४॥

व्याख्या—अस्य—सद्य एव आगतस्य। प्रियस्य—कान्तस्य। वासांसि—वस्त्राणि। घनेन—मेघेन। तेमितानि—जलवर्षणादार्द्रीकृतानि। अवश्यं—ध्रुवं। स्युः—भवेयुः। इति—इत्थं। भाविनी—भाव आशयस्तद्वती, पतिसेवैव व्रतं पतिरेव व्रतं यस्या सा। पतिव्रता—पतिसेवापरायणा। तत्प्रिया—तस्य कपिलस्य प्रिया दयिता। सा—सत्यभामा। वासगृहम्—अन्तर्गृहं। प्रविश्य—गत्वा। पराणि—अन्यानि, अनार्द्राणि। तानि—वासांसि। इह—कपिलपार्श्वे। आनयति स्म—आनीतवती, परिधानायेति शेषः। पतिव्रता कान्ता हि आदेशं विनाऽपि पत्युः प्रयोजनं करोतीति भावः ॥१४४॥

अथ वस्त्रानयनप्रयोजनमाह—इमे इति—

इमे स्ववस्त्रे विजहीहि वार्षुका-म्बुवाहनिर्मुक्तजलौघतेमिते।
मदाहृते शारदचन्द्रसच्छवी, गृहाण धीमन्! परिधेहि चायते ॥१४५॥

व्याख्या—धीमन्!—विवेकिन्!, अनेन समयोचितकार्यकारित्वं सूचितम्। इमे—तव शरीरोपरि दृश्यमाने। वार्षुकाम्बुवाहनिर्मुक्तजलौघतेमिते—वर्षुको वर्षणशीलः स एव वार्षुको योऽम्बुवाहो जलधरस्तेन निर्मुक्तो यो जलानामोघः समूहस्तेन तेमिते आर्द्रीभूते, वृष्टावागमनाज्जलार्द्रे "तेमस्तेमौ सम्मुदने" इतित्रयमार्द्रीभावे इत्यमरः, स्ववस्त्रे—स्वस्यात्मनो वस्त्रे वाससी। विजहीहि—मुञ्च, आर्द्रवस्त्रपरिधाननिषेधात्, तथाभूतस्य तव शय्यायामुपवेशनेऽन्यस्यापि आर्द्रत्वापत्तेः, शरीरे जाड्यकारकत्वाच्चेति भावः। नन्वेवं नग्नता स्यात्तत्राह। मदाहृते—मया आहृते आनीते। आयते—दीर्घे। शारदचन्द्रसच्छवी—शरदः अयं शारदो यश्चन्द्रस्तस्य सती या छविः कान्तिः सेव छविर्ययोस्ते तादृशे, धवले इत्यर्थः। गृहाण—स्वीकुरु। परिधेहि—धारय। च—एवञ्च न तव नग्नता स्यात्, आर्द्रवस्त्रपरिधानजन्यहानिरपि न स्यादिति भावः ॥१४५॥

अथ कपिलोक्तिं प्रपञ्चयति—तयेत्थमिति—

तयेत्थमासक्तिवशादुदीरितः, सविस्मयं सस्मितमाह स स्म ताम्।
प्रिये! न वस्त्रे मम तेमिते स्फुरत्प्रभावमन्त्रेण मयैव रक्षिते ॥१४६॥

व्याख्या—तया—प्रियया सत्यभामया। आसक्तिवशात्—आसक्तिरनुरागस्तद्वशात्। इत्थम्—उक्तप्रकारेण। उदीरितः—कथितः। सः—कपिलः। सविस्मयं—साश्चर्यम्, आदेशं विनाऽपरवस्त्रपरिधानार्थमियं कथयिष्यति इत्यस्य पूर्वमननुसन्धानाद्विस्मयः, सस्मितम्—ईषद्धासससहितं यथा स्यात्तथा, स्मितपूर्वभाषी कपिल इति भावः। स्वस्यासाधारण्यं प्रकाशयितुं च स्मयः। तां—स्वप्रियाम्। आह स्म—कथितवान्, किमित्यपेक्षायामाह। प्रिये—दयिते। मम वस्त्रे—मदीये वाससी। तेमिते—जलार्द्रे। न—नैव। ननु वर्षति मेघे तवेहागमनम्, जलाद् रक्षणसाधनं छत्राद्यपि तव पार्श्वे नाभूत्, एवञ्च कथमेतत् सम्भवति, तत्राह। मया—कर्त्री। स्फुरत्प्रभावमन्त्रेण—स्फुरन् प्रकटः प्रभावो महिमा यस्य स तादृशेन मन्त्रेण करणेन, तत्सामर्थ्येनेत्यर्थः। एव—नूनम्। रक्षिते—गोपिते, मन्त्रप्रभावेण वस्त्रोपरिजलपतननिवारणान्नार्द्रतां प्राप्ते मम वस्त्रे, एवञ्च नान्यत्परिधानस्यावश्यकतेति भावः। यतोऽसाध्यमपि मन्त्रप्रभावात् सुसाध्यमिति भावः ॥१४६॥

ननु वस्त्रयोरनार्द्रताया किं मानमित्याह—न चेदिति—

न चेत् प्रतीतिस्तदिमे निभालय, प्रभाऽऽलयस्वाङ्गजितामराङ्गने।
इतीरिता संस्पृशती तदंशुके, वपुश्च तस्यार्द्रमसावचिन्तयत् ॥१४७॥

व्याख्या—चेत्—यदि। न प्रतीतिः—विश्वासः, खलु न, ते इति शेषः। तत्—तदा। प्रभाऽऽलयस्वाङ्गजितामराङ्गने—प्रभायाः कान्त्या आलयानि आस्पदानि यानि स्वस्य अङ्गान्यवयवानि तैः कृत्वा जिताः अधः कृता अमराणामङ्गनाः स्त्रियः यया सा तत्सम्बोधने, देवाङ्गनापेक्षयाप्यधिकलावण्यशालिनि ? इमे—मे वस्त्रे। निभालय—पश्य, प्रतीत्यर्थमितिभावः। इति—इत्थम्। ईरिता—कथिता। असौ—कपिलप्रिया। तस्य—कपिलस्य। तदंशुके—ते अंशुके शरीरोपरिस्थे, अनार्द्रेवस्त्रे। आर्द्रम्—तेमितं, वपुश्च शरीरं पुनः। संस्पृशती—स्पर्शं विदधती। अचिन्तयत्—चिन्तितवती, अत्र यद्यपि वस्त्रनिभालनार्थमेव प्रेरणम्, शरीरस्पर्शस्तु स्वबुद्धयैवेत्यनेन तस्याः विलक्षणपरीक्षणयोग्यता सूचिता, अन्यथा वस्त्रस्पर्शमात्रेणैव कृतार्थता स्यादितिभावः ॥१४७॥

अथ तच्चिन्तनमेवाह—यदङ्गमिति—

यदङ्गमार्द्रीकृतमम्बुबिन्दुभि-र्विहाय वासः कथमेतदिष्यते।
न मन्त्रमाहात्म्यमजागरूककं, गुरूक्तमेवं क्वचनापि शम्यते ॥१४८॥

व्याख्या—यदिति—चिन्तन प्रस्तावे। वासः—वस्त्रं। विहाय—मुक्त्वा। अम्बुबिन्दुभिः—अम्बूनां मेघवृष्टजलानां बिन्दुभिः पृषद्भिः। अङ्गम्—अवयवः। आर्द्रीकृतम्—तेमितम्, एतत्-वस्त्रंविनैवाङ्गस्यार्द्रीभवनं। कथं—केन प्रकारेण। इष्यते—सम्भवति, न केनापि प्रकारेणेत्यर्थः, अङ्गस्य वस्त्रावृतत्वाद्वस्त्रस्य

आर्द्रीभवनानन्तरमेव तत्सम्भवादितिभावः। ननु वस्त्रांश एव मन्त्रस्य प्रभावः, नाङ्गांशे, तथा चैतत्संभवत्येवेति तत्राह। **गुरूक्तम्**—गुरुणा उक्तमुपदिष्टम्। **मन्त्रमाहात्म्यं**—मन्त्रस्य माहात्म्यं प्रभावः। **एवम्**—उक्तप्रकारेण। **अजागरूकम्**—अप्रबुद्धं सत्। **क्वचनापि**—कुत्रापि। **न शम्यते**—न विरमति, यदिहि तस्य जागरूकता तदा सर्वांश एव, नत्वेकत्र जागरूकता, अन्यत्र शान्तता, मन्त्रप्रभावस्यानभिभवनीयत्वाच्च, गुरूपदिष्टस्याजागरूकत्वासम्भवाच्चेति भावः ॥१४८॥

अथानुपपत्त्यन्तरमाह—शरीरेति—

शरीररक्षाकरणाय कोविदै-र्विशिष्य मन्त्रः खलु शिक्ष्यते गुरोः।
विनोदमात्रप्रतिपत्तिहेतवे, न धीमतां स्युर्जगति प्रवृत्तयः ॥१४९॥

व्याख्या—**कोविदैः**—विद्वद्भिः। **शरीररक्षाकरणाय**—शरीरस्य देहस्य रक्षा अकालमृत्युकारकव्याघ्रादिभिर्गोपनं, तत्करणाय साधनाय। **गुरोः**—गुरुसकाशाद्। **विशिष्य**—विशेषतः तत्तद्विशेषकार्यार्थम्। **मन्त्रः**—तत्तन्मन्त्रः। **शिक्ष्यते**—गृह्यते। **खल्विति**—निश्चये, ननु भवतु तथा, तथापि तादृशस्यैव कदाचित् विनोदार्थमपि प्रयोगः किन्न स्यात् तत्राह। **धीमतां**—पामरस्पृहणीयक्षणिकचमत्काररस्पृहाशून्यानां, ज्ञानिनां। **जगति**—लोके। **विनोदमात्रप्रतिपत्तिहेतवे**—विनोदो मनोरञ्जनं लौकिकचमत्कारश्च तन्मात्रस्य प्रतिपत्तिर्लाभः तद्धेतवे तदर्थम्, एतेन तादृशप्रयोगस्य फलान्तराभावान्निितान्तमकरणीयत्वं सूचितम्, कपिचेष्टितत्वापत्तेरिति भावः। **प्रवृत्तयः**—प्रारम्भाः। **न**—नैव। **स्युः**—भवेयुः। एवञ्चास्य धीमत्त्वात् नैतत्कृतमन्त्रप्रयोगोऽत्र विषये सम्भवति, यदि च तथा, तदा नास्य धीमत्त्वमित्यकुलीनोऽयमिति भावः ॥१४९॥

ननु धीमतां शरीररक्षणायैव किमिति मन्त्रशिक्षणम्, यतस्तथा सति शरीरमोहसत्त्वात् प्राकृतादविशेषोऽस्य स्यात्, यदि चैवमपि तथा, तदा विनोदार्थमपि तथार्थप्रवृत्तौ न किमप्यसमञ्जसमित्यत्राह—त्रिवर्गेति—

त्रिवर्गनिर्माणविशिष्टसाधनं, वदन्ति साक्षात् स्वशरीररक्षणम्।
क्रमात् परीणामवशेन देहिनां, प्रसाधयत्येतदपीह निर्वृत्तिम् ॥१५०॥

व्याख्या—**स्वशरीररक्षणम्**—स्वस्य शरीरस्य रक्षणं। **त्रिवर्गनिर्वाणविशिष्टसाधनम्**—त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामस्य यन्निर्माणं विधिस्तत्र विशिष्टमितरापेक्षयोत्कृष्टमावश्यकञ्च यत्साधनम् तत्तथा। **साक्षात्**—प्रत्यक्षेण। **वदन्ति**—कथयन्ति, महान्त इति शेषः, इतरसत्त्वेऽपि शरीराभावे धर्मार्थकामाऽसम्भवात् शरीरं तत्र साक्षात्साधनमिति भावः, ननु धीमन्तो मुक्तिमेवेच्छन्ति, एवञ्च लौकिकप्रयोजनाय शरीररक्षणे कथं तेषां प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ वा शरीरमोहप्रसङ्ग इति दूरे मुक्तिरत आह। **देहिनां**—शरीरिणाम्, आत्मनामिति यावत्। **परीणामवशेन**—परीणामः—शुभाऽध्यवसायः तद्वशेन। **एतदपि**—धर्मार्थं शरीररक्षणमपि। **इह**—अत्र लोके।

क्रमात्—क्रमशः । निवृत्तिं—मुक्तिं । प्रसाधयति—सम्पादयति । यथा विहितानां धर्मादीनां प्रभावाच्छुभाध्यवसायेन भवोद्वेगसंवेगतस्सच्चारित्रप्राप्त्या ज्ञानध्यानबलेन मुक्तिरिति परम्परया धर्मादित्रिवर्गस्य मुक्तावुपयोगात्तदर्थं शरीररक्षणं धीमतां न विरुद्धयते इति भावः ॥१५०॥

नन्वेवं तर्हि कथं न वाससी तेमिते ? तत्राह—प्रसर्पतीति—

प्रसर्पति ध्वान्तभरे दिगङ्गना-मुखाम्बुजाच्छादनजातकौतुके ।
निरंशुकीभूय समीयवानयं, ध्रुवं स्वकक्षानिहितांशुकद्वयः ॥१५१॥

व्याख्या—दिगङ्गनामुखाम्बुजाच्छादनजातकौतुके—दिश आशा एवाङ्गनास्तासां यानि मुखान्यम्बुजानि कमलानीव तेषामाच्छादने आवरणे जातं कौतुकं कुतूहलं यस्य स तस्मिन्, एतेन कस्यचिन्नायकस्य कौतूहलेन नायिका मुखाच्छादनं व्यज्यते । ध्वान्तभरे—ध्वान्तस्य तिमिरस्य भरेऽतिशये । प्रसर्पति—प्रसरति सति, दिशासु ध्वान्तच्छन्नासु जातासु इत्यर्थः । अयं—पुरोदृश्यमानः, कपिलः । स्वकक्षानिहितांशुकद्वयः—स्वस्य कक्षयोर्निहितं स्थापितमंशुकयोर्वस्त्रयोर्द्वयं येन स तादृशः सन् अत एव । निरंशुकीभूय—अंशुकाद्वस्त्रान्निर्गतो रहितः निरंशुकः, न निरंशुकः, अनिरंशुकः निरंशुकः भूत्वेति निरंशुकीभूय नग्न इति यावत् । "अंशुकं वस्त्रमम्बरम्" इति हैमः । समीयिवान्—समागतवान् । ध्रुवम्—एतन्निश्चितं, अत एव वस्त्रयोरनार्द्रता, शरीरस्य चार्द्रतेति द्वयमपि सम्भवतीति भावः । यद्यपि वस्त्रयोः कक्षानिहितत्वेऽपि न सर्वात्मनाऽनार्द्रता सम्भवति, तथाप्यधिकभागस्यानार्द्रत्वात्तत्रैव स्पर्शनाद्वस्त्रयोरनार्द्रत्वप्रत्ययः ॥१५१॥

ननु भवत्वेवम्, नैतावता किञ्चिदपैति, तत्राह—कुलीनतामिति—

कुलीनतां तन्न परिस्पृशत्ययं, विवेचितस्तादृशकर्मनिर्मितेः ।
किमत्र कार्यं यदि वा परीक्षया, कुलानुमानेन विचेष्टते जनः ॥१५२॥

व्याख्या—तत्—तस्माद्धेतोः । तादृशकर्मनिर्मितेः—तादृशस्य नग्नागमनरूपस्य कर्मणः क्रियायाः निर्मितेः करणाद्धेतोः । विवेचितः—विचारितः, नग्नागमनस्य दुराचरणत्वादिति भावः । अयं—कपिलः । कुलीनताम्—सुकुलप्रसूततां । न—नैव । परिस्पृशति—साधयति, नहि कोऽपि कुलीनो नग्नः क्वापि कदापि गच्छेदिति भावः । यदि वा—अथवा । परीक्षया—सदसद्विचारेण । अत्र—अस्मिन् विषये । कार्यं—प्रयोजनम् । किम्—न किमपीत्यर्थः । ननु तर्हि अयं कुलीनोऽकुलीनो वेति कथं निर्णयस्तत्राह । जनः—लोकः । कुलानुमानेन—स्वकुलानुसारेणैव । विचेष्टते—प्रवर्त्तते । प्रवृत्त्यैव कुलं लक्षितं भवति, नतु तत्र परीक्षान्तरमपेक्षितम् । एवञ्च गर्ह्यकारित्वादकुलीन एवेति भावः । अत्र चेष्टया अकुलीनत्वस्यानुमानेन दृढीकरणादनुमानालङ्कारः । वस्तुतस्त्वत्र लौकिकानुमान प्रयोग एव, नतु काऽपि विच्छित्तिरिति नानुमानस्यायं विषयः ॥१५२॥

ननु यद्यसौ न कुलीनस्तर्हि कथं वेदानध्यगीष्ट, तत्राह—पपाठेति—

पपाठ वेदानपि कर्णघर्षणै-रयं सनिर्बन्धतया शठः क्वचित् ।
चिरत्नसंस्कारविवर्द्धिता हि धी-र्बहिर्भवं न व्यवसायमीहते ॥१५३॥

व्याख्या—**अयं**—नम्र एवागतवानित्येवं निश्चितः, अत एव । **शठः**—दुष्कृतिकः । **क्वचित्**—कुत्राप्यनधिगतस्थले, प्रसिद्धस्थले तु नैव सम्भवति, तत्र बहुजनमध्ये निर्बन्धेऽपि शठत्वस्यानवकाशादिति भावः । **सनिर्बन्धतया**—"निर्बन्धोऽभिनिवेशः"इति हैमोक्तेः निर्बन्धोऽभिनिवेशस्तेन सह सनिर्बन्धः तस्य भावस्तत्ता तया, उत्कटाग्रहवशेन । **कर्णघर्षणैः**—कर्णयोर्यानि घर्षणानि पुनः पुनर्वेदशब्दश्रवणानि, तैः कृत्वा शुकवदिति भावः । **वेदान्**—श्रुतीरपि, अपिना शास्त्रान्तराण्यपि । **पपाठ**—अधिजगे । ननु कर्णघर्षणैः कतिचिच्छब्दानामभ्याससम्भवेऽपि अतिविस्तरस्य वेदादिशास्त्रस्याभ्यासोऽसंभवः । एवञ्च कस्माच्चिद्गुरोः सकाशादेव सपुस्तकं कृताभ्यासः स्यात्, तच्च कुलीनत्वाभावे न सम्भवति, अकुलीनाय सविधिगुरुकृतविद्यादानासम्भवात्तत्राह—**हि**—यतः । **चिरत्नसंस्कारविवर्धिता**—चिरत्नः सुदीर्घः प्राक्कालिकः, पूर्वजन्मार्जित इति यावत्, यः संस्कारः प्रतिभाविशेषः तेन विवर्धिता वृद्धिं प्रापिता दृढीकृतेति यावत् । **धीः**—बुद्धिः । **बहिर्भवं**—बाह्यं, सविधि गुरोरध्ययनादिकं । **व्यवसायम्**—प्रयत्नं । **न**—नैव । **ईहते**—अपेक्षते, किन्तु यथाकथञ्चिदुद्बोधनमात्रादेव सा धारणावती भवति । एवञ्चास्य निखिलशास्त्राध्ययनं श्रवणमात्रेण न विरुद्ध्यते, पूर्वजन्मार्जितसंस्कारस्य जागरूकत्वादितिभावः । अत्र श्रवणमात्रेण तदध्ययनरूपविशेषार्थस्य संस्कारविवर्धितधियः व्यवसायविशेषानपेक्षत्वरूपसामान्यार्थेन समर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥१५३॥

अथाकुलीनत्वे निश्चिते निर्वेदाज्जायमानं तद्विचारमाह—अलं तदिति—

अलं तदेतेन ममापि सङ्कथा, विधातुमेतेन कुकर्मणाऽमुना ।
कुलाङ्गनानां विषयोपसेवनं, कुलीनभर्त्रा हि सह प्रशस्यते ॥१५४॥

व्याख्या—**तत्**—तस्मात् कारणात् । **अमुना**—युक्तिप्रयुक्तिभ्यां निश्चितेन । **कुकर्मणा**—कुत्सितं कर्म—कुकर्म दुराचारः तेन । **एतेन**—समेतेन युक्तेन यद्वा शबलेन चित्रेणेत्यर्थः, 'एतः शबलश्चित्रे'ति हैमः । नम्रागमनादिपामराचारेण । **एतेन**—कपिलेन । **मम**—मे । **सङ्कथा**—परस्परालापोऽपि । **विधातुं**—कर्तुम् । **अलं**—पर्याप्तम् । यत्र सङ्कथाविधानमपि नोचितम्, तत्रान्यस्य विषयोपभोगादेः का चर्चेति भावः । नन्वेतदसाम्प्रतम्, स्त्रियाः पत्या विषयोपभोगस्य अविरुद्धत्वात्। तत्राह—**हि**—यतः । **कुलाङ्गनानां**—कुलवधूनाम् सुकुलस्त्रीणामित्यर्थः । **कुलीनभर्त्रा**—कुलीनः सत्कुलोत्पन्नो यो भर्ता पतिः तेनैव । **सह**—साकम् । **विषयोपसेवनं**—विषयस्य स्रक्चन्दनादेर्म्योग्यधर्मादेश्चोपसेवनमुपभोगः । **प्रशस्यते**—सुविधीयते । समेन योगः श्रेयान्, विषमेण

योगे तु वैषम्यमेवेति भावः । अत्र कपिले सङ्कथाविधाननिषेधरूपविशेषार्थस्य कुलबध्वाः कुलीनेनैव सह विषयसेवनरूपसामान्यार्थेन समर्थनादर्थान्तरन्यासाऽलङ्कारः ॥१५४॥

ननु यद्येवं तर्हि विवाहसमय एव त्वया कथं न सावधानतयाऽभावि, तत्राह—अहमिति—

अहं पितृभ्यामविमृश्यकारिता-परिष्कृताभ्यां परिणायिता पुरा ।
विमोचनीया वचनीयता स्थिते-रतः कथङ्कारमुदारसम्पदः ॥१५५॥

व्याख्या—**पुरा**—विवाहावसरे । **अविमृश्यकारितापरिष्कृताभ्याम्**—अविमृश्य विना विचारं कुरुतः इति अविमृश्यकारिणौ तयोर्भावस्तत्ता तया परिष्कृताभ्यां समन्विताभ्याम्, विना विचारं प्रवृत्तिशीलाभ्यां । **पितृभ्यां**—माता च पिता च पितरौ ताभ्यां मातापितृभ्याम् । **अहं परिणायिता**—विवाहिता । एतेन स्वस्य विवाहे पारतन्त्र्यं सूचितम्,एवञ्च तत्र न मम विचारावसरः इति भावः । ननु यदभूत्तदभूत्, अधुना त्वया किं कर्त्तव्यम् । तत्राह—**अतः**—अस्याः । **स्थितेः**—अवस्थातः, एतामकुलीनेन सह विवाहस्थितिमपेक्ष्य जाता इत्यर्थः । **वचनीयता**—निन्दनीयता । **विमोचनीया**—परित्याजनीया, अपरित्याजने हानिमाह । **उदारसम्पदः**—उदाराणां कुलीनानां महाशयानां सम्पदः सत्सङ्गमादिरूपाः लक्ष्म्यः कथङ्कारं केन प्रकारेण स्युरिति शेषः । नैव स्युरित्यर्थः । कुलीना महाशया हि न कदापि निन्दनीया भवन्ति, निन्दनीयत्वापादकानि कर्माणि त्यजन्त्यपि, अतः ईदृशवचनीयत्वापरिहारे मम कुलीनाया कुलीनत्वाद्युदारता विलीयेतैवेति भावः ॥१५५॥

अथ साम्प्रतं तत्त्यागे उपायाभावमाह—न पौरवाक्यैरिति—

न पौरवाक्यैरपि मामयं जडः, स्मरामयप्लुष्टविवेकविग्रहः ।
कुलाभिमानं स्पृशतीमुदित्वरं, वरं परित्यक्ष्यति रक्षितग्रहः ॥१५६॥

व्याख्या—**स्मरामयप्लुष्टविवेकविग्रहः**—स्मरः कामः तत्कृतः तद्रूपो वा य आमयः रोगः कामज्वरः तेन प्लुष्टः दग्धः विवेकरूपः सदसद्विचाररूपः विग्रहः शरीरं यस्य स तादृशः, कामान्धतया विवेकहीनः, कामान्धस्य स्त्रीपरित्यागो दुष्करः इति भावः, 'अङ्गविग्रहौ' इति हैमः । अत एव **रक्षितग्रहः**—रक्षित आश्रितः ग्रहः अभिनिवेशः येन स तादृशः दुराग्रही । **अयं**—पुरोदृश्यमानः । **जडः**—कुकर्माचरणान्मन्दः । **पौरवाक्यैरपि**—पौराणां नागराणां वाक्यैः नागरिककथनैरपि, अपिना तदन्यस्य पित्रादेर्व्युदासः । **वरं**—श्रेष्ठम् । एतेन सामान्याभिमानस्य परावज्ञादिप्रयोजकस्याकरणीयता, न तु सत्कृतिप्रवर्त्तककुलाद्यभिमानस्येति सूचितम् । **उदित्वरम्**—जागरितं वर्धिष्णुं शुभाऽऽयतियुक्तमित्यर्थः । **कुलाभिमानं**—सत्कुलजत्वेन मनस्वितां । **स्पृशतीम्**—आश्रयन्तीं । **मां**—तत्पत्नीभूतां । **न परित्यक्ष्यति**—नैव मोक्ष्यति । अत्र कुलाभिमानं स्पृशतीमित्यनेन स्वस्य तेनाकुलीनेन सह वासोऽत्यन्तानुचित इति सूचितम् ॥१५६॥

नन्वन्यः कोऽपि त्वां मोचयिष्यति तत्राह—न कोऽपीति—

न कोऽपि तादृक् सुजनोऽस्ति मामतो, विमोक्ष्यते यो वचनैः श्रुतिश्रुतैः ।
न वेदवाक्यव्यवहारलोपिनो, विनिर्मिमीते हि जनः सभाजनम् ॥१५७॥

व्याख्या—तादृक्—तथारूपः । कोऽपि—कश्चनापि । सुजनः—उदाराशयः । नास्ति—न वर्त्तते । यः—सुजनः । श्रुतिश्रुतैः—वेदबोधितैः । वचनैः—वाक्यरूपप्रमाणैः कृत्वा "नाकुलीनैः सह कुलीनायाः सहवासः वेदबोधित" इत्येवं वेदोक्तयुक्तिभिः प्रतिपाद्येत्यर्थः । अतः—अस्मादकुलीनकपिलसकाशात् । माम्—कुलीनां । विमोक्ष्यते—सम्बन्धपरिहारेण पृथक् करिष्यति । ननु यः सुजनः स एवमवश्यं कुर्यात्, अन्यथा सुजनत्वहानिः । तत्राह—हि—यतः । जनः—सर्वोऽपि लोकः, साधारणोऽपीत्यर्थः । वेदवाक्यव्यवहारलोपिनः—वेदानां वाक्यं वचनं तत्प्रतिपादितो यो व्यवहारः नम्रगमननिषेधादिरूपः तल्लुम्पतीत्येवंशीलः वेदविरुद्धाचरणशीलस्ततः परित्याजनेन । सभाजनं—आनन्दनं । न—नैव । विनिर्मिमीते—करोति । 'आनन्दनं त्वाप्रच्छनं स्यात् सभाजनमित्यपि' इति हैमः । एवञ्च यत्र साधारणस्यैवं रीतिः, तत्र सुजनः वक्तुमपि कथमुत्सहेत अतस्तादृग् न कोऽपीतिभावः ॥१५७॥

नन्वेकेनासदाचरणेन तवाकुलीनत्वानुमानं नोचितम्, सतोऽपि कुलीनस्य कदाचिन्निषिद्धाचरणदर्शनात् अत आह—अथेति—

अथ प्रथममिङ्गितैस्तदनुचेष्टितैरप्यहं,
करोमि किल दुर्धियः कुलविशेषसंवेदनम् ।
ततो विधृतनिश्चया सपदि मुक्त्युपायं पुरा,
भजामि वरमित्यसौ परिविमृश्य चिन्तां जहौ ॥१५८॥

व्याख्या—अथेति—पक्षान्तरे । प्रथमम्—पूर्वम् । इङ्गितैः—आकारैः "आकारस्त्विङ्ग इङ्गितम्" इति हैमः । अकुलीनत्वे हि तदनुरूप एवाभिप्रायः तदनुरूप एव चाकारविशेषोऽपि (वपुर्मुखाकारविशेषोऽपीत्यर्थः) तैः । तदनु—तत्पश्चात् । चेष्टितैः—चेष्टाविशेषैरपि । दुर्धियः—साम्प्रतं निषिद्धाचरणकारित्वाद् दुर्बुद्धेः । कुलविशेषस्य संवेदनं—नीचकुलेऽयमुत्पन्न इत्याकारकं ज्ञानं । अहं करोमि, किलेति—निश्चये । ततः—तस्मात्प्रकारात् विधृतः कृतो निश्चयः यया सा विधृतनिश्चया, अकुलीनोऽयमित्येवं कृतनिश्चया सती । वरं—श्रेष्ठं कार्यसाधकतयोत्तमं । मुक्त्युपायं—त्यागमूलं वैराग्यं । सपदि—सद्य एव । पुरा भजामि—भजिष्यामि । इति—इत्थम् । असौ—सत्यभामा । परिविमृश्य—विचार्य । चिन्तां जहौ—तत्त्याज । अत्र पुरा "यावतो-वर्त्तमाना" ५-३-७ इति हैमसूत्रेण भविष्यदर्थकाद्धातोर्वर्त्तमाना विभक्तिः ॥१५८॥

अथ निश्चयात् प्राक् ततः तस्याः सम्पर्कवारणोपायमाह—तन्वाना इति—

तन्वाना लक्ष्मानव्यतिकरमवनीविस्फुरद्भद्रशाला-
स्वान्तर्भूतं समुच्चं विबुधसमुचितं सौमनस्यं दधाना ।
कल्याणस्यैकभूमिर्गिरि-परिदृढतां ख्यापयन्ती तथापि,
ज्ञाता नो मन्दरागाऽनुकरणनिपुणा केनचित्सत्यभामा ॥१५९॥

व्याख्या—**अवनीविस्फुरद्भद्रशाला**—अवन्यां पृथिव्यां विस्फुरन्ती विकाशमाना या भद्रस्य कल्याणस्य मङ्गलस्य शाला, एवंभूता सत्यभामा-पुनर्विशिनष्टि । **स्वान्तर्भूतं**—स्वात्मनि स्थितम्, यद्वा अवन्यां पृथिव्यां विस्फुरन्ती शोभमाना या भद्रशाला शोभनगृहं तद्रूपो यः स्वः आत्मा तत्र अन्तर्भूतं गुप्तं, आत्मनीत्यर्थः । **विबुधसमुचितं**—विबुधाः देवाः विद्वांसश्च तेषां समुचितं योग्यं । **समुच्चं**—प्रोत्कृष्टं । **सौमनस्यं**—सुमनसः देवाः, उदाराशयाः जनाः, पुष्पाणि च तस्य भावस्तत्त्वं, देवत्वं सदाशयत्वं सौम्यञ्च । **दधाना**—धारयन्ती, देवत्वं देवस्य योग्यं, तस्य मर्त्यात्मनि स्वे धारणं, देवस्य सदाचरणमात्रसारत्वात् स्वस्य च तथात्वात् देवत्वं देवतत्त्वं सौम्यञ्च दधाना स्वात्मनि धारयन्ती । यद्वा उदाराशयत्वं सदसद्विवेकित्वं, तच्च बुधयोग्यम्, पूर्वोक्त-प्रकारेण विचार्य कार्यकारित्वरूपस्य सदसद्विवेकित्वस्य स्वस्मिन् सत्त्वात्तद्धारणम्, सौमनस्यं पुष्पाणां समूहश्च देवोचितम्, यथा कोऽपि भद्रशालायां देवमन्दिरादौ धरति तथा स्वात्मनि सा उदाराशयं धरतीति इत्थं सौमनस्यमिव सौमनस्यमिति शब्दशक्तिमूलोपमाध्वनिः । एतेन देवार्थं पुष्पधारणवदुदाराशयधारणे स्वस्यादरातिशयः सूचितः, अत एव । **कल्याणस्य**—शर्मणः । **एकभूमिः**—अद्वितीयं पात्रं, सदाचरणशीलत्वादिति भावः । अत एव, **मन्दः** स्वल्पः, नत्वत्यन्तमसन्नेव, इदानीं निश्चयाभावादिति भावः । **रागः** प्रीतिः यस्या सा । **मन्दरागा**—कपिले इति शेषः । नन्वेवमित्थं भवतु तथापि सम्पर्कः कपिलेन तस्याः स्यादेव, पतिपत्न्योः सहवासभाजोस्तस्य दुर्निवारत्वात् । एवञ्च सर्वमेतद् विफलं तत्राह । **लक्ष्मानव्यतिकरम्**—लक्ष्मं लक्षसंख्यको यो मानः प्रणयकलहस्तस्य व्यतिकरः सम्मिश्रणम्, तं । **तन्वाना**—कुर्वन्ती, उपर्युपरि मानशीलेति यावत् । एवञ्च मानच्छलेन सम्पर्कवारणमिति भावः । ननु "घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्" इति कदाचिद्द्रवीभावः सम्भवत्येव संयोगे, तत्राह । **गिरिपरिदृढताम्**—गिरिः पर्वतः स इव परिदृढतां कठोरतां । **ख्यापयन्ती**—प्रकटयन्ती, पाषाणवत्कठिनतामाश्रयन्तीति यावत्, पाषाणस्य हि न कदापि द्रवीभावः, सापि च पाषाणतुल्यचित्तेति सर्वथैव सम्पर्काभावः सम्भवति । नन्वेवं तस्याः वैरस्यं प्रकटितं स्यादिति प्रणयकलहस्य यथार्थकलहतया परिणाम इति दूरे तत्परीक्षामनोराज्यम्, तत्राह । **तथाऽपि अनुकरणनिपुणा**-अनुकरणे यथा पूर्वं प्रियवचनादिकं करोति स्म तद्वत्तथाकरणे निपुणा प्रवीणा, एवञ्चान्यप्रकारेण मन्दस्नेहत्वस्यानवगमात् प्रणय-

कलहस्य न रूपान्तरतेति भावः, अतएव सा । सत्यभामा—सत्यकिपुत्री । केनचित्—केनापि, कपिलेन पित्रादिना वा । नो—नैव । ज्ञाता—विदिता, मन्दरागेत्येवमितिभावः । अत्र नो ज्ञातेत्यत्रानुकरणनिपुणेत्यस्य हेतुत्वावगमात्, काव्यलिङ्गालङ्कारः ॥१५९॥

अथ सर्गसमाप्तिमाह—आसीदिति—

आसीत् श्रीगुरुगच्छमौलिमुकुट--श्रीमानभद्रप्रभोः ।
पट्टे श्रीगुणभद्रसूरिसुगुरुर्विद्यावतां सद्गुरुः ॥
तच्छिष्येण कृतेऽत्र षोडशजिनाधीशस्य वृत्ते महा-
काव्ये श्रीमुनिभद्रसूरिकविना सर्गोऽयमाद्योऽगमत् ॥१६०॥

व्याख्या—श्रीगुरुगच्छमौलिमुकुटश्रीमानभद्रप्रभोः— श्रिया युक्तो यो गुरुगच्छः वृहद्गच्छाख्यगच्छस्तस्य मौलौ, यद्वा श्रिया युक्तः गुरुः श्रीगुरुः, स चासौ गच्छस्य मौलौ मस्तके मुकुटः तत्तुल्यस्तद्रूपो यः श्रिया युक्तः मानभद्रस्तन्नामा प्रभुर्नायकः, तस्य । पट्टे विद्यावतां—विदुषां । सद्गुरुः—अतिप्राज्ञशिरोमणिः । श्रीगुणभद्रसूरिसुगुरुः—तन्नामा सुविहितक्रियानिष्ठो गुरुः । आसीत्—अभूत् । तच्छिष्येण—तस्य श्री गुणभद्रसूरेः अन्तेवासिना । श्रीमुनिभद्रसूरिकविना—तन्नामकेन काव्यकर्त्रा । कृते—रचिते । अत्र—अस्मिन्, शान्तिनाथचरित्रनाम्नि । महाकाव्ये—"सर्गबन्धो महाकाव्यम्" इत्यादि लक्षणयुक्तनिबन्धे । षोडशजिनाधीशस्य—षोडशो यः जिनाधीशः जिनेश्वरः श्री शान्तिनाथः तस्य । वृत्ते—चरिते, तद्वर्णने इत्यर्थः । अयं—परिदृश्यमानः । आद्यः—प्रथमः । सर्गः अगमत्—समाप्तः ॥१६०॥

卐

वृत्त्यर्थान्वयबोधिका नियमिता तात्पर्यतोऽर्थे वरे,
बाध्यार्था परिशीलिता विमलहृत् कोशप्रमाणान्वया ।
आप्ते शान्तिचरित्रसङ्गतिपरे मूलार्थविद्योतिता,
सर्गे पूर्तिमुपागता तनुतरा व्याख्यांशतो भाविता ॥१॥

卐

॥ समाप्तोऽयं सव्याख्यः प्रथमः सर्गः ॥

❀ अथ द्वितीयः सर्गः ❀

आदिमं चान्तिमं सार्वं, द्वाविंशतिकरम्बितम् ।
वन्देऽमन्दं सदानन्द-कन्दकादम्बिनीहितम् ॥१॥
नेमिगुरोः कृपां गुर्वीं, प्राप्यावाप्तचिदुच्चयः ।
कुर्वे टीकां द्वितीयेऽस्मिन्, सर्गेऽज्ञात्मप्रबोधिनीम् ॥२॥

卐

अथ द्वितीयं सर्गं प्रारिप्सुः एतद्ग्रन्थनायकमेव मङ्गलार्थं स्तौति—नृपत्वेति—

नृपत्वचक्रित्वरमाऽङ्गभोगा-सङ्गान्महानन्दमविन्दमानः ।
तीर्थेशलक्ष्मीं परिणीतवान् यः, श्रीशान्तिनाथः स शुभाय वः स्तात् ॥१॥

व्याख्या—**नृपत्वचक्रित्वरमाङ्गभोगासङ्गाद्**—नृपत्वं नृपलक्ष्मीः, चक्रित्वं चक्रवर्तिलक्ष्मीः, तयोः रमा शोभा तस्या अङ्गानि छत्रचामरादीनि चक्ररत्नादिस्त्रीरत्नपर्यंत-चतुर्दशरत्नानि नवनिध्यादीनि च तेषां यो भोगः, उपभोगस्तत्र य आसङ्ग आसक्तिः तस्मात्, **महानन्दं**-परमानन्दं शाश्वतिकं सुखम् । **अविन्दमानः**—अलभमानः, लौकिकविषयोपभोगजन्यसुखानामनित्यत्वेनापारमार्थिकत्वाद्, दुःखसंभिन्नत्वाच्चेति भावः । **यः श्रीशान्तिनाथः, तीर्थेशलक्ष्मीम्**—तीर्थेशस्य, तरन्त्यनेनेति तत्तीर्थम्, द्वादशाङ्गी प्रथमगणधरः चतुर्विधसङ्घश्च, तस्येशः तीर्थंकर इत्यर्थः, तस्य लक्ष्मीमष्टप्रातिहार्य-चतुस्त्रिंशदतिशयादिरूपां । **परिणीतवान्**—स्वीकृतवान्, तस्या एव शाश्वतिकमहानंदजनकत्वात् । **स वः**—युष्माकम्, वक्तृश्रोतृणां । **शुभाय**—मङ्गलाय । **स्तात्**—भवतात् । अत्र दुस्त्याज्यनृपत्वचक्रवर्त्तित्वलक्ष्मीत्यागेन तस्य वीतरागतोक्ता, तदैव तीर्थेशलक्ष्मीप्राप्ति-योग्यतायाः सम्पत्तेरिति, तीर्थेशलक्ष्मीप्राप्तौ नृपत्वेत्यादिवाक्यार्थस्य हेतुत्वावगमात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । एतेन लौकिकसुखेहात्यागं विना न परमसुखलाभ इति सूचितम्। अत्र सर्गे उपजातिश्छन्दः ॥१॥

अथ सत्यभामायाः कपिलपरिचये हेतुभूतं धरणीजटवृत्तमाह—अवीवृधदिति—

अवीवृधद्यः कपिलं सलील-माहारधाराभिरपेक्षिताभिः ।
तत्राऽथ विप्रो नियतेर्नियोगात्, स दौस्थ्यपात्रं धरणीजटोऽभूत् ॥२॥

व्याख्या—**अथेति**—वृत्तान्तरप्रारम्भे। **तत्र**—अचलग्रामे। **यः धरणीजटः, अपेक्षिताभिः**—उचिताभिः। **आहारधाराभिः**—आहाराणां भक्ष्यान्नपानादीनां या धारा परम्परा ताभिः। **सलीलं**—लीलया विलासेन लालनादिना सहितम्, नतु दासीपुत्रोऽयमित्यनादरबुद्धया यथाकथञ्चिदितिभावः। **कपिलं**—तदाख्यं कपिलापुत्रम्। **अवीवृधत्**—पुनः पुनरतिशयेन वा वर्द्धयति स्मेत्यन्तर्भावितण्यर्थः। **स**—तादृशः समुचिताचरणपरायणः। **विप्रः**—ब्राह्मणः धरणीजटः। **नियतेः**—विधे. नियतिर्विधित्यमरः। **नियोगात्**—आदेशात्। **दौस्थ्यपात्रम्**—दौस्थ्यस्य दुःस्थतायाः दुर्गतत्वस्य द्वारिद्र्यस्येति यावत् पात्रम् भाजनम्। **अभूत्**—जातः, सुखदुःखादेर्भाग्याधीनत्वादितिभावः ॥२॥

अथ सौस्थ्ये दौस्थ्ये च नियतिरेव कारणमिति भाग्यलक्षणनियतिवशादेव तदुभयं भवतीति तस्य नियतिप्रयोज्यत्वं लक्ष्म्याश्च चञ्चलत्वमाह—या वातेति—

या वातसम्पातपराहताम्बु-कल्लोलमालाभिरमाऽविरामम्।
श्रीर्वार्द्धिकूले विललास बाल्ये, तस्यां कथं स्थैर्यमवेक्षणीयम् ॥३॥

व्याख्या—**या**—लक्ष्मीः। **वातसम्पातपराहताम्बुकल्लोलमालाभिः**—वातस्य पवनस्य सम्पातः समाघातस्तेन, पराहताः व्याहताः, यद्वा वातस्य सम्पातोऽतिवेगेनावहनं तेन पराहताः सम्मूर्छिता ये अम्बूनां जलानां कल्लोलाः महोर्मयः, एतेन कल्लोबलानामुत्तुङ्गत्वं, चञ्चलत्वञ्चोक्तम्, वाताघातेन तथैव संभवात्। तेषां या माला परम्परा तया अभिरमते क्रीडति या सा तादृशी श्रीः, यद्वा मालाभिः। **अमा**—सह। **श्रीः**—लक्ष्मीः। **बाल्ये**—शैशवे। **वार्द्धिकूले**—वार्धेः समुद्रस्य कूले वेलायां। **अविरामं**—सततम्। **विललास**—विलासं कृतवती, लक्ष्म्याः समुद्रोत्पन्नत्वाद्बाल्ये तत्रैव तत्क्रीडनसम्भवादिति भावः। **तस्यां**—तादृग् वाताघातान्दोलितायां लक्ष्म्यां। **स्थैर्यं**—स्थिरता। **कथम्**—केन प्रकारेण। **अवेक्षणीयम्**—द्रष्टव्यम्, न कथमपीत्यर्थः। बाल्ये ह्याहितः संस्कारो दृढो भवति, तस्याश्च तत्र चञ्चलतरङ्गसंसर्गाच्चाञ्चल्यस्यैवाधानं संभवति, "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" इत्युक्तेः। एवञ्च तस्याः चञ्चलत्वे सिद्धे तत्रोद्बोधकापेक्षायां भाग्यस्यैवोद्बोधकत्वं कल्प्यते, नहि कोऽपि स्वतो लक्ष्म्याः स्थलान्तरतामिच्छति, नापि वाऽत्र दुराचारस्य तत्प्रयोजकता, धरणीजटे तदभावस्य सत्त्वात्। एवञ्च सुष्ठूक्तं नियतेर्नियोगादिति। अत्रास्थिरत्वे चरणत्रयगतवाक्यार्थस्य हेतुत्वोपगमाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥३॥

ननु "गुणलुब्धाः सम्पदः" इत्युक्तेः तस्मिन् विप्रे गुणानां सत्त्वात्तत्रैव लक्ष्म्या अवस्थानम् युक्तम्, नत्वन्यत्र, तथा च कथं स दौस्थ्यपात्रं, तत्राह—या वासपद्ममिति—

या वासपद्मं जलदुर्गदुर्गं, सवेगमुत्सृज्य सहोदरेण।
चन्द्रेण सार्धं निशि रंरमीति, तस्याः किमन्यत्र रतिर्न सत्या ? ॥४॥

व्याख्या—**या**—लक्ष्मीः। **जलदुर्गदुर्गम्**—जलमेव दुर्गं कोट्टम्, "कोट्टदुर्गे पुनः समे" इति हैमः, तेन दुर्गम् दुर्गमम्, एतेन ततो निःसरणेऽपि दुर्गमता सूचिता, गमने दुर्गस्य निःसरणेऽपि तथात्वात्, एवम्भूतमपि। **वासपद्मम्**—वासः वासस्थानं यद् पद्मं कमलम्, तत्। **सवेगम्**—सत्वरम्, झटित्येव। एतेन तस्याः विचारलज्जाद्यभावः सूचितः, तादृश्या एव झटिति वासगृहत्यागसम्भवात्, तादृशस्य वासस्य त्यागान्महासाहसिकत्वं च द्योत्यते, नहि दुर्गगतगृहत्यागः स्वल्पेन साहसेन सम्भवति, अत एव पुरुषेभ्यः स्त्रीषु चतुर्गुणं साहसम् इति नीतिः। **उत्सृज्य**—त्यक्त्वा, ननु दिवात्यागो न सम्भवति, स्वयं तथाकरणोद्यतत्वेऽपि रक्षकादिना निरोधसम्भवात्, लोकलज्जाया एव वा बलवत्या निरोधकत्वसम्भवादत आह—**निशि**—रात्रौ, रात्रौ हि अन्यपुरुषदृष्टिसम्पाताऽभावात् तथा कर्त्तुं शक्यत्वादिति भावः। **सहोदरेण**—सगर्भेण। **चन्द्रेण**—विधुना, द्वयोः समुद्रोत्पन्नत्वादिति भावः। अत्र सहोदरेणेत्युक्त्यातिगर्ह्यकारित्वं तस्याः सूच्यते। **सार्धं**—सह। **रंरमीति**—पुनः पुनः अतिशयेन वा रमते, तस्याः तादृश्याः अतिनिकृष्टकुलटायाः लक्ष्म्याः। **अन्यत्र**—अन्यस्मिन् पुंसि विषये। **रतिः**—रमणं। **सत्या**—यथार्था। **न किम्**? अपि तु यथार्थैव। यस्यास्सहोदरेण रमणे न बाधा तस्या अन्यत्र किमु वक्तव्यम्? एवञ्च तस्याः कुतो गुणागुणविचारः, विचारे वा बहूनां गुणिनां सत्त्वादेकं परित्यज्यान्यत्र गमने कुलटाया बाधकाभावः, अत्र दिवा पद्मस्य विकाशः, रात्रौ सङ्कोचः, चन्द्रस्य च रात्रावेव शोभा न दिवा इति दिवा चन्द्रे न लक्ष्मीः, रात्रौ च पङ्कजे न। यदुक्तं कुमारसम्भवे "चन्द्रंगता पद्मगुणान् न भुङ्क्ते, पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्यामि"ति तदेवात्र प्रकारान्तरेण वर्णितम्। एवञ्चात्रातिशयोक्तिरलङ्कारः, स्वभावत एवोभयत्र लक्ष्म्या भावाभावसत्त्वेन लक्ष्मीकर्त्तृकत्यागाश्रयणादेरध्यवसायात्, तत्परिपुष्टञ्च लक्ष्म्याः अन्यत्र रमणानुमानमिति द्वयोः सङ्करः ॥४॥

अथ तस्या अस्थिरत्वे हेतुमुक्त्वा फलमाह—**पिता ययेति**—

पिता यया क्षार इति प्रसिद्धः, पतिर्यया कृष्ण इति स्वतोऽपि ।
भ्राता कलङ्कीति यया व्रजन्त्या, विगाहतां सा स्थिरतां क्व लक्ष्मीः ?॥५॥

व्याख्या—**यया**—लक्ष्म्या। **व्रजन्त्या**—गच्छन्त्या, यल्लक्ष्म्याः जनकत्वेन संसर्गमाप्त इति यावत्। **पिता**—जनकः समुद्रः। **क्षारः**—लवणाकरः। **इति**—इत्थं। **प्रसिद्धः**—लोके ख्यातोऽस्ति। **यया**—लक्ष्म्या। **स्वतोऽपि**—स्वयमपि, व्रजन्त्या इत्यनुषज्यते। **पतिः**—भर्त्ता। **कृष्णः**—कालः। **इति**—इत्थं, प्रसिद्धः, इत्यनुषज्यते। **यया**—लक्ष्म्या, व्रजन्त्येत्यनुषज्यते। **भ्राता**—चन्द्रः। **कलङ्की**—कलङ्कवान्। **इति**—इत्थम्, प्रसिद्धः इत्यनुषज्यते। **सा**—तादृशी सर्वदूषिणी। **लक्ष्मीः**—श्रीः। **क्व**—कुत्र। **स्थिरतां**—निश्चलताम्। **अवगाहतां**—प्राप्नोतु, न कुत्रापीत्यर्थः। स्वयं गतायामपि तस्यां न कोऽपि स्थिराश्रयदः, तत्पित्रादिदोषानुषङ्गसाध्वसादिति सा न कुत्रापि स्थिरतामवगाहते इति भावः। एवञ्च पूर्वोक्तहेतोरत्रोक्तफलाच्च तस्याः चञ्चलत्वं सिद्धमिति भावः। अत्र

समुद्रस्य क्षारत्वस्य लक्ष्मीगमनहेतुकत्वाभावेऽपि तद्धेतुकत्वोक्तेः, कृष्णे स्वत एव कृष्णत्वस्य कालत्वस्य सत्त्वेन तत्र लक्ष्मीगमनहेतुकत्वाध्यवसायात्, स्वतः कलङ्किनि चन्द्रे लक्ष्मीगमनहेतुकत्वाध्यवसायाभासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः, तादृशदुष्टफलेन च लक्ष्म्यां हेतुभूतं चञ्चलत्वमनुमितमित्यनुमानञ्च, तयोः सङ्करः ॥५॥

अथ लक्ष्म्यास्तत्त्यागे हेत्वन्तरमपि श्लोकद्वयेनाह—वस्त्राणीति—

वस्त्राणि चित्राणि सुभोज्यमाज्य-प्राज्यं च ताम्बूलविलेपनानि ।
मृगेक्षणानेत्रनिरीक्षणानि, श्रियः प्रसत्तौ सुलभं समस्तम् ॥६॥

व्याख्या—**श्रियः**—लक्ष्म्याः । **प्रसत्तौ**—प्रसादे सति प्रसन्नायां लक्ष्म्यामित्यर्थः । **चित्राणि**—नैकप्रकाराणि । **वस्त्राणि**—वासांसि । **आज्यप्राज्यम्**—आज्यं घृतं प्राज्यं प्रचुरं यत्र तत्तादृक् । **सुभोज्यम्**—सुभक्ष्यम् । **ताम्बूलविलेपनानि**—ताम्बूलानि नागवल्लीदलानि विलेपनानि अङ्गरागानि "अङ्गरागो विलेपनम्" इतिहैमः । **मृगेक्षणानेत्रनिरीक्षणानि**—मृग इव ईक्षणं यासां ताः मृगेक्षणाः हरिणेक्षणाः योषितः, तासां नेत्राणि नयनानि तैः निरीक्षणानि अवलोकनानि इतीति शेषः । **समस्तम्**—सुलभम्, अनायासलभ्यम्, लक्ष्मीवतां लौकिकविषयभोगसुलभः इत्यर्थः ॥६॥

अथ पूर्वश्लोकार्थस्योपयोगमाह—वाणीति—

वाणी स्वभावेन विरोधिनी मे, दोषप्रकाशप्रवणा बुधेन ।
पुरस्कृता तेन ततो मयाऽपि, तिरस्कृतोऽसाविति यं रमौज्झत् ॥७॥

व्याख्या—**तेन**—धरणीजटाख्येन । **बुधेन**—पण्डितेन । **मे**—मम । **दोषप्रकाशप्रवणा**—दोषस्यागुणस्य प्रकाशे प्रकटने प्रवणा तत्परा । अत एव **स्वभावेन**—निसर्गेण । **विरोधिनी**—अप्रियकर्त्री । **वाणी**—सरस्वती । **पुरस्कृता**—अग्रेकृता, सत्कृतेत्यर्थः, अहं तु तिरस्कृता इति भावः । **ततः**—तस्माद्धेतोः । **मया**—कर्त्र्या लक्ष्म्याऽपि । **अपिः**—विप्रकृततिरस्कारसूचकः । **असौ**—विप्रः । **तिरस्कृतः**—त्यक्तः । **इति**—इत्थं कृत्वा । **रमा**—लक्ष्मीः । **यम्**—विप्रम् धरणीजटम् । **औज्झत्**—त्यक्तवती, सापत्न्यविरोधस्यासमाधेयत्वादिति भावः । विद्वांसः प्रायः निर्धना एव भवन्ति इति गूढार्थः ॥७॥

अथ लक्ष्म्यपगमे धरणीजटावस्थां भङ्ग्या युग्मेन वर्णयति—श्रिय इति—

श्रियः प्रसादापगमे स विप्रः, कणादभावं भज तेस्म नव्यम् ।
आतिष्ठमानः प्रथमं पदार्थं, गुणं द्वितीयं निरभर्त्सयच्च ॥८॥

विशेषतां क्वाप्यनवेक्षमाणः, सामान्यसत्तामपि पर्यहार्षीत् ।
यो वा निरस्यन् समवायमेकं, मनोऽपि दुष्कर्मपरं निनिन्द ॥९॥

व्याख्या—**श्रियः**—लक्ष्म्याः । **प्रसादापगमे**—प्रसादस्य प्रसन्नताया अपगमेऽभावे सति, दुर्गतः सन्नित्यर्थः । **स**—तादृशः प्रसिद्धः । **विप्रः**—ब्राह्मणः, धरणीजटः । **नव्यम्**—विलक्षणम् नूतनम् । **कणादभावम्**—कणान् अत्तीति कणादः, भिक्षायामुत्तमतण्डुलाऽलाभात्, कथञ्चित् प्राप्ततण्डुलकणभोक्ता कणादस्तस्य भावस्तम् । अथ च कणादः वैशेषिकन्यायप्रणेता ऋषिः, तस्य भावम् । **भजते स्म**—अभजत्, कणभक्षणं तस्य जीवनोपायोऽभूत् इत्यर्थः । तथा **प्रथमम्**—प्रथमोपात्तम् । **पदार्थं**—द्रव्यमित्यर्थः, वैशेषिकनये पदार्थविभागप्रदर्शकसूत्रे प्रथमतः द्रव्यस्यैवोपादानादिति भावः । **आतिष्ठमानः**—आकाङ्क्षमानः, अथ च प्रतिजानानः । **द्वितीयं**—द्वितीयतयोपात्तम् । **गुणं**—गुणात्मकपदार्थं । **निरभर्त्सयत्**—तत्याज । **च**—वैशेषिकनये हि पदार्थमध्ये द्रव्यं गुणश्रोक्तम्, अयन्तु द्रव्याकाङ्क्षया गुणं तत्याज, नहि द्रव्यलुब्धानां दुर्दशानां क्व गन्तव्यम्, क्व याचनीयम्, किं कर्त्तव्यमित्यादि सदसद्विचारस्तिष्ठतीत्येवं स गुणरहितो जायते । एवञ्चैतेन द्रव्यमाश्रित्य गुणत्यागात् पूर्वकणादतो वैलक्षण्यमशिश्रियत्, स तु गुणमशिश्रियदेवेति सुष्ठूक्तम् नव्यकणादभावमभजदिति ॥८॥ वैलक्षण्ये युक्त्यन्तरमप्याह विशेषतामिति । **क्वापि**—कुत्रापि । **विशेषतां**—स्वसत्कारादिरूपम् वैशिष्ट्यम् । **अनवेक्षमाणः**—अनवलोकयन् । अथ नित्यद्रव्यवृत्ति विशेषपदार्थत्वम् अनवलोकमानः, वैशेषिकनये परमाणौ भेदग्राहको विशेषः, स च स्वतो व्यावृत्त इति सिद्धान्तः । अस्य तु न क्वापि विशेषतादृष्टिरित्यपरं वैलक्षण्यम् । **सामान्यसत्ताम्**—स्वकीया या सामान्यसत्ता ब्राह्मणत्वादिरूपेण स्थितिः, तामपि **पर्यहार्षीत्**—परित्यक्तवान्, कुत्रापि विशेषसत्काराऽलाभात् द्रव्यप्राप्त्यभावाज्जीवननिर्वाहार्थमनन्यगतिकत्वाद् ब्राह्मणोऽहमित्यादि स्वजातिविचारं त्यक्त्वा यतः कुतश्चिच्छूद्रादिगृहादेरपि सिद्धान्नाद्यप्यानीय जीवनं निरवाहयदित्यर्थः । आर्त्ताः किं न प्रकुर्वते इति भावः । वैशेषिकनये तु सत्ता द्रव्यत्वादि नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं पदार्थ इति स्वीकृतम्, अयं तु सामान्यसत्तां पर्यहार्षीदित्यपि ततोऽस्य वैलक्षण्यम् । **वा**—पुनः । **यः**—धरणीजटः नूतनः कणादः । **एकम्**—अद्वितीयं । **समवायं**—समूहम् । अथ च समवायसम्बन्धम् वैशेषिकनयप्रसिद्धम् । **निरस्यन्**—क्षिपन्, न स क्वापि एकसमवाये सम्प्रदाये तिष्ठति, किन्त्वार्त्तः जीवननिर्वाहार्थं सम्प्रदायात् सम्प्रदायान्तरमाश्रयति द्रव्याकाङ्क्षया इत्यर्थः । वैशेषिकनये तु समवायसम्बन्धः एक एव पदार्थमध्ये स्वीकृतः, इति ततो वैलक्षण्यम् । **दुष्कर्मपरम्**—ईदृशजातित्यागादिसंसक्तं । **मनः**—चित्तं । **निनिन्द**—धिङ् मां, यदेवं गर्हिताचारमाचरामि, तस्य विद्वत्त्वादेवं विचारस्योदय इति भावः, वैशेषिकनये च द्रव्यमध्ये मनसो गणनम्, अयन्तु तन्निन्दति इत्यपि वैलक्षण्यमिति भावः । अत्र श्लेषेन कणादापेक्षयाऽस्य वैशिष्ट्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः ॥९॥

अथ तस्य विप्रस्य चित्तवृत्तिं वर्णयति—रूक्षाशिन इति—

रूक्षाशिनस्तस्य बभूव भोज्यं, निस्नेहमन्तःकरणं न चापि ।
योऽधत्त भक्तस्पृहयालुभावं, निदर्शनेनाऽपि न दर्शनेन ॥१०॥

व्याख्या—**रूक्षाशिनः**—रूक्षं निस्नेहं तैलघृतादिरहितमश्नातीति रूक्षाशी तस्य । **तस्य**—धरणीजटस्य । **भोज्यं**—भक्ष्यम् । **निस्नेहं**—स्नेहेभ्यस्तैलघृतादिभ्यो निर्गतं रहितं । **बभूव**—अभूत् । **अन्तःकरणं**—हृदयं । **न चापि**—न चैव,हृदयं तु सस्नेहं सानुरागमेवेत्यर्थः, तथा । **यः निदर्शनेन**—केनचिद्दृष्टान्तीकृतेनापि, उच्चारितमात्रेणापीति यावत् । **न दर्शनेन**—अवलोकनेन, एवेति शेषः, नावलोकनमात्रेण । **भक्तस्पृहयालुभावम्**—भक्ते ओदनविषये यः स्पृहयालोः गृध्नोः भावं लोलुपत्वम् । **अधत्त**—धृतवान् ,स न केवलम् भक्तं दृष्ट्वैव तत्र स्पृहयतिस्म, किन्तु केनचिद् भक्तशब्दोच्चारणेऽपि तत्र स्पृहयालुर्भवतिस्म । एतेन तस्य नितरां दुर्दशा प्रकटिता, आहारस्याप्यसम्प्राप्तेः । अथ च तं न केवलम् दृष्ट्वैवायं परमो भक्तः इति भक्तानाम् देवाद्यनुरागवतां स्पृहणीयोऽभूद्, अपि तु को भक्त इति जिज्ञासायां तमेव दृष्टान्तत्वेन जना उपन्यस्यन्तीति निदर्शनेनापि स भक्तानां स्पृहयालुताम्, अहमप्येवं भक्तः कथं स्यामिति लालसाविषयत्वमधत्त इत्यर्थः। दरिद्रोऽपि सन् स महानुपासकः, न तु साधारणजनवन्नास्तिकतामुपगत इति भावः । अत्र पूर्वार्धे भोज्यस्य निस्नेहत्वेऽप्यन्तःकरणस्य तन्निषेधाद् परिसंख्यालङ्कारः, किञ्च यथाऽन्नं भक्ष्येत्तथैव सम्पद्यते मनोवृत्तिरिति सिद्धान्ताद् रूक्षभोजने कारणे सत्यपि अन्तःकरणस्य निस्नेहत्वाभाववर्णनाद् हेतौ सत्यपि कार्यानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिरलङ्कारः, तल्लक्षणं यथा—"सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः प्रकीर्त्तिता" इति । एवञ्च परिसंख्याविशेषोक्त्योः सङ्करः । उत्तरार्धे च भक्तस्पृहयालुभावमिव भक्तस्पृहयालुभावमधत्तेति शब्दशक्तिमूलोपमाध्वनिः ॥१०॥

अथ तदवस्थायां तस्य निराश्रयत्वमाह—आशास्त्विति—

आशास्तु शास्त्रेषु दश प्रसिद्धा, विभान्ति मित्रद्विजराजभासः ।
द्विजन्मनस्तस्य दशातिरिक्ता, न चाऽपि मित्रद्विजराजभासः ॥११॥

व्याख्या—**शास्त्रेषु**—आगमेषु । **प्रसिद्धाः**—प्रख्याताः । **दश**—दशसंख्याकाः, पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तराः, चत्वारः कोणाः, ऊर्ध्वमधश्चेत्येवं दशेत्यर्थः । **आशाः**—दिशः । **मित्रद्विजराजभासः**—मित्रः सूर्यः "मित्रो ध्वान्तारातिः" इति हैमः । द्विजराजश्चन्द्रः 'द्विजराजः शशधरः' इत्यमरः । ताभ्यां भासन्ते प्रकाशं गच्छन्ति इति ताः चन्द्रसूर्यप्रकाशिताः । **विभान्ति**—शोभन्ते । **तु**—किन्तु । **तस्य**—दरिद्रस्य । **द्विजन्मनः**—विप्रस्य धरणीजटस्य । **दशातिरिक्ताः**—दशभ्यः अतिरिक्ताः भिन्नाः अधिका वा, ताः आशाः । अत्र आशा इति न दिशः

किन्तु आशासनमाशाः प्राप्तीच्छाः, सर्वेभ्य एव संप्राप्तिकामनां करोतीति तस्य शतश आशा इत्यर्थः । तथा ता आशाः **मित्रद्विजराजभासः**—मित्रं सुहृत् द्विजः कश्चिदन्यः कुटुम्बः उदासीनश्च राजा नृपश्च यद्वा द्विजानां मध्ये राजा इव द्विजराजः, इभ्यो द्विजः, स च तेभ्यस्ताभ्यां वा भासन्ते इति मित्रद्विजराजभासः मित्र-द्विजराजपूरणीयाः । **न चापि**—न चैव, केऽपि न तदाशाः पूरयन्तीत्यर्थः, नितरां निरालम्बनः स इति भावः । अत्र दिग्वाचकाशाभ्यः धनादिप्राप्तीच्छारूपाशानां न्यूनत्ववर्णनाद् व्यतिरेकः, स च आशा इति श्लेषानुप्राणितः । किञ्च दिग्वाचकाशाः भिन्नाः, प्राप्तीच्छारूपाश्च भिन्ना इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः । किञ्च आशा दशैव न ततोऽरिक्ताः । अत्र तु तदतिरिक्ता इति विरोधः, अर्थान्तरपरतया तु तत्परिहारः, एवञ्च विरोधाऽलङ्कारोऽपि । ततश्च श्लेषव्यतिरेकातिशयोक्तिविरोधानां सङ्करः ॥११॥

अथ तत्पत्न्याः उक्तिं प्रपञ्चयति—**दौर्गत्यदुःखमिति**—

दौर्गत्यदुःखं बहुधा वहन्तं, मनुष्यभावेऽपि पतिं विभाव्य ।
पतिव्रतानामवतंसरूपा, द्विजप्रिया सा तदिदं न्यगादीत् ॥१२॥

व्याख्या—**मनुष्यभावेऽपि**—मनुष्यस्य भावः धर्मः मनुष्यत्वमित्यर्थः,तस्मिन् सत्यपि । **बहुधा**—अनेकप्रकारेण । **दौर्गत्यदुःखम्**—दुर्गतस्य भावो दौर्गत्यं दुःखित्वं दरिद्रत्वञ्च । अथ च दुष्टागतिरवस्था दुर्गतिः तस्या भावो दौर्गत्यं दरिद्रता, यद्वा दुष्टे गती दुर्गती नरकतिर्यग्लक्षणे तयोर्भावो दौर्गत्यम्, ततः यद्दुःखं तद् । अत्रापि ना विरोध उक्तः, मनुष्यत्वे नरकतिर्यग् दुःखमिति विरोधः, प्रेतत्वे एव तद्दुःखानुभवाद्, नरकादिलोकस्य मर्त्यलोकाद्भिन्नत्वाद्, दरिद्रताऽर्थकरणेन तु तत्परिहारः । **वहन्तं**—प्राप्नुवन्तं । **पतिं**—कान्तं । **विभाव्य**—पर्यालोच्य । **पतिव्रतानां**—सतीनाम् । **अवतंसरूपा**—भूषणरूपा । **सा**—प्रसिद्धा यशोभद्राख्या । **द्विजप्रिया**—विप्रपत्नी । **तदिदं**—वक्ष्यमाणं । **न्यगादीत्**—जगाद । अत्र विरोधालङ्कारः । विरोधपरिहारस्तु प्रदर्शित एव॥१२॥

अथ सा यन्न्यगादीत्तदाह—**पुत्रस्त्वदीय इति**—

पुत्रस्त्वदीयः कपिलः कलावा-न्निशम्यते रत्नपुरे महर्द्धिः ।
तत्सन्निधौ यात यथा स दत्ते, धनानि युष्मभ्यमृणापहानि ॥१३॥

व्याख्या—**त्वदीयः**—तव । **पुत्रः**—सुतः । **कपिलः**—तदाख्यः । **कलावान्**—कलाज्ञः पण्डित इत्यर्थः । एतेन तत्र धनप्राप्तिसंभावनोक्ता । पण्डितो हि पितृभक्तः स्यादेवेति भावः । **रत्नपुरे**—तदाख्यनगरे । **महर्द्धिः**—महती ऋद्धिः सम्पत्तिर्यस्य स तादृशः । **निशम्यते**—श्रूयते, जनश्रुत्येति शेषः । **तत्सन्निधौ**—तस्य कपिलस्य सन्निधौ समीपे । **यात**—व्रजत । ननु तत्र गमनेन किं स्यात्तत्राह—**यथा**—येन प्रकारेण । **स**—कपिलः ।

युष्मभ्यम्—भवद्भ्यः । **ऋणापहानि**—ऋणानि अपहन्ति दूरीकुर्वतीति तानि तथाविधानि ऋणापहानि । **धनानि**—वित्तानि । **दत्ते**—दद्यादित्यर्थः । तत्र गमनेनैव तल्लाभसंभवः । अत्रत्यं हि त्वां स कथमीदृशं दुर्दशं बुद्धयेतेति भावः ॥१३॥

अथ तदनन्तरं तत्कर्त्तव्यमाह—पथ्यामिति—

पथ्यां च तथ्यां च स वाचमस्या-निपीय पीयूषरसातिसाराम् ।
तदर्पितं दर्पविविक्ततेजाः, पाथेयमादाय चचाल विप्रः ॥१४॥

व्याख्या—**पथ्यां**—हिताञ्च । **तथ्यां**—यथार्थां च । **अस्याः**—यशोभद्रायाः । **पीयूषरसातिसाराम्**—पीयूषस्यामृतस्य रसो निष्यन्दः ततोऽपि अति—उत्कृष्टः सारः स्थिरांशः यस्यां तां तादृशीं । **वाचं**—वाणीं । **निपीय**—सादरं श्रुत्वा । **दर्पविविक्ततेजाः**—दर्पेणाहंकारेण विविक्तं रहितं तेजः प्रभावो यस्य स तादृशः, निरभिमानीत्यर्थः, अन्यथा पुत्रसकाशात् याचितुं गमनं न स्यादिति भावः । **स**—तादृशः । **विप्रः**—द्विजः धरणीजटः । **पाथेयम्**—पथि साधु पाथेयम् भक्ष्यान्नादि । **तदर्पितम्**—तया यशोभद्रया अर्पितं दत्तम् । **आदाय**—नीत्वा । **चचाल**—प्रतस्थे ॥१४॥

अथ गमने कार्यसिद्धिसूचकं शकुनमाह—प्रदक्षिण इति—

प्रदक्षिणस्तस्य बभूव चाषः, प्रदक्षिणत्वं प्रथयन्निवोच्चैः ।
प्रतिष्ठमानस्य सुतं प्रतीष्ट-प्रातिष्ठमानस्य ततो द्विजातेः ॥१५॥

व्याख्या—**ततः**—प्रस्थानानन्तरम् । **तस्य**—धरणीजटस्य । **इष्टप्रातिष्ठमानस्य**—इष्टमभिलषितम् प्रातिष्ठमानस्याश्रयतः, अभिलाषां कुर्वतः, तत्र मे अभिलषितप्राप्तिः स्यादित्येवमीहमानस्येत्यर्थः । तथा सुतं पुत्रं प्रति प्रतिष्ठमानस्य कृतप्रस्थानस्य । **द्विजातेः**—विप्रस्य । **उच्चैः**—उत्कृष्टं । **प्रदक्षिणत्वम्**—अनुकूलतां । **प्रथयन्**—ख्यापयन्निव । **चाषः**—तदाख्यः पक्षिविशेषः । **प्रदक्षिणः**—स्वदक्षिणभागस्थः । **बभूव**—अभूत्, यात्रासमये स्वदृष्टिगोचरीभूतः प्रदक्षिणः चाषः कार्यसिद्धिसूचकः इति भावः ॥१५॥

अथ तस्य गमनप्रकारं त्रिभिराह—तटोद्भतेति—

तटोद्भतानेकविशालशाल-च्छायानिषिद्धातपसञ्चयानि ।
सम्भावयन् क्वापि सरांसि शीत-मुक्ताफलक्षोदसमाम्बुपानात् ॥१६॥

व्याख्या—**क्वापि**—कुत्रापि प्रदेशे, तृषार्त्तः सन् इति भावः । **तटोद्भतानेकविशालशालच्छायानिषिद्धातपसञ्चयानि**—तटे तीरप्रदेशे उद्भता उद्भूता ये अनेके विविधाः विशाला विस्तीर्णा महान्तश्च "अनोकहः,

कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः" इत्यमरोक्तेः शाला वृक्षाः तेषां छायाभिः कृत्वा निषिद्धा निवारिताः आतपानामुष्णकिरणकिरणानां सञ्चयाः श्रेणयः यत्र तादृशानि, वृक्षाणामतिघनत्वात्पल्लवप्रचुरत्वाच्चेति भावः। एतेन शैत्यसम्पत्तिरुक्ता। **सरांसि**—कासारान्। **शीतमुक्ताफलक्षोदसमाम्बुपानात्**—शीतं शीतलम् तथा मुक्ताफलं मौक्तिकम् तस्य यः क्षोदः चूर्णः तेन समं तुल्यं यदम्बु जलम्, जलस्यातिनिर्मलत्वान्मुक्ताफलक्षोदतुल्यतेति भावः तस्य शीतलस्य निर्मलस्य च जलस्य पानात् पानक्रियातः। **सम्भावयन्**—उपयुञ्जन् प्रशंसयंश्च। अत्र शैत्ये तटोद्रतेत्यादिपदार्थस्य हेतुत्वोपगमात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥१६॥

पुराणि साराणि निरीक्षमाणः, क्वचिद् गवाश्वादि परीक्षमाणः।
तीर्थानि कुत्रापि परीयमाण- स्त्रिः क्वापि दुर्गाच्च निरीयमाणः ॥१७॥

व्याख्या—**साराणि**—श्रेष्ठानि। **पुराणि**—नगराणि, मार्गे प्राप्तानीति भावः। अस्य सर्वत्रानुषङ्गः। **निरीक्षमाणः**—अवलोकमानः। **क्वचित्**—कुत्रापि। **गवाश्वादि**—गावश्च अश्वाश्च एषां समाहारे गवाश्वं, तदादि तत्प्रभृति-हस्त्याद्यपीति भावः। **परीक्षमाणः**—तल्लक्षणादिभिरुत्कृष्टत्वानुत्कृष्टत्वादि विवेचमानः। एतेन तस्य तज्ज्ञत्वं सूचितम्। तज्ज्ञाः तं दृष्ट्वा गुणदोषौ चिन्तयन्तीति स्वभाव इति भावः। **कुत्रापि**—क्वापि। **तीर्थानि**—पुण्यस्थानानि। **त्रिः**—त्रिवारं। **परीयमाणः**—प्रदक्षिणं कुर्वन्नित्यर्थः। तस्य आस्तिकत्वादिति भावः। **क्वापि**—कुत्रापि च "कोट्टदुर्गे पुनः समे" इति हैमोक्तेः। **दुर्गात्**—कोट्टाद् दुर्गभूमेश्च। **निरीयमाणः**—निस्सरन् ॥१७॥

विश्रम्य विश्रम्य महीरुहाणां, छायासु कुत्रापि चलन् श्रमार्तः।
ध्वजाभिरावेदितसौधराजि, प्राप क्रमाद्रत्नपुरं पुरं सः ॥१८॥

व्याख्या—**श्रमार्तः**—चलनक्रमखिन्नः। **कुत्रापि**—क्वापि। **महीरुहाणां**—वृक्षाणां। **छायासु**—अनातपेषु। **विश्रम्य-विश्रम्य**—विश्रामं कृत्वा। वीप्सायां द्विरुक्तिः। एतेन श्रमाधिक्यं सूचितम्। **चलन्**—गच्छन्। **क्रमात्**—शनैः। **सः**—धरणीजटः। **ध्वजाभिः**—पताकाभिः। **आवेदितसौधराजिः**—आवेदिता ज्ञापिता सौधानाम् प्रासादानां राजिः श्रेणिर्येन तद् तादृशम्, ध्वजायुक्तसौधश्रेणीयुक्तम्। **रत्नपुरं**-तन्नाम। **पुरं**-नगरं। **प्राप**—प्राप्तवानित्यर्थः॥१८॥

अथ तद्दृष्ट्या रत्नपुरं वर्णयति—**यदुन्नतमिति**—

यदुन्नतं दुर्गमितोऽपि हर्म्य-चक्रं ततोऽपि क्षितिपालसद्म।
ततोऽपि जैनायतनं च तस्मिन्, सतां तदौन्नत्यमयं स मेने ॥१९॥

व्याख्या—**तस्मिन्**—रत्नपुरे। **यद् उन्नतम्**—उच्चं "तुङ्गमुच्चमुन्नतम्" इति हैमः। **दुर्ग**—कोट्टम्, कोट्टदुर्गे, इति हैमः। कोट्टमेवात्युन्नतमित्यर्थः। **इतः**—कोट्टादपि। **हर्म्यचक्रम्**—हर्म्याणां धनिकावासानां चक्रं समूहम्, उन्नतमित्यनुषज्यते। **ततः**—हर्म्यालेरपि। **क्षितिपालसद्म**—क्षितिपालस्य राज्ञः सद्म भवनम् राजप्रासादमित्यर्थः, उन्नतमित्यनुषज्यते। **ततः**—राजप्रासादादपि। **सतां**—श्रावकाणां सज्जनानां वा। **औन्नत्यमयं**—उच्चैस्त्वप्रचुरम्, सर्वोच्चमित्यर्थः। **तत्**—प्रसिद्धं। **जैनायतनं**—जिनेन्द्रमन्दिरं स धरणीजटः। **मेने**—अमंस्त। अत्र पूर्वपूर्वविशेषापेक्षयोत्तरोत्तराणां विशेषतरतमत्वेन स्थापनादेकावल्यलङ्कारः। यद्वा राजप्रासादादयं जैनायतनं उन्नतमित्यनुषज्यते दृष्ट्वेति शेषः, सतां सद्वस्तूनाम् औन्नत्यमयमुन्नतिप्रधानमतिश्रेष्ठं तद्रत्नपुरं स मेने अमंस्त। अत्र पूर्वपूर्वं विशेष्यस्य दुर्गादेः उत्तरोत्तरं विशेषणत्वेन स्थापनादेकावल्यलङ्कारः ॥१९॥

अथ तस्य कपिलगृहप्राप्तिमाह—**पदे पदे** इति—

पदे पदे प्रेक्षणकौतुकानि, स प्रेक्षमाणः प्रमदेन तत्र।
प्रश्नैरनेकैरुपलब्धमेष प्राविक्षदुच्चैः कपिलस्य सौधम् ॥२०॥

व्याख्या—**स एषः**—रत्नपुरस्थहर्म्यादिदर्शनसंलग्नचेताः धरणीजटः। **तत्र**—रत्नपुरे। **प्रमदेन**—हर्षपूर्वकम्। **पदे पदे**—स्थाने स्थाने। **प्रेक्षणकौतुकानि**—प्रेक्षणार्थमवलोकनार्थं यानि कौतुकानि प्रदर्शनीयानि कुतुहलानि। **प्रेक्षमाणः**—अवलोकमानः 'कौतुकं च कुतूहलम्' इति हैमः। **अनेकैः**—बहुविधैः। **प्रश्नैः**—जिज्ञासाभिः। **उपलब्धं**—प्राप्तम्। **कपिलस्य**—तदाख्यस्वपुत्रस्य। **उच्चैः**—उन्नतं। **सौधम्**—प्रासादम्। **प्राविक्षत्**—प्रविष्टवान् ॥२०॥

अथ तदा कपिलकृत्यमाह—**रत्नाकरस्तम्** इति—

रत्नाकरस्तं कपिलो द्विजेशं. हर्षादसंमानिव सद्रसोत्थात्।
मर्यादया स्थापितसत्त्वराशिः, प्रत्युज्जगामाभ्युदितं ततो द्राक् ॥२१॥

व्याख्या—**मर्यादया**-स्वोचितस्थित्या वेलाद्यनुल्लङ्घनादिरूपमर्यादया च। **स्थापितसत्त्वराशिः**-स्थापितः स्वान्तः रक्षितः सत्त्वानां 'जीवस्त्यादसुमान् सत्त्वम्' इति हैमोक्तेः, प्राणिनामथ च विनयादिसत्त्वगुणस्य राशिः समूहः येन स तादृशः। **रत्नाकरः**—जलनिधिरूपः ज्ञानविनयादिरत्ननिधिः। **कपिलः**—तन्नामा पुत्रः। **ततः**—धरणीजटम् पितरं प्राप्तं विलोक्य। **सद्रसोत्थात्**—सन् वर्त्तमान उत्कृष्टो वा यो रसः पितृभक्त्यादिरूपोऽनुरागः जलञ्च तदुत्थः तदुद्भवः तस्मात्। **हर्षात्**—संमदात् लक्षणया तरङ्गाच्च। **असंमान्**—न संमातीत्यसंमान् स्वात्मनि अपरिच्छिन्नः। **इव**—सन्। **अभ्युदितम्**—अभ्यागतम्, अथ चोदयं प्राप्तं तं प्रत्यक्षदृश्यमानं।

द्विजेशं—विप्रवरं धरणीजटम्, अथ च चन्द्रम्। द्राक्—झटिति। अनेनादरातिशयो हर्षावेगश्च ध्वन्येते। प्रत्युज्जगाम—स्वागताय संमुखं ययौ। अथ च चन्द्रमिव पितरं दृष्ट्वा पितृचन्द्रं वा दृष्ट्वा रत्नाकररूपस्य ववृधे। अत्र श्लेषानुप्राणितो रूपकालङ्कारः ॥२१॥

अथागते तस्मिन् कपिलभक्तिप्रकारमाह—तातक्रमाब्जे इति—

तातक्रमाब्जे अभिवाद्य पाद्यं, सम्पाद्य सद्यः परिमृज्य भक्त्या।
तेनैव चात्मानमयं स्वमौलौ, निवेशितेनामलमाशमंस्त ॥२२॥

व्याख्या—तातक्रमाब्जे—तातस्य पितुः क्रमौ चरणावेवाब्जे कमले तातक्रमाब्जे, पितृचरणकमलयुग्मम्। अभिवाद्य—प्रणम्य। पाद्यम्—पादप्रक्षालनार्थं उदकम्, 'पादार्थमुदकं पाद्यं' 'पादाय वारिणी'त्यमरः। सम्पाद्य—आनीय। सद्यः—तत्क्षणमेव। भक्त्या—अनुरागेण। परिमृज्य—प्रक्षाल्य। तेनैव—चरणोदकेनैव च। स्वमौलौ—स्वस्य निजस्य मौलौ मस्तके, निजमूर्ध्नि। निवेशितेन—कृतेन सिक्तेनेत्यर्थः। अयं—कपिलः। आत्मानं—स्वम्। आशु—शीघ्रम्। अमलं—निर्मलम्, कृतकृत्यमिति यावत्। अमंस्त—मेने। पितृपादजलं तीर्थजलमिव दुर्लभं पावकञ्चेति भावः। एतेन भक्त्यतिशयः सूचितः ॥२२॥

अथ सत्यभामापरिचयमाह—भद्रासने इति—

भद्रासने तं विनिवेश्य सोऽथ, प्राणीनमत् तामपि सत्यभामाम्।
फलानि पुष्पाणि च धारयन्तीं, पुरो वधूस्ते नमतीति जल्पन् ॥२३॥

व्याख्या—अथ—पाद्याद्यनन्तरम्। स—कपिलः। तं—स्वपितरम्। भद्रासने—भद्रमुत्तमं यदासनं पीठं तद्भद्रासनम्, तस्मिन्, उत्तमासने। विनिवेश्य—उपवेशयित्वा। वधूः—पुत्रवधूः। ते—तव। नमति—प्रणमति। इति—इत्थं। जल्पन्—वदन्। फलानि पुष्पाणि च—कुसुमानि फलानि च पूजार्थमिति भावः। पुरः—धरणीजटाग्रे। धारयन्तीं—स्थापयन्तीं। तां—स्वस्त्रियम् सत्यभामां तन्नामसत्यकिकन्यामपि। प्राणीनमत्—प्रणामं कारयति स्म ॥२३॥

अथ तद्भोजनार्थं कपिलस्य प्रियायै आदेशमाह—भोज्यानीति—

भोज्यानि सम्पादय तातहेतो-र्निष्ठानमिष्टान्नमपि प्रयुङ्क्ष्व।
अम्भोजनेत्रे ! लघु भोजयेमं, विलोलचेलाञ्चलवीजनेन ॥२४॥

व्याख्या—**अम्भोजनेत्रे !**—अम्भोजे कमले इव नेत्रे यस्याः सा तत्संबोधने । कमललोचने ! **तातहेतोः**—तातस्य पितुः हेतोः कृते । **भोज्यानि**—ओदनादीनि, भक्ष्याणि । **सम्पादय**—विधेहि । **निष्ठानं**—तेमनं 'स्यात्तेमनं तु निष्ठान' मित्यमरः । **इष्टान्नं**—ताताभिलषितभोज्यम्, समस्ते तु—**निष्ठानमिष्टान्नं**—घृतपुरादिमधुरपक्वान्नम् । **अपि**—पुनः । **प्रयुङ्क्ष्व**—कुरु । तथा **विलोलचेलाञ्चलवीजनेन**—विलोलस्य निरन्तरं चालितस्य चेलस्य वस्त्रस्य यदञ्चलं प्रान्तभागः तस्य वीजनेन मक्षिकादिनिवारणार्थं चालनेन । एतेन सत्कारातिशयविधानमाह । **इमं**—मम पितरं । **लघु**—शीघ्रं । **भोजय**—अभ्यवहारय, दूरागतत्वाच्छ्रान्तत्वाद् बुभुक्षापीडितोऽस्तीतिहेतोरिति भावः । उपस्थितं दुर्लभमतिथिं सद्य एवानुगृह्णन्ति सन्तः ॥२४॥

ननु इमं भोजयेत्येव कथमुच्यते, मामपि भोजयेति कथं नोक्तमित्याशङ्कायामाह—**बाढमिति**—

बाढं शिरोर्तिव्यथमानदेहो, भोक्ष्ये प्रिये ! तद्विनिवृत्तिमाप्य ।
उत्तिष्ठमाना हि रुजा निवर्त्या, प्रवर्द्धमाना खलु दुर्निवारा ॥२५॥

व्याख्या—**प्रिये**—दयिते ! **बाढम्**—अत्यन्तम् । **शिरोर्तिव्यथमानदेहः**—शिरसि मस्तके या अर्त्तिः पीडा तया कृत्वा व्यथमानः पीड्यमानः देहः यस्य स तादृशः । अत्र देहव्यापिपीडोक्त्या पीडाधिक्यं सूचितम् । **तद्विनिवृत्तिम्**—ततः तादृशपीडातः विनिवृत्तिं शान्तिम् । **आप्य**—प्राप्य । **भोक्ष्ये**—अहमित्यध्याहारः । साम्प्रतं नेतिभावः । ननु दुर्लभाऽतिथिप्राप्त्या सहैव भोक्तव्यम्, पीडासत्त्वेऽपि त्वया पीडायाः पश्चादपिवारणसम्भवात् । एतादृशातिथेश्च पुनर्लाभासंभवात्, सहभोजनाकरणे अवज्ञाप्रतीतेश्च, तत्राह—**हि**—यतः । **उत्तिष्ठमाना**—उद्भवन्ती प्रथमावस्थापन्नेति यावत्, 'रोगो रुजा रुगातङ्कः इति हैमोक्तेः' **रुजा**—रोगः । **निवर्त्या**—निवारणयोग्या भवतीति शेषः । दृढमूलत्वाभावादिति यावत् । **प्रवर्धमाना**—दृढमूलतया वृद्धिं प्राप्यमाणा । **दुर्निवारा**—वारयितुमशक्या । **खल्विति** निश्चये "चिन्तनीया हि विपदामादावेव प्रतिक्रिया" इत्युक्तेरिति भावः । अत्र स्वयं भोजनाकरणे वर्धमानायाः रुजायाः निवारणाशक्यत्वरूपसामान्यार्थेन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥२५॥

अथ तदनन्तरं दम्पतीकर्त्तव्यमाह—**इति प्रियामिति**—

इति प्रियां प्रत्यभिधाय दम्भात्, क्षणं स शय्यामधिशय्य शिश्ये ।
निर्माय निर्मायतयैव तत्त-दबूभुजत् सा श्वशुरं सुभक्तिः ॥२६॥

व्याख्या—**प्रियां**—स्वकान्तां प्रति । **इति**—उक्तप्रकारम् । **अभिधाय**—कथयित्वा । **सः**—कपिलः । **क्षणं**—मुहूर्त्तं । **दम्भात्**—व्याजात् । **शय्यां**—तल्पम् । **अधिशय्य**—अध्याश्रित्य । **शिश्ये**—शयितवान् ।

सा—सत्यभामा । सुभक्तिः—सुशोभना भक्तिः पूज्येष्वनुरागो यस्याः सा, तादृशी सती । निर्मायतया—मायायाः अलीकप्रतिक्रियायाः, निर्गता रहिता, निर्माया—सद्भावा, तस्या भावस्तत्ता तया निर्मायतया सद्भावनया, एवकारेण मायायास्सर्वथाऽभावस्सूचितः । तत्तद्—बहुविधम् । निर्माय—विधाय भोज्यादिकमिति शेषः । श्वशुरम्—निजपतिपितरम् । अबूभुजत्—भोजयति स्म ॥२६॥

अथ तदनन्तरं तच्चित्तवृत्तिमाह—रसासुराणामिति—

रसासुराणामवतंसमेतं, वेदान्तविद्याविदुषां सुमुख्यम् ।
अभ्यागतं तं गुरुमाशयित्वा, कृतार्थमात्मानममंस्त साऽपि ॥२७॥

व्याख्या—रसासुराणां—रसायाः पृथिव्याः सुराः देवाः, रसासुरा भूसुरा ब्राह्मणाः, तेषाम् । अवतंसं—भूषणभूतम् । वेदान्तविद्याविदुषां—वेदान्तस्याध्यात्मनः विद्या तस्या विदुषां प्राज्ञानां, सुमुख्यं प्रधानतरम् । एतम्—आगतं । तं—प्रसिद्धम् । अभ्यागतम्—अतिथिं । गुरुं—श्वशुरं, पूज्यम् । आशयित्वा—भोजयित्वा । साऽपि—सत्यभामाऽपि । आत्मानं—स्वं । कृतार्थं—कृतकृत्यम् । अमंस्त—मेने, गुरुसेवा हि जन्मनः फलमितिभावः ॥२७॥

अथ तदनन्तरं कपिलकृत्यमाह विलम्ब्येति—

विलम्ब्य कञ्चित् समयं विनिद्रः, समुत्थितः सोऽपि पुनर्वितन्द्रः ।
ऊचे प्रियामाशयमां समीर-भवा शिरोऽर्त्तिर्न्यवृतन्ममापि ॥२८॥

व्याख्या—कञ्चित् समयं—स्वल्पकालं । विलम्ब्य—व्यतीत्य । विनिद्रः—उद्बुद्धः । पुनः—भूयः । वितन्द्रः—विगता तन्द्रा यस्य स वितन्द्रः, गतालसः सन् । समुत्थितः—उत्थायोपविष्टः । सः—कपिलः । अपि मम—मेऽपि । समीरभवा—समीरः वायुविकारः तेन भवति उत्पद्यते या सा तादृशी । शिरोऽर्त्तिः—शिरसः मस्तकस्य अर्त्तिः पीडा । न्यवृतत्—निवृत्ताऽभूत, इति हेतोरिति शेषः । मामाशय—भोजय माम् इति । प्रियां—निजकान्ताम् । ऊचे—कथितवान् ॥२८॥

अथ तत्प्रियाकृत्यमाह—तदैवेति—

तदैव संसाध्य च साधु भोज्यं, सा भोजयामास तमाशु साध्वी ।
कलावतीनां हि कुलाङ्गनानां, पाककियायां न भवेद्विलम्बः ॥२९॥

व्याख्या—च—पुनः । सा साध्वी—पतिव्रता सत्यभामा सा । तदैव—तत्कालमेव । साधु—उत्तमं । भोज्यं—भक्ष्यं । संसाध्य—सम्पाद्य । आशु—शीघ्रम् । तं—स्वप्रियं, कपिलम् । भोजयामास—आशयामास ।

ननु कथमियच्छीघ्रम्, पाकसम्पत्तिः–तत्राह । हि–यतः । कलावतीनां–पाकादिक्रियाकलाचतुराणां । कुलाङ्गनानां–कुलवधूनां । पाकक्रियायाम्–रसवतीक्रियायां । विलम्बः–कालक्षेपः । न–नैव । भवेत्–स्याद् । कुलस्त्रियो हि शीघ्रं पाकं कुर्वन्ति, तत्क्रियायां निपुणत्वादित्यर्थः, तत्कृतशीघ्रपाकरूपस्य विशेषस्य कुलाङ्गनाकर्तृकशीघ्रपाककरणरूपसामान्यार्थेन समर्थनात्सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥२९॥

अथ तदनन्तरम् सत्यभामाचित्तवृत्तिमाह—भृशमिति—

भृशं पृथग्भोजनकर्मतः सा, न तत्सुतं तं कलयाञ्चकार ।
चिराद्वयस्यावपि सङ्गतौ य–न्न भिन्नपंक्त्या भुजिमादधाते ॥३०॥

व्याख्या—भृशम्–अत्यन्तं । पृथग्भोजनकर्मतः–पृथक् भिन्नतया यद् भोजनस्याशनस्य कर्म क्रिया ततः हेतोः । सा–सत्यभामा । तं–कपिलं । तत्सुतं–धरणीजटपुत्रं । न–नैव । कलयाञ्चकार–अमन्यत । तत्र युक्तिमाह । यत्–यस्माद्धेतोः । वयस्यौ–सखायावपि । चिरात्–दीर्घकालानन्तरं । सङ्गतौ–मिलितौ । भिन्नपंक्त्या–भिन्ना पूर्वापरीभावेनातिरिक्ता या पंक्तिः श्रेणी तया कृत्वा, भिन्नपंक्त्युपवेशनेनेति यावत् । भुजिं–भोजनक्रियां । न–नैव । आदधाते–कुरुतः । पितापुत्रयोः किमु वक्तव्यमिति भावः । अत्र तस्याः तस्य तत्पुत्रत्वाभावकलनरूपविशेषार्थस्य वयस्ययोरपि भिन्नपंक्त्या भोजनाऽकरणरूपसामान्यार्थेन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः । वस्तुतस्तु स न तत्पुत्रः भिन्नपंक्त्या भोजनकरणात् । पितापुत्रौ हि न भिन्नपंक्त्या भोजनं कुरुतः, वयस्ययोरपि भिन्नपंक्त्या भोजनाकरणात्, इति व्याप्तिप्रदर्शनपूर्वकानुमानमेवेति ॥३०॥

ननु यदि तस्य यथार्थतः शिरोर्त्तिः, तदैतदनुमानं नावसरप्राप्तमित्यत आह—प्राप्यावकाशमिति—

प्राप्यावकाशं तदहं कथञ्चित्, स्वरूपमस्य श्वशुरं यथार्थम् ।
यथार्थवादाकलितोरुकीर्तिं, प्रक्ष्यामि संख्याऽमितवाग्विलासा ॥३१॥

व्याख्या—तत्–तस्मात् भिन्नपंक्त्या भोजनकरणाद्धेतोः । कथञ्चित्–केनाऽपि प्रकारेण, कपिलस्य स्थानान्तरगमनादिना इत्यर्थः । अवसरम्–अवकाशम् । प्राप्य–लब्ध्वा । अहं–सत्यभामा । संख्याऽमितवाग्विलासा–"चर्चा संख्या विचारणा" इत्यमरोक्तेः हैमोक्तेश्च संख्यायां विचारणायां प्रमाणैरर्थपरीक्षायां यद्वा संख्यया ज्ञानेनामितोऽतुल्योऽपरिमितो वा वाचां विलासः स्फूर्त्तिर्यस्याः सा तादृशी, एतेन परब्रह्मग्रन्थवार्ताग्रहणचातुरी सूचिता । वाग्विन्यासेनावर्ज्य मर्मस्फोरणात् । ननु स सत्यमेव वदेदित्यत्र कस्तव प्रत्ययः तत्राह यथार्थवादाकलितोरुकीर्तिम्–अर्थमतिक्रम्य यथार्थं सत्यं यो वादः वदनं तेनाकलिप्ता प्राप्ता उरुः महती

कीर्त्तियेन तं तादृशं। श्वशुरम्—पत्युः पितरम्। अस्य—कपिलस्य। स्वरूपम्—कुलादिविषयकयथास्थिततत्त्वम्। प्रक्ष्यामि—जिज्ञासिष्यामि। अदृष्टे वस्तुन्याप्तवचनमेव प्रमाणमिति भावः ॥३१॥

अथ कपिलस्य स्थलान्तरगमनमाह—विचिन्त्येति—

विचिन्त्य चैवं कपिलप्रिया सा, स्थिरेव यावत् स्थिरतां जगाहे।
ताम्बूलमस्मै कपिलः प्रदाय, तावत् प्रतस्थे स विमृश्य कृत्यम् ॥३२॥

व्याख्या—सा—पूर्वोक्तविचारसंलग्ना। कपिलप्रिया—कपिलस्य प्रिया कान्ता सत्यभामा। एवं—पूर्वोक्तप्रकारम्। विचिन्त्य—विचार्य च। यावत्—यदवधि। स्थिरेव—पृथिवी इव "रसा विश्वंभरा स्थिरा।" इत्यमरः। स्थिरतां—निरुद्वेगत्वम्। एतेन तस्या गम्भीरता सूचिता। जगाहे—धृतवती। तावत्—तदवध्येव। सः—कपिलः। अस्मै—स्वपित्रे। ताम्बूलं—नागवल्लीदलं। प्रदाय—समर्प्य। कृत्यं—कार्यान्तरं। विमृश्य—विचार्य। प्रतस्थे—प्रस्थितवान्। कार्यार्थं स्थलान्तरं गतवानित्यर्थः ॥३२॥

अथ सत्यभामायाः कृत्यमाह—सा सत्यभामेति—

सा सत्यभामा श्वशुरस्य तस्य, समीपमागत्य निपत्य पादौ।
संयोज्य हस्तौ कमलप्रशस्तौ, वचस्विनी वाचमुवाच धीरा ॥३३॥

व्याख्या—सा—प्राप्तावसरा। धीरा—धैर्यशालिनी। वचस्विनी—प्रशस्तं वचो यस्याः सा तादृशी, पटुवाक्। सत्यभामा तस्य—गृहागतस्य। श्वशुरस्य समीपम्—अन्तिकम् आगत्य समागम्य। पादौ—श्वशुरचरणौ। निपत्य—प्रणम्य। एतेन तस्य अनुकूलीकरणविधिः सम्पादितः। कमलप्रशस्तौ—कमले पद्मे इव प्रशस्तौ शोभनौ पद्ममनोहरौ। हस्तौ—करौ। संयोज्य—अञ्जलिं बद्ध्वेत्यर्थः; एतेन विनयातिशयः सूचितः। वाचम्—वक्ष्यमाणवचनम्। उवाच—वक्तुमारब्धवती, विनयेनानुकूल्यप्रश्नं कृतवतीत्यर्थः ॥३३॥

अथ तस्या वचनमेव प्रपञ्चयति—प्रसादमाधायेति—

प्रसादमाधाय निवेदयन्तु, ममाग्रतः सम्प्रति पूज्यपादाः।
किमङ्गजो वस्तनयः किमाहो-स्विज्जातिजातः परिपालितोऽयम् ॥३४॥

व्याख्या—पूज्यपादाः—पूज्यौ पादौ येषां ते तादृशाः आदरार्थे बहुवचनम्, वन्द्यचरणाः। सम्प्रति—अधुना। प्रसादं—प्रसन्नताम्। आधाय—कृत्वा, अन्यथा अयथार्थकथनमपि सम्भाव्यते इति भावः। मम—

मे। **अग्रतः**—पुरः। **निवेदयन्तु**—कथयन्तु, ननु कस्तव प्रश्नः, तदाह। **अयं**—कपिलाख्यः। **तनयः**— पुत्रः। **वः**—युष्माकम्। **अङ्गजः**—अङ्गाज्जातः स तादृशः औरसः। **किम्**—इति प्रश्ने। **आहोस्विद्**—अथवा। **जातिजातः**—जातौ स्वसमानवर्णे 'ब्राह्मणज्ञातौ' जातः उत्पन्नः। **परिपालितः**—भवद्वा, अनाथत्वात्संरक्षितः, किमिति प्रश्ने ॥३४॥

अथ तद्विषये विकल्पान्तरमाह—**अन्यस्येति**—

अन्यस्य कस्यापि महानुभावै-र्दयाऽनुरोधाद्विभृतोऽथवाऽपि।
कृष्यादिनिष्पत्तिविधानहेतोः, क्रीतः किमेष प्रतिपन्न एव ? ॥३५॥

व्याख्या—**अथवेति**—पक्षान्तरे। **महानुभावैः**—महान् अनुभावः प्रभावः आशयो वा येषां तैस्तादृशैः, उदाराशयैः। **दयानुरोधाद्**—दया कृपा तस्याः अनुरोधात् आलम्बनाद्धेतोः, अनुगृह्येति यावत्। **कस्यापि**—अनिर्दिष्टनाम्नः। **अन्यस्य**—इतरस्य, ब्राह्मणादन्यस्येत्यर्थः, तनय इति शेषः। **विभृतः**—पोषितः ? **कृष्यादिनिष्पत्तिविधानहेतोः**—कृषिः क्षेत्रादिकर्षणजन्यसस्यादिसाधनम्, तदादेः कृषिगृहकार्यप्रभृतेः निष्पत्तिः सम्पत्तिः तस्याः विधानं करणं तद्धेतोः, तदर्थम्। **एषः**—कपिलाख्यः। **क्रीतः**—द्रव्यविनिमयेन वशीकृतः, क्रीतदासः। **प्रतिपन्नः**—स्वीकृतः, प्राप्तः परिचितः। **एव**—वा किम्, कतमोऽयमिति प्रश्नः ॥३५॥

अथ कदाचित्कपिलानिष्टादिसंभावनया मिथ्यावदनं सम्भाव्याह—**तथ्यमिति**—

तथ्यं न चेच्छंसत सद्गुणौघै-रशेषसंसत्स्वपि शंसनीयाः।
तद्ब्रह्महत्यादिककर्मजन्यै-र्लिप्यध्व एनोभिरवश्यमेव ॥३६॥

व्याख्या—**सद्गुणौघैः**—सन्तः परमार्थभूताः प्रशस्ता वा मान्यां वा ये गुणाः तेषामोघैः समूहैःकृत्वा। **अशेषसंसत्सु**—अशेषा सकला या संसदः सभाः तासु निखिलसभासु। **शंसनीयाः**—कीर्त्तनीयाः। **अपि**—पुनः यूयमिति शेषः। **तथ्यं**—सत्यं। **चेत्**—यदि। **न**—नच। **शंसत**—भाषत। **तत्**—तदा। **ब्रह्महत्यादिककर्मजन्यैः**—ब्रह्मणो हननं ब्रह्महत्या तदादिकं सुरापानादिकं यत्कर्म क्रिया तज्जन्यैः तदुद्भवैः **एनोभिः**—पापैः। **अवश्यमेव**—ध्रुवमेव। **लिप्यध्वे**—युक्ताः स्युः, मिथ्यावदने ब्रह्महत्यादिपापस्य धर्मशास्त्रे प्रतिपादनादितिभावः ॥३६॥

अथ च तच्छ्रुत्वा धरणीजटोक्तिमाह—**इतीरित इति**—

इतीरितः सोऽपि तयैव वध्वा, ब्राह्मण्यचञ्चुः स्फुटमाचचक्षे।
न यस्य लोकद्वयसाधनेच्छा, स एव मिथ्यावचनं ब्रवीति ॥३७॥

व्याख्या—इति–पूर्वोक्तप्रकारेण। तया– समीपस्थया। वध्वा–स्नुषया। एव ईरितः–कथितः। सोऽपि–धरणीजटोऽपि। ब्राह्मण्यचञ्चुः–ब्राह्मणस्य भावो ब्राह्मण्यं तेन कृत्वा चञ्चुः प्रसिद्धः, "तेन वित्ते चञ्चुचणौ ॥" ॥७॥१॥१७५॥ इति सूत्रेण प्रसिद्धार्थे चञ्चुप्रत्ययः, नैष्ठिकब्राह्मण इत्यर्थः। स्फुटं–स्पष्टम्। आचचक्षे–कथितवान्, किमित्याह। यस्य–पुंसः। लोकद्वयसाधनेच्छा–द्वौ अवयवौ अस्येति द्वयं, लोकयोः इहलोक–परलोकयोः द्वयं युग्मम्, तस्य साधनं स्वानुकूलकरणं तस्येच्छाऽभिलाषा। न–नास्ति। स–एव–तादृश एव नान्यः। मिथ्यावचनम्–अनृतवाचं। ब्रवीति–वक्ति, मिथ्यावचने लोकद्वयस्य विनाशादिति भावः ॥३७॥

ननु तर्हि मौनमेव वरं सत्यवदनेऽपि कदाचित् कस्यचिदनिष्टसम्भवात्तस्य चानिष्टत्वात्तत्राह–अहं त्विति—

अहं तु वस्वर्थनयैव वत्से !, समागमं यद्यपि तत्समीपम् ।
त्वया च पृष्टः शपथैरुदग्रै–स्तथापि तथ्यं मयका निगाद्यम् ॥३८॥

व्याख्या—वत्से–पुत्रि ! अहं तु–तव श्वशुरस्तु। यद्यपि वस्वर्थनयैव–वसुनो धनस्य अर्थना याचना तया कृत्वैव, नत्वन्यप्रयोजनेन तन्मर्मप्रकाशनाय वा, एतेन स्वेष्टमपि सूचितम्। तत्समीपम्–तस्य कपिलस्य समीपमन्तिकम्। समागमम्–समागतवान्, एवञ्च तन्मर्मप्रकाशनं नोचितमिति भावः, तर्हि मोच्यताम् तत्राह। तथापि–तादृशावस्थायामपि। उदग्रैः–उत्कृष्टैः। शपथैः–शपनैः कृत्वा, तीक्ष्ण–शपथपूर्वकमित्यर्थः। त्वया–भवत्या। पृष्टः–जिज्ञासितः, अतः। मयका–मया। तथ्यं–सत्यमेव। निगाद्यम्–कथनीयम्, शपथे सति मिथ्याभाषणे पापस्य व्रजलेपायितत्वाद् विगीताचारत्वापत्तेश्चेति भावः ॥३८॥

अथ तदुक्तिमाह–अजाड्येति—

अजाड्यधन्वस्थ ल एव जातं, जानीहि दासैरकमेतमत्र ।
समग्रभारोद्व हने समर्थं, परिस्फुटत्कण्टकचर्वणोत्कम् ॥३९॥

व्याख्या– अत्र–इह। एतं–कपिलम्। अजाड्यधन्वस्थले–जडस्य भावो जाड्यम्, अविद्यमानं जाड्यं यत्र तत्तादृशं यद् धन्वा मरुभूमिरिव स्थलं क्षेत्रं तत्र जातम् "मरुधन्वा" इति हैमः। दास्याः मरुभूमिवदप्रश-स्त्वादजडस्य धरणीजटस्य संयोगाच्चेति भावः। पक्षे डलयोरैक्याज्जलभावशून्यमरुस्थले। जातं–मित्यर्थः। समग्रभा भार द्वहने–समग्रो यो भारः, कृष्यादिकार्यभारस्तस्योद्वहने करणे। समर्थं–सशक्तम्। अथ च सर्वप्रकार–वहनयोग्यम्। परिस्फुटत्कण्टकचर्वणोत्कम्–परिस्फुटन्तो व्यक्तीभवन्तो ये कण्टकाः क्षुद्रशत्रवः तेषां

चर्वणे नाशने उत्कम्, उत्कण्ठितम्, गृहभारस्यात्रैवारोपात्, तत्र संभवच्छत्रुनिग्रहस्याप्यनेनैव करणादिति भावः, कण्टको न स्त्रियां क्षुद्रशत्रौ" इति मेदिनी। अथ च परिस्फुटन्तो विकाशमानाः कण्टका पादादिवेधकतीक्ष्णाग्राः कण्टकेति प्रसिद्धाः यत्र गुल्मादिषु तेषां चर्वणे भक्षणे उत्कम्। दासेरकं—दास्याः पुत्रम्। भृत्ये दासेरदासेत्यमरवचनात् भृत्यश्च। अथ च उष्ट्रमेव 'उष्ट्रो दाशेरः' इतिहैमः। श्लेषे शसयोरैक्यमिति। जानीहि—अवेहि। अत्र रहस्यकथनाय द्वयर्थकपदोपादानम्। एवञ्चार्थद्वयेऽपि तात्पर्यावधारणाद्विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वाच्च श्लेषालङ्कारः ॥३९॥

अथ तदुक्ताशयं साऽबुधदित्याह—तेनोदितमिति—

तेनोदितं श्लेषमुखेन वाक्यं, सुखेन साऽबुद्ध विबुद्धवर्या।
यद्वेत्ति विद्वत्परिचारकोऽपि, दुर्गं न किं सत्यकिनन्दना सा ॥४०॥

व्याख्या—तेन—धरणीजटेन। श्लेषमुखेन—द्वयर्थकपदप्रयोगेण। उदितं—कथितं। वाक्यं—वचनम्, अर्थात्तदर्थमित्यर्थः। विबुद्धवर्या—विबुद्धेषु विद्वत्सु वर्या प्रशस्या। सा—सत्यभामा। सुखेन—अक्लेशेन। अबुद्ध—ज्ञातवती। ननु कुतः स्त्रियाः तादृशी बुद्धिस्तत्राह। यद्दुर्गम्—अनवगाहम् गूढमर्थमिति यावत्। विद्वत्परिचारकोऽपि—विदुषां पण्डितानां परिचारकः सेवकः, अपिना विद्वांस्तु जानात्येव, तत्र किमु वक्तव्यमिति सूचितम्। वेत्ति—जानाति तदिति शेषः। सा—तादृशी विबुद्धवर्या। सत्यकिनन्दना—सत्यकेः तदाख्याध्यापकस्य नन्दना पुत्री। किं न—कस्मान्न, अपितु अवश्यमेव वेत्ति, विद्वत्परिचारकस्य यत्र तज्ज्ञत्वम् तत्र विद्वत्संतानस्य किं वक्तव्यमिति भावः, अत्र सत्यभामया तदर्थबोधरूपस्य विशेषार्थस्य विद्वत्परिचारकस्य बोधेन विद्वत्सन्तानस्य तद्बोधकत्वरूपसामान्यार्थेन समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥४०॥

अथ तद्बोधानन्तरं सत्यभामाकृत्यमाह—निधायेति—

निधाय साऽन्तर्मनसं तमर्थं, निधिं धरित्रीव विचित्ररूपा।
पुण्याङ्कुरोत्पत्तिमपेक्षमाणा, तस्थौ रसालिङ्गितमध्यदेशा ॥४१॥

व्याख्या—सा—सत्यभामा। अन्तर्मनसं—हृदये। तं—धरणीजटोक्तम्। अर्थं—वाच्यम्, दासेरकोऽर्यमित्येवं वाच्यमित्यर्थः, तद्रूपम्। निधिं—रत्नम्। विचित्ररूपा—विचित्रं रूपम् नैकविधम् स्वरूपं यस्याः सा तादृशी, अथ च विचित्रं विशेषेणाश्चर्ययुक्तं विलक्षं खिन्नं वा रूपं यस्याः सा तादृशी। धरित्रीव—धरणीव। निधाय—कृत्वा। रसालिङ्गितमध्यदेशा—रसेन जलेन आलिङ्गितः सम्पृक्तः मध्यदेशः गर्भप्रदेशः यस्याः सा तादृशी, अथ च रसायां पृथिव्यामालिङ्गितः सक्तः उपविष्टत्वादिति भावः, मध्यदेशः कटिप्रदेशः यस्याः सा तादृशी सखेदमुपविष्टा, यद्वा कपिलवृत्तान्तज्ञप्तिजन्याऽद्भुतरसेनालिङ्गितः सम्पृक्तो

मध्यदेशो हृदयं यस्यास्सा तादृशी। पुण्याङ्कुरोत्पत्तिम्—पुण्यमङ्कुर इव, पुण्यमिव वा अङ्कुरस्योत्पत्तिम्। अपेक्षमाणा—आशास्यमाना। तस्थौ—स्थिता। अत्रार्थे निधिमिति रूपकेण रसालिङ्गितादिश्लेषेण चानुप्राणितोपमा ॥४१॥

अथ सम्प्रति कपिलस्य कृत्यमाह श्लोकद्वयेन—यन्मेऽपि इति—

यन्मेऽपि वृत्तान्तमिह प्रवक्ता, तातः स्थितस्तेन विसर्जनीयः।
स्ववृत्तभङ्गे यदि वा महद्भिः, प्रमादलेशः परिवर्जनीयः ॥४२॥

व्याख्या—इह—अत्र मद्गृहे। स्थितः—उषितः। तातः—मम पिता। यद्—येन हेतुना। मे—मम। वृत्तान्तम्—गोपनीयदासपुत्रत्वादिवार्ताम्। अपि न—स्ववृत्तान्तमपि। प्रवक्ता—कथयिष्यति। तेन—मर्मभेदेनानर्थो मा भूदिति हेतुना। विसर्जनीयः—झटिति पुरस्कारादिप्रदानद्वारा इतः अपसारणीयः। यदि वा—यतः, स्ववृत्तभङ्गे—स्वस्य वृत्तस्य गुप्तवार्तायाः भंगे प्रकटनावसरे समुपस्थिते सति। महद्भिः—स्वमानरक्षिभिः। प्रमादलेशः—प्रमादस्य अनवधानतायाः लेशः सम्बन्धः "प्रमादोऽनवधानता", "लेशः सम्बन्धगर्वयो"रिति च कोशः। यद्वा स्तोकोऽपि प्रमादः। परिवर्जनीयः—त्याज्यः, अन्यथा महत्त्वहानिस्स्यादिति भावः ॥४२॥

चित्ते विचिन्त्येति वितत्य कृत्यं, समेत्य पस्त्यं कपिलो बहिः (स्तः) स्थः।
प्रपच्छ भार्यां शुचिशीलधुर्यां, वप्तुः सपर्याविधये विहस्तः ॥४३॥

व्याख्या—इति—पूर्वोक्तरीत्या। चित्ते—मनसि। विचिन्त्य कृत्यं—कार्यं। वितत्य—समाप्य। बहिस्थः—कार्यच्छलेन बहिर्देशस्थः। पस्त्यं—गृहम्। "निशान्तपस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्" इति कोशः। समेत्य—आगत्य। कपिलः विहस्तः—चतुरः, "विहस्तश्चतुरो व्यग्रः" इति कोशः। वप्तुः—पितुः। सपर्याविधये—सपर्यायाः पूजायाः द्रव्यादिना सत्कारस्य विधये अनुष्ठानायेत्यर्थः, कियत् किं वा दातव्यमित्येवम्। शुचिशीलधुर्याम्—शुचि पवित्रं यच्छीलं तस्मिन् धुर्यां धौरेयां "धुर्यः-धौरेय-धौरेयक-धुरंधराः" इति हैमः, सम्पन्नशीलामित्यर्थः। भार्यां—पत्नीं सत्यभामां। प्रपच्छ—जिज्ञासितवान् ॥४३॥

अथ सत्यभामायास्तदुत्तरमाह—अदर्शयन्ती इति—

अदर्शयन्ती स्वमनोविकारं, सा सत्यभामा दयितं बभाषे।
प्रदीयतेऽस्मै गृहसारसारं, पात्रं गुरुश्चेति महान् हि योगः ॥४४॥

व्याख्या—सा—कपिलेन पृष्टा सत्यभामा। स्वमनोविकारं—स्वमनसः विकारम् तदीयगुप्ततथ्यवार्ता-श्रवणजन्यतद्विषयकस्वचेतो वैलक्ष्यादि। अदर्शयन्ती—अप्रकटयन्ती। एतेन तस्याः अवसरपरिपालनं सूच्यते दयितं—प्रियं, कपिलं। बभाषे—किमित्याह। अस्मै—त्वत्पित्रे। गृहसारसारं—गृहस्य सारे श्रेष्ठवस्तुन्यपि यत्सारं श्रेष्ठम् उत्तमोत्तमं वस्तु। प्रदीयते—आदराधिक्यादर्पणीयं, किमित्युत्तमोत्तमं तत्राह। हि—यतः, अयं तव पिता। पात्रं—दानार्हः विद्यावंशशीलादिविभूषितत्वात्। गुरुः—पूज्यश्चेति, महान्—दुर्लभः। योगः—अवसरः, नह्येद्दृयमेवं सर्वदा सुलभमिति दानप्राशस्त्यायोत्तमोत्तमं देयमिति भावः ॥४४॥

अथ कपिलप्रवृत्तिमाह—सोऽयमिति—

सोऽयं तदुत्साहविवर्द्धिभावः, स्वर्णञ्च रत्नञ्च दुकूलवस्त्रम्।
विश्राण्य योग्यं व्यसृजत् समृद्धौ, गुरौ हि को नाम पराङ्मुखः स्यात् ॥४५॥

व्याख्या—सः—ज्ञातभार्याभावः। अयं—कपिलः। तत्—तस्मात् सत्यभामाऽनुरोधाद्धेतोः। उत्साह-विवर्द्धिभावः—उत्साहेन विवर्द्धी विवर्द्धिष्णुर्भावः स्वाभिप्रायः यस्य स तादृशस्सन्, एतेन तस्य दानवीरत्वं सूचितम्। योग्यं—उचितम्। स्वर्णञ्च रत्नञ्च दुकूलवस्त्रं—क्षौमवस्त्रं च "क्षौमं दुकूलम्" इति हैमः। विश्राण्य—दत्वा। व्यसृजत्—विसर्जयामास, उचितं चैतत्तदाह। हि—यतः। समृद्धौ—ऋद्धेः आधिक्ये सति। गुरौ—पित्रादौ पूज्ये पात्रे। कः नामेति—कोमलामन्त्रणे। पराङ्मुखः—दानविमुखः। स्यात्—न कोऽपीत्यर्थः ॥४५॥

अथ दानानन्तरं कपिलमनोभावमाह—सुपात्रेति—

सुपात्रसम्बन्धमवाप्य लक्ष्मीः, कृतार्थतामाश्रयति स्म तस्य।
जातः कृतार्थः कपिलोऽपि को वा, भक्त्या सतां नो परितोषमेति ॥४६॥

व्याख्या—तस्य—कपिलस्य। लक्ष्मीः—दत्तस्वर्णादिसम्पत्तिः। सुपात्रसम्बन्धं—सुपात्रेण विद्यादि-सम्पन्नेन दानपात्रेण तत्पित्रा सम्बन्धं जन्यजनकभावरूपं संसर्गम्। अवाप्य—प्राप्य। कृतार्थतां—कृतः अर्थः प्रयोजनं यस्यास्तद्भावस्तत्ताम् "वित्तं त्यागनियुक्तमित्युक्ते" रिति भावः। आश्रयति स्म—समाश्रयत्। कपिलः अपि—कृतार्थः—कृतकृत्यः। जातः—अभूत। योग्यमेवैतदित्याह। सतां—पूज्यानां गुर्वादीनां। भक्त्या—सत्कारेण कृत्वा। को वा परितोषं—सन्तोषं कृतकृत्यतामिति यावत्। नो—अत्र निषेधार्थे नो, नेत्यर्थः। एति—गच्छति। अपि तु सर्व एवैति, अन्यथा दुर्जनत्वापत्तेरिति भावः ॥४६॥

अथ सत्यभामायाः प्रवृत्तिमाह–निश्चित्येति—

निश्चित्य तादृक् कपिलस्वरूपं, मनोविरागं च निजानुरूपम् ।
अनन्यनिर्वर्त्यतदीयचेतो–वृत्तिप्रवृत्तिं च सुवृत्तभावा ॥४७॥
दौवारिकज्ञापितवित्तवृत्त – वृत्तान्तमश्रान्प्रतनयचारम् ।
श्रीषेणभूपालमुपेत्य भर्तृ–स्वरूपमाख्यत् किल सत्यभामा ॥४८॥

व्याख्या—सुवृत्तभावा–सुवृत्तः सुसम्पन्नः भावः आशयः यस्याः सा सदाशया **सत्यभामा**। **तादृक्**–धरणीजटोक्तप्रकारम्। **कपिलस्वरूपम्**–दासीपुत्रत्वादिधर्मं कपिलस्य वृत्तम्, तत एव। **निजानुरूपम्**–स्वस्वरूपोचितम् तद्विषये। **मनोविरागं**–मानसिकरागाभावं चित्तवैलक्ष्यम्। **अनन्यनिर्वर्त्यतदीयचेतोवृत्तिप्रवृत्तिं**–न अन्येन निर्वर्त्या परावर्त्तनीया ताम्, नेतरसमाधेयाम्, तदीयायाः कपिलसम्बन्धिन्याः चेतोवृत्तेः मनोभावस्य प्रवृत्तिं व्यापारम्, नृपातिरिक्तस्य जनस्य कथनेन न मामयं त्यक्ष्यतीत्येवंरूपाम्। **च निश्चित्य**–विचार्य। **अश्रान्तनयप्रचारम्**–अश्रान्तः अप्रतिरुद्धः नयस्य नीतेः प्रचारः प्रसरः यस्य स तम्, नीत्या शासितारम्, एतेन तत्रावश्यं न्यायलाभ इति—सूचितम्। **दौवारिकज्ञापितवित्तवृत्तवृत्तान्तम्**–दौवारिकेण–प्रतीहारेण ज्ञापितो वित्तः प्रसिद्धः वृत्तो जातः वृत्तान्तः साभियोगः स्वागमनादिरूपसमाचारः यस्य तम्। 'ख्याते प्रतीतप्रज्ञातवित्तेति' हैमः। **श्रीषेणभूपालं**–श्रीषेणाख्यराजानम्। **उपेत्य**–प्राप्य। **भर्तृस्वरूपम्**–भर्तुः पत्युः कपिलस्य स्वरूपम् कुलादिरूपम् धर्मम्। **आख्यत्**–कथितवती। **किलेति**–प्रसिद्धौ ॥४८॥

अथ स्वेष्टसिद्ध्यै राजानं स्वाभिमुखीकर्तुं सत्यभामाकृतस्तुतिमाह–त्वमेवेति—

त्वमेव सूरः परतापनत्वात्, दुर्गाश्रयत्वात्किमु नासि सोमः ?
त्वं मङ्गलो भूतनयस्त्वमेव, बुधः प्रतीतव्यवहारसौम्यः ॥४९॥

व्याख्या—**त्वमेव**–भवानेव। **परतापनत्वात्**—परस्य शत्रोः अन्यस्य जगतश्च तापनत्वात् सन्तापकत्वात्। **सूरः**–सूर्यः। "सूरसूर्यार्यमादित्यद्वादशात्मदिवाकराः" इत्यमरः। अथ सूते तेज इति सूरः, परतापनत्वात् अन्यप्रजाजनाना राजतेजः प्रदर्शकत्वेन सूरः प्रतापी, अत एव शासकः, नान्यः कश्चित् स हि परस्यान्यस्य स्वतेजःप्रदर्शकः नतु शत्रोः केतुग्रहादेरिति व्यतिरेकः तथा। **दुर्गाश्रयत्वात्**–दुर्गः कोट्टः, कोट्टदुर्गे, पुनः समे" इति हैमः। अथ च दुर्गा उमा, तथा च दुर्गा कान्तिः तदाश्रयत्वात्, कान्तत्वादितियावत्। "उमा गौर्या हरिद्रायां कीर्तिकान्त्यतसीष्वपि" इति हैमानेकार्थः। **सोमः**–

चन्द्रः "चन्द्रः सोमः" इति हैमः, उमया सहित इति सोम इति सङ्गत इह सोमशब्दप्रयोगः अथ च आह्लादकः। नासि—न भवसि। किम्विति—काकुप्रश्नः अर्थादवश्यं भवसि। तथा भूतनयः—भूतः मूतिविशिष्टः सम्पन्नो वा नयः नीतिर्यस्य स तादृशः, अथ च भुवः पृथिव्याः तनयः। मङ्गलः—तदाख्यः ग्रहः, अथ च मङ्गलकारकः। त्वम्—तथा। प्रतीतव्यवहारसौम्यः—प्रतीतः प्रसिद्धः व्यवहारेषु कर्त्तव्येषु सौम्यः शान्तस्वभावः उदारस्वभावश्च, अथ च प्रतीतः व्यवहारः यस्य स चासौ सौम्यः "रोहिणेयो बुधः सौम्यः" इत्यमरोक्तेः बुधाख्यो ग्रहः। बुधः—पण्डितः। त्वमेव—भवानेव न त्वन्यः। त्वयि सौम्यत्वं चन्द्रवन्नीतत्वञ्चेत्युभययोगादिति, एवकारेणाद्वयतिरेकालङ्कारः ॥४९॥

गुरुस्त्वमालम्बनभूतजीवः, प्रभो ! कविस्त्वं श्रुतकाव्यनामा।
शनैश्चरस्त्वं श्रितमन्दभाव-स्तमो (हि) द्विषन्पार्थिवसैंहिकेयः ॥५०॥

व्याख्या—प्रभो !—स्वामिन् ! आलम्बनभूतजीवः—आलम्बनभूतमाश्रितं जीवयतीति स तादृशः आश्रितपालकः। अथ च आलम्बनमाधारतां भूतः प्राप्तः स चासौ जीवश्च बृहस्पतिः "जीव आङ्गिरसः" इत्यमरः। बार्हस्पत्यसिद्धान्ते बृहस्पतेरेव ज्यौतिषे जगदाधारत्वेन वर्णनात्, सूर्यसिद्धान्ते सूर्यस्येव। गुरुः—श्रेष्ठः, पालकत्वेन पित्रादिरूपः, अथ च गुरुः बृहस्पतिः त्वम् "गीष्पतिर्धिषणो गुरुः" इत्यमरः। तथा श्रुतकाव्यनामा—श्रुतं प्रसिद्धम् काव्ये प्रबन्धे नाम यस्य सः। अथ च श्रुतं प्रसिद्धं काव्य इति नाम यस्य सः, "शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः", इत्यमरः। कविः—काव्यकर्त्ता, अथ च शुक्राचार्यः तदाख्यग्रहो वा त्वम्। श्रितमन्दभावः—श्रित आश्रितः मन्दभावः अनौद्धत्यं येन सः। अथ च मन्दभावः मन्देति संज्ञा येन सः, शनैश्चरः—अक्षिप्रगमनः, महतां शीघ्रगमननिषेधादिति भावः, अथ च "मन्दः क्रोडो नीलवासा" इति हैमोक्तेः तदाख्यः ग्रहः त्वम्, हि पुनः। पार्थिवसैंहिकेयः—पार्थिवेषु राजसु सैंहिकेयः सिंहिकायाः अपत्यं सिंह इव शूरः। अथ च विधुन्तुदः, अत्र यद्यपि मुद्रितपुस्तके 'तमोहिषन्' इति पाठ उपलभ्यते, परं 'तमोद्विषन्' इति पाठः सम्यग् प्रतिभाति। तथा च तमोद्विषन्—राजपक्षे तिमिरद्वेषकारकः, राहुपक्षे तु तमश्चासौ द्विषन्निति "तमस्तु-राहुः स्वर्भानुः, सैंहिकेयो विधुन्तुदः" इत्यमरः ॥५०॥

चन्द्रावदाताद्भुतवंशकेतुः, त्वन्निग्रहात्मा किमनुग्रहात्मा।
यत्रानुकूलः प्रतिकूलको वा, करोषि तं देव विभूतिभाजम् ॥५१॥

व्याख्या—चन्द्रावदाताद्भुतवंशकेतुः—चन्द्रस्य चन्द्रवद्वा अवदातः विशुद्धः, अद्भुतः अनितरसाधारणः यो वंशः कुलम् अनेन चन्द्रकुलोत्पन्नोऽयमिति चन्द्रवन्निर्मलवंशीयोऽयमिति च सूचितम्, तस्य केतुः ध्वजःरूपः

अथ च चन्द्रवद्धवलः अद्भुतश्च यो "वंशो वेणुर्यवफलस्त्वचिसारस्तृणध्वजः" इति हैमोक्तेः वंशस्य तृणध्वजस्य केतुः स इव वंशे केतुः। त्वं—भवान्। निग्रहात्मा—निग्रहः दण्डनम्, स एवात्मा यस्य स तथा, दण्डने उग्रस्वभावः। अनुग्रहात्मा—अनुग्रहः स आत्मा यस्य स तादृशः दयालुस्सौम्यस्वभावश्च, वेति शेषः, किमिति प्रश्नकाकुः, कुतस्तत्स्वभाव इत्याशङ्कायामाह। यत्र—यस्मिन् जने। अनुकूलः—अनुग्रहस्वभावः। प्रतिकूलकः—उपघातस्वभावो। वा—भवसीति शेषः। तं—जनं। देवविभूतिभाजम्—देवानां विभूतिरैश्वर्यं तद्भाजम्, अनुकूलत्वे तथा धनदानेन, प्रतिकूलत्वे मरणेन स्वर्गप्राप्तेः देवविभूतिभाक्त्वमिति भावः, करोषि विदधासि श्लेषः ॥५१॥

अथ सम्प्रति स्वविज्ञप्त्यै भूमिकामारचयति—विज्ञप्तिमिति—

विज्ञप्तिमाकर्णय मे नरेन्द्र !, त्वत्तो वराकः स पुनः सुरेन्द्रः ।
न दृश्यते तज्जयवाहिनी सा, न दृश्यतेजःप्रसरप्रचारः ॥५२॥

व्याख्या—नरेन्द्र !—राजन् ! मे—मम। विज्ञप्तिं—निवेदनम्। आकर्णय—शृणु। स सुरेन्द्रः, पुनरिति—वाक्यालङ्कारे। त्वत्तः—त्वामवेक्ष्य। वराकः—दीनः, कुत एतज्ज्ञातम् इत्याह। तज्जयवाहिनी—तस्य सुरेन्द्रस्य जयस्य विजयस्य वाहिनी सेना "ध्वजिनी वाहिनी सेना" इत्यमरः। सा न दृश्यते—तथा। दृश्यतेजः-प्रसरप्रचारः—दृश्यः प्रत्यक्षः तेजसः प्रसरस्य विस्तारस्य प्रचारः सञ्चरणं न, दृश्यते इत्यनुषज्यते। यदि हि स त्वत्समोऽभ्यधिको वा भवेत् तदा तौ दृश्येयातामेवेति भावः ॥५२॥

यः श्राद्धदेवः समवर्तनो यो, यो धर्मराजः शमनः श्रुतो यः ।
तत्किं नराधीश्वर ! कर्म वाच्यं, तस्माद्विभिन्नं जिनमेव विद्धि ॥५३॥

व्याख्या—यः श्राद्धदेवः—पितृपतित्वात् यः श्राद्धोद्देश्यानां पितॄणां देवः। श्राद्धानां श्रद्धालूनां देवः नृपः, तैः पूज्यो वा, "श्रद्धालुरास्तिकः श्राद्धः" "इति देवो भट्टारको नृपः" इति हैमः। यः समवर्तनः—समं तुल्यम् सर्वेषु राज्ञि रंके च जन्तुषु वर्त्तनं यस्य स तादृशः। यः धर्मराजः—धर्मस्य राजा न तु स्वयं धर्मकर्त्ता। यः शमनः—शमयति पापिनां कर्म आलोचयति न तु स्वयं शमी। श्रुतः—प्रसिद्धः, तत्। कर्म—नारक-दण्डनादि। नराधीश्वर ! किं वाच्यम्—जुगुप्साऽऽपादकत्वात्, नैव वाच्यमित्यर्थः। तस्मात्—श्राद्धदेवात्। विभिन्नं—विलक्षणं। जिनम्—वीतरागम्। एव विद्धि—स हि दण्डाद्यकृत्वैव प्राणिपालनपरायणः, अतिशय-दयालुत्वादिति भावः ॥५३॥

पुरातने जन्मनि तस्य वाचः, श्रोत्राभिधित्वं मयका न नीताः ।
नीतास्ततः किं यदि नाम नैव, चित्ते धृतास्ताः विधृतास्ततः किम् ॥५४॥

व्याख्या—पुरातने—पूर्वस्मिन् । जन्मनि—भवे । मयका—मया । तस्य—जिनस्य । वाचः—उपदेशगिरः । श्रोत्राभिधित्वं कर्णबिवरवर्त्तित्वं । न नीताः—न प्रापिताः, न श्रुता इत्यर्थः, भाग्योदयेन कदाचिच्छ्रुतास्तथापि न तावन्मात्रेणेष्टफलमित्याह । नीताः—श्रोत्रगोचरं प्रापिताः । ततः—तावन्मात्रात् । किम्—न किमपि, कुतः इत्याह । यदि नाम चित्ते—मनसि । नैव धृताः—नहि श्रवणमात्रेण फलावगमः, किन्तु धारणेन, तद्धारणामात्रेणापि नैवेष्टफलमित्याह । ताः विधृताः—यदि चित्ते विशेषेण धृताः । ततः—तस्मादपि । किम्—न किमपि, नहि धारणमात्रेणेष्टसिद्धिर्भवति ॥५४॥

धारणायां सत्यां कुतो नेष्टसिद्धिरित्याह—यथोक्तेति—

यथोक्तवृत्त्यैव न यावदेताः, सुशिक्षिताः स्युः परिशीलनेन ।
तावद् कथं दुःखपरम्पराया, विभेदने बिभ्रति लालसत्त्वम् ॥५५॥

व्याख्या—एताः—जिनेशवाचः । यथोक्तवृत्त्यैव—उक्तक्रमानतिक्रमेणैव । परिशीलनेन—मननपूर्वकं । यावत्—यदवधि । सुशिक्षिताः—स्वभ्यस्ताः । न स्युः—न भवेयुः । तावत्—तदवधि । दुःखपरम्परायाः—दुःखस्य कर्मोदयजन्याध्यात्मिकादिदुःखस्य परम्परायाः पौर्वापर्यस्य । विभेदने—नाशने । लालसत्त्वं—सोत्कंठत्वं । कथं—केन प्रकारेण । बिभ्रति—धारयन्ति, यथा व्याख्यानं मनने कृते एव जिनोक्तिरूपागमेन दुःखध्वंससंभवः, न केवलमभ्यासमात्रेण, तस्य शुकाभ्यासकल्पत्वात्, इत्यर्थः ॥५५॥

अथ आगमस्य मननपूर्वकाऽभ्यासेऽपि कृतकर्मणो भोगादेव क्षय इत्याह—यानीति—

यानि प्रभोऽज्ञानवशादकार्षं, तान्येव पापानि दहन्ति किं माम् ?
स दारुणो दारुण एव वह्निः, सम्भूय किं नौषति दारुभारम् ॥५६॥

व्याख्या—प्रभो—राजन् ! अज्ञानवशात्—मोहपारतन्त्र्यतः । यानि पापानि—पूर्वजन्मनि । अकार्षम्—तानि पापान्येव मां दहन्ति—तापयन्ति । किम् !—अवश्यं तान्येव दहन्ति, कृतकर्मणो भोगादेव क्षयादिति भावः, नान्यथा ममैतद्दुःखसंभवः । ननु स्वकृतेन कथं स्वस्य पराभव इत्याशङ्क्याह । सः—प्रसिद्धः । दारुणः—

दाहकत्वाद्दयङ्करः। **वह्नि**—अग्निः। **दारुणः**—काष्ठादेव। **सम्भूय**—समुत्पद्य। **दारुभारम्**—इन्धनचयं। **न ओषति**—न दहति। **किम्** ?—अपितु दहत्येव, तथा मत्कृतं कर्म मां दहति कर्मणोऽग्नितुल्यत्वात्। तथा चात्र दृष्टान्तालङ्कारः। विशेषस्य विशेषेणसमर्थनात्, यदुक्तम्—"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्" ॥५६॥

इदानीमेतावता प्रबन्धेन विवक्षितमेव वक्ति—संवर्द्धितैरिति—

संवर्धितैस्तैर्दुरितैर्ममायं, भर्त्ता कुलीनः समपादि नैव।
तस्मात्तथा नाथ! विधेहि मुक्ता, तेनैव धर्मं करवै यथाऽहम् ॥५७॥

व्याख्या—**संवर्धितैः**—उपचितैः। **तैः**—पूर्वार्जितैः। **दुरितैः**—पापैः। **अयं**—सम्प्रतिपन्नः। **मम**—मदीयः। **भर्त्ता**—पतिः। **कुलीनः**—सुकुलोद्भूतः। **नैव समपादि**—न खलु समभूत्। **नाथ !**—प्रभो ! **तस्माद्**—अकुलीनत्वाद्धेतोः। **तथा**—तादृक्। **विधेहि**—कुरु। **यथा**—येन। **तेन**—पत्या। **मुक्ता**—त्यक्ता। **अहं धर्मं**—पुण्यजनकानुष्ठान। **एव**—नत्वन्यत्पुनर्विवाहादि। **करवै**—कुर्याम्। येन पुनरप्येतादृशी अवस्था मम न समुपस्थिता भवेत् ॥५७॥

अथ सम्प्रति तच्छ्रुत्वा राज्ञश्चेष्टितमाह—आकर्ण्येति—

आकर्ण्य विज्ञप्तिमिमां स तस्याः, पार्श्वस्थदौवारिकमादिदेश।
स्वयं समाहूय समेहि विप्रं, प्राणेश्वरं सत्यकिनन्दनायाः ॥५८॥

व्याख्या—**तस्याः**—सत्यभामायाः। **इमां**—पूर्वोक्तां। **विज्ञप्तिं**—निवेदनम्। **आकर्ण्य**—श्रुत्वा। **स**—श्रीषेणो राजा। **पार्श्वस्थं दौवारिकम्**—समीपस्थं प्रतीहारं "द्वारपालकः दौवारिकः प्रतीहारः" इतिहैमः। एतेन राज्ञः झटिति, कार्यसम्पादनेच्छा सूचिता। **आदिदेश**—आज्ञापितवान्, किमित्याह। **सत्यकिनन्दनायाः**—सत्यभामायाः। **प्राणेश्वरं**—पतिं। **विप्रं**—द्विजं, कपिलं। **स्वयम्**—आत्मनैव, नत्वन्येन केनचित्, तथा सति कार्यविलम्बसम्भावनेति भावः। **समाहूय**—आकारयित्वा। **समेहि**—समागच्छ, एतेनाऽपि त्वरा सूचिता भवति, केनापि हेतुना तदनागमने कपिलागमनविलम्बोऽपि भवेदितिभावः ॥५८॥

अथ दौवारिककृत्यमाह—तथेति—

तथेति राज्ञः परिगृह्य वाचं, दौवारिकोऽगात् कपिलस्य वेश्म।
आजूहवद्भृत्यमुखेन चेति, भवन्तमाकारयति क्षितीशः ॥५९॥

व्याख्या—तथा—एवमस्तु। इति—एवं रीत्या। राज्ञः—श्रीषेणभूपालस्य। वाचं—निदेशं। परिगृह्य—स्वीकृत्य। दौवारिकः, कपिलस्य वेश्म—गृहम्। अगात्—अयासीत्। क्षितीशः—राजा। भवन्तं—त्वाम्। आकारयति—आह्वयति। इति च, भृत्यमुखेन—कपिलभृत्यद्वारेण तं कपिलम्। आजूहवत्—आजिह्वपत् ॥५९॥

अथ कपिलकर्त्तव्यमाह—श्लोकद्वयेन युग्मेन—उपेत्येति—

उपेत्य तत्सन्निधिमात्मनैव, प्रदाय तस्याशिषमानतस्य।
विज्ञाय वृत्तान्तमिमं तदास्या-दाशङ्कया प्लावितचित्तहर्षः ॥६०॥
ससंभ्रमस्तेन समं स गत्वा, व्यभूषयद्राजसभां ससभ्याम्।
नरेन्द्रसंदर्शितभूमिभाग-प्राप्तासनः प्रोक्तजयेतिशब्दः ॥६१॥

व्याख्या—आत्मनैव—स्वयमेव, एतेन सम्भ्रम उक्तः। तत्सन्निधिं—तस्य दौवारिकस्य सन्निधिं समीपम्। उपेत्य—आगत्य। आनतस्य—नतशिरस्कस्य। तस्य—दौवारिकस्य। आशिषम्—आशीर्वचनं। प्रदाय—दत्वा। तदास्यात्—तस्य दौवारिकस्य आस्यात् मुखात्। इमं—सत्यभामोक्तेरारभ्य राजकृताह्वान-पर्यंतम्। वृत्तान्तं—समाचारं। विज्ञाय—ज्ञात्वा। आशङ्कया—अस्पष्टानिष्टभावसंशयेन। प्लावितचित्तहर्षः—प्लावितः द्रुतितः चित्तस्य हर्षः यस्य स तादृशः। ससम्भ्रमः—सत्वरः स कपिलः। तेन—दौवारिकेण। समं—सह। गत्वा—राजानमुद्दिश्य। प्रोक्तजयेतिशब्दः—प्रोक्तः जयेत्याशीः सूचकः शब्दो येन सः, तादृशः नरेन्द्रेण राज्ञा सन्दर्शिते इङ्गितेन ज्ञापिते भूमेः भागे प्रदेशे प्राप्तम् स्वीकृतमासनं पीठं येन स, तादृशः नरेन्द्रसन्दर्शितभूमिभागप्राप्तासनः—सन्। ससभ्यां—सदस्यसम्पन्नां। राजसभां—राजभवनम्। व्यभूषयद्—अलञ्चकार। एतेन तस्य प्रभावातिशयः सूचितः। नान्यथा तेन राजसभाविभूषणम् सम्भवति ॥६१॥

अथ इदानीं राज्ञः तं प्रत्युक्तिमाह—वर्णाश्रमेति—

वर्णाश्रमाचारविचारचारुं-स्ततस्तमाचष्ट धराऽधिराजः।
उदारभावस्य न दारभावं, तवाकुलीनस्य तु काङ्क्षतीयम् ॥६२॥

व्याख्या—ततः—कपिलोपवेशनाऽनन्तरम्। वर्णाश्रमाचारविचारचारुः—वर्णानाम् ब्राह्मणादीनाम् आश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनाञ्च, य आचारः क्रियाक्रमः तस्य विचारे विवेके चारुः पटुः, एतेन कुलीनायाः अकुलीनेन

सह सम्बन्धो नाभिमतस्तस्येति सूचितम् । धराधिराजः—धरायाः पृथिव्याः अधिराजः अधिको राजा सम्राट । तं—कपिलम् । आचष्ट—आख्यातवान्, किमित्याह । उदारभावस्य—उदारः उन्नतः भावः चित्तवृत्तिर्यस्य, न तु कुलादि, तस्यापि । अकुलीनस्य—दुर्जातस्य । तु—इत्यरुचौ । तव, दारभावं—पत्नीत्वम् । इयम्—इह समुपस्थिता, कुलीना सत्यभामा । न—नैव । काँक्षति—अभिलषति ॥६२॥

अथैवं स्थिते स्वविचारमाह—तस्मादिति—

तस्मादिमां सत्यकिकन्यकां त्वं, विरक्तचित्तां विजहीहि भद्र !
नैवानुरागः सुखवृद्धये स्या-द्विरागताऽऽलम्बिनि निर्मितो हि ॥६३॥

व्याख्या—भद्र !—मनस्विन् । तस्मात्—तत एतस्याः अनिच्छातः । त्वं—भवान् । विरक्तचित्तां—विरक्तं विगलितप्रेमचित्तं वा यस्यास्ताम् । इमां—समुपस्थितां । सत्यकिकन्यकां—सत्यभामां । विजहीहि—त्यज, पक्षान्तरे दोषमाह । हि—यतः । विरागतालम्बिनि—विरागतामप्रीतिमालम्बते इत्येवंशीले जने । निर्मितः—विहितः । अनुरागः—प्रीतिः । सुखवृद्धये—सुखाय । नैव स्यात्—अप्रीतेर्हेतोः प्रतिदिनं कलहप्रसक्तेरिति भावः ॥६३॥

अथ कपिलस्योत्तरमाह—कर्णातिथीकृत्येति —

कर्णातिथीकृत्य नृपस्य वाचः, प्रोवाच वाचस्पतिवत् स विप्रः ।
ऐश्वर्यलीलां कलयन् किमीदृक्, प्रभुः प्रवक्तुं प्रभुवत् परोऽत्र ॥६४॥

व्याख्या—नृपस्य—राज्ञः श्रीषेणस्य । वाचः—गिरः । कर्णातिथीकृत्य—कर्णयोरतिथीकृत्य, श्रुत्वेत्यर्थः । वाचस्पतिवत्—"स्यादेरिवे ।" ॥७॥१॥५३॥ इति हैमसूत्रेण वाचस्पतिरिवेति वाचस्पतिवत्, निर्भयतया । स—प्रक्रान्तः । विप्रः—द्विजः कपिलः । प्रोवाच, अत्र—संसारे । ऐश्वर्यलीलाम्—ऐश्वर्यस्य विभूतेः लीलां विलासं कलयन् दधत् । परः—त्वत्तोऽन्यः । प्रभुवत्—प्रभुरिव, त्वमिव । ईदृक्—पत्युः स्वपत्नीत्यागं । प्रवक्तुं—कथयितुं । प्रभुः—समर्थः । किम् !—नैवेत्यर्थः ! यो हि ईश्वरः नीतिप्रवक्ता स एवं नैव ब्रूयात्, त्वमेवैवं लोकविरुद्धं ब्रवीषि, नान्य इत्यज्ञतापरिहासोऽपि ॥६४॥

अथ तदुक्तस्वीकारे स्वस्याऽसामर्थ्यं प्रकटयति—प्रभामिति—

प्रभां विना चेदवतिष्ठतेऽर्क-श्चन्द्रः स चेच्चन्द्रिकया विनाऽपि ।
पृथ्वीश ! चेच्चेतनया विनाऽऽत्मा, विनैतया स्थातुमलं तदाऽस्मि ॥६५॥

व्याख्या—पृथ्वीश!—राजन्! अर्कः—सूर्यः। प्रभां—रुचं। विना चेद्—यदि। अवतिष्ठते—तिष्ठेत। स—प्रसिद्धः। चन्द्रश्चेत्, चन्द्रिकया—ज्योत्स्नया। विनाऽपि—अवतिष्ठते इत्यनुषज्यते। तथा। आत्मा, चेतनया—संविदा "प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित् प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः" इत्यमरः। विना चेत्—अत्राऽप्यवतिष्ठते इत्यनुषज्यते। तदा एतया—सत्यभामया। विना—अहमिति शेषः। स्थातुम्, अलं—समर्थः "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्" इत्यमरः। अस्मि—स्याम्। नह्यर्कादयः विना प्रभादिभिरवतिष्ठन्त इति ममाऽपि स्थितिरेतया विना नेत्यर्थः, आवयोः तेषामिव परस्परासक्तत्वात्, तथा च नाहमेनां त्यक्ष्यामि इति भावः ॥६५॥

अथ राजा युवयोर्नार्कप्रभादीनामिव सम्बन्ध इत्याह—दृष्टान्तेति—

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विरोधं, प्रीतेर्विसंवादितयैव तस्याः।
अप्रेक्षमाणः स पुनः क्षितीशा, प्रेक्षावतामग्रयतमोऽप्यवाचि ॥६६॥

व्याख्या—प्रेक्षावतां—विदुषाम्। अग्र्यतमः—अतिप्रधानः। अपि, तस्याः—सत्यभामायाः। प्रीतेः—वियुज्यानवस्थाने मूलभूतप्रेम्णः। एव, विसंवादितया—विवादास्पदतया। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः—दृष्टान्तः अर्कप्रभादिः दार्ष्टान्तिकः स्वयम् तयोः। विरोधम्—विरुद्धधर्मवत्त्वेन वैषम्यम्। अप्रेक्षमाणः—अनवलोकमानः, एतेन तस्य रागान्धत्वं सूचितम्, कथमन्यथा विद्वानपि तथाविरोधस्य न विज्ञस्यात्। सः—कपिलः। क्षितीशा—राज्ञा। क्षितीशा क्षितिमीष्टे इति क्षितीश्। तेन नृपेण श्रीषेणेन। पुनः—भूयः। अवाचि—ऊचे ॥६६॥

किमवाचीत्याह—संसारिकीति —

संसारिकी प्रीतिरियं द्विनिष्ठा, सम्बन्धवत् किं प्रतिभासते न?
सा चैकनिष्ठाऽभ्युपगम्यते चेत्, किमेकतालेन न तालिका स्यात्?॥६७॥

व्याख्या—संसारिकी—संसारभवा, अलौकिकी त्वेकनिष्ठाऽपि। इयं—साक्षादनुभूयमाना। प्रीतिः—अनुरागः। सम्बन्धवत्—संसर्गवत्। द्विनिष्ठा—उभयसंपृक्ता। न प्रतिभासते—न प्रकाशते। किम्?—अपित्ववश्यं प्रकाशते। विपक्षे आपत्तिमाह। चेद्—यदि। सा—प्रीतिः। एकनिष्ठा—एकगता। अभ्युपगम्यते—स्वीक्रियते। तदा, एकतालेन—एककरतलेन। तालिका—करद्वयसंयोगजन्यः शब्दः। किं न स्यात्—कुतो न भवेत्। यथा हि नैकतालजन्या तालिका तथा नैकगता प्रीतिः सहावस्थानसाधिका इत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥६७॥

तस्याः अप्रीतिमेवाह–प्रीतिमिति—

प्रीतिं परां धारयसि त्वमस्या–मेषा समाकाँक्षति नो भवन्तम् ।
दुःस्थः श्रियं ध्यायति पुण्यहीनः, सा तं समालिङ्गति नैव यद्वा ॥६८॥

व्याख्या—त्वम् अस्याम्–सत्यभामायां । पराम्–अत्यधिकां । प्रीतिं धारयसि–करोषि । एषा–सत्यभामा । भवन्तम् नो–न । समाकाँक्षति–अभिलषति । यद्वा–यथा । पुण्यहीनः–सुकृतशून्यः, अत एव । दुःस्थः–दुर्गतः । श्रियं–सम्पत्तिं । ध्यायति–चिन्तयति । सा–श्रीः । तं–दुःस्थं । नैव, समालिङ्गति–स्वीकरोति, अत्रोपमालङ्कारः ॥६८॥

अथ स्वनिर्णयमाह–पदादित इति—

पदादितो नेष्यसि चेदिमां त्वं, प्राणानियं त्यक्ष्यति तत् प्रसह्य ।
तस्मादियं तिष्ठतु मे निशान्ते, सुतेव धर्मं सितमाचरन्ती ॥६९॥

व्याख्या—इतः–अस्मात् । पदात्–स्थानात् "स्थानं तु पदमास्पदम्" इति हैमः । इमां–सत्यभामां । चेद्–यदि । त्वं नेष्यसि–स्वगृहं प्रापयिष्यसि । तत्–तदा । इयं–सत्यभामा । प्रसह्य–हठात् । प्राणान्–असून् । त्यक्ष्यति–मरिष्यतीत्यर्थः । तस्मात्–तत्कारणात् । इयं–सत्यभामा । मे–मम । निशान्ते–गृहे, निशान्तपरत्यसदनमित्यमरः । सितं–विशुद्धं । धर्ममाचरन्ती–अनुतिष्ठन्ती । सुता–मत्कन्यका । इव तिष्ठतु–निवसतु, यथा सा प्राणान् मा त्याक्षीदिति भावः ॥६९॥

श्लोकद्वयेन धर्ममाहात्म्यमाह–अभूदिति—

अभूत् पशुस्वाम्यपि निर्विलम्बं, कपर्दभूत्याकलितोऽपि नूनम् ।
ऐश्वर्यधुर्यः समलोकमान्यो, धर्मं दधानः स सदाशयेऽपि ॥७०॥

व्याख्या—पशुस्वाम्यपि–पशूनां गोमहिषाजादीनां स्वाम्यपि गोपोऽपि, अथ च पशुस्वाम्यपि पशुपतिरपि, महादेवोपीति यावत् । निर्विलम्बं–सद्य एव । कपर्दभूत्याकलितोऽपि–कपर्दः वराटकः, कपर्दस्तु पर्णास्थिकंवराटकौ" इति हैमः, उपलक्षणतया अल्पधनं स एव भूतिस्सम्पत् तयाऽऽकलितोऽपि युक्तोऽपि, महादेवपक्षे कपर्दो जटाजूटः "कपर्दोऽस्य जटाजूट" इत्यमरः । तेन भूत्या भस्मना चाऽऽकलितोऽपि युक्तोऽपि 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि,' इत्यमरः कोशः, 'भस्म तु स्याद्भूतिः' इति हैमः । एवञ्च शिवसदृश

इत्युपमाध्वनिः, नतु श्लेषालङ्कारः । **नूनं**–निश्चयेन । **सदाशये**–सति शोभने आशये अभिप्रायेऽपि, आधाराधेययोरैक्यविवक्षया मनस्यपि । सदा सर्वदा आशये–आश्रये निजसमीपमितियावत्, 'अथाशय आश्रये' इति हैमानेकार्थः । **धर्मं दधानः**–दानादिधर्मं धारयन्, शिवपक्षे लक्षितलक्षणया वृषं वृषभं धारयन्, क्रियायां धर्मदधान इत्यत्र किमु वक्तव्यमिति सूचितम् । **स ऐश्वर्यधुर्यः**–ऐश्वर्येण समृद्धया अथ च ईश्वरत्वेन धुर्यः अग्रेसरः । **समलोकमान्यः**–समैः सर्वैर्लोकैः, अथ च समेषु सर्वेषु लोकेषु लोकत्रयेष्वित्यर्थः, मान्यः पूज्यः । **अभूत्** ॥७०॥

धर्मं समाश्रित्य गुणाः समस्ताः, महार्घतामाप्य जगत्त्रयेऽपि ।
महत्तमानां श्रवणातिथित्वं, जीवाभिधानप्रथिता लभन्ते ॥७१॥

व्याख्या—**जीवाभिधानप्रथिताः**–जीव इत्यभिधानं नाम वाचकं यस्य तस्मिन् जीवे आत्मनि प्रथिताः प्रसिद्धाः । **गुणाः**–क्षान्त्यादयः विधैश्वर्यादयो वा जीवे बृहस्पतौ वा गुणाः । **समस्ताः**–सर्वे । **धर्मं समाश्रित्य**–सद्धर्माश्रयणं कृत्वा । **जगत्त्रयेऽपि महार्घताम्**–अमूल्यताम् । **आप्य**–अधिगत्य । **महत्तमानाम्**–अतिमहतां । **श्रवणातिथित्वं**–श्रवणानां कर्णानाम् अतिथित्वं गोचरत्वं लभन्ते प्राप्नुवन्ति, जीवगुणा अपि सद्धर्माचरणेनैवामूल्यत्वेन सद्भिराश्रीयन्ते, नान्यथा, अत एव सत्यभामा मद्गृह एव स्थित्वा धर्ममाचरत्विति भावः । जीवनाम्ना विस्तारिता गुणाभिधायकाः शब्दा अपि धर्मास्तिकायमवलम्ब्य त्रिलोक्यामपि महामूल्यतामवाप्य विशिष्टात्मनां श्रवणगोचरतामवाप्नुवन्तीत्यर्थोऽपि श्लेषमहिम्नाऽवसेय इति ॥७१॥

अथैतत्फलितमाह—**सभ्यैः**रिति—

सभ्यैः प्रमाणीक्रियमाणमेत–द्राज्ञो वचस्तत्कपिलोऽन्वमंस्त ।
जिजीविषुः को नृपतेर्निदेशं, प्रत्यादिदिक्षाविषयं करोति ॥७२॥

व्याख्या—**तत्**–तस्माद् पूर्वोक्ताद् हेतोः । **सभ्यैः**–सदस्यैः । **प्रमाणीक्रियमाणं**–समर्थ्यमानं । **राज्ञः**–नृपतेः । **एतत्**–अद्य उक्तं । **वचः, कपिलः**–अपि । **अन्वमंस्त**–स्वीकृतवान्, किमिति सोऽप्यन्वमंस्त, कथं न प्रत्यादिष्टवान्, तत्राह । **कः जिजीविषुः**–जीवितुमिच्छुः । **नृपतेः निदेशम्**–आज्ञां । **प्रत्यादिदिक्षाविषयीकरोति**–प्रत्यादिदिक्षायाः प्रत्यादेष्टुं प्रतिषेद्धुमिच्छायाः विषयीकरोति प्रतिषेद्धुमिच्छति, न कोपीत्यर्थः, अन्यथा प्राणभयमिति भावः । अत्र च विशेषस्य कपिलकृतस्वीकारस्य वैधर्म्येण सामान्येन लोककर्तृकराजाज्ञाप्रतिषेधविशेषस्यार्थान्तरन्यासः ॥७२॥

अथ ततः कपिलस्य गमनमाह—वितीर्यमाणमिति—

वितीर्यमाणं वसुधाधवेन, स्वपाणिपद्मेन स सूत्रकण्ठः ।
ताम्बूलमादाय करद्वयेन, स्वान्तं विनाऽगात् कुपितः स्वगेहम् ॥७३॥

व्याख्या—वसुधाधवेन—वसुधा पृथ्वी तस्याः धवेन स्वामिना राज्ञा । स्वपाणिपद्मेन—निजकरकमलेन, एतेनादरातिशयः, राज्ञो विनयश्च सूचितः । वितीर्यमाणं—दीयमानं । ताम्बूलं—नागवल्लीदलं । करद्वयेन—पाणियुग्मेन, महता दीयमानं हस्तद्वयेन ग्राह्यमित्याचारादिति भावः । आदाय—गृहीत्वा । सः—प्रकृतः । सूत्रकण्ठः—सूत्रं कण्ठे यस्य सः द्विजः, एतेन ससूत्रकण्ठत्वादेव द्विजः, नत्वन्यतोऽपीति सूच्यते । कपिलः । स्वान्तं—मनः । विना—सत्यभामायामतिशयप्रीतेः मनः तत्रैवाभूदिति हेतोरिति भावः । स्वगेहम्—निज-गृहम् । कुपितः—क्रुद्धः, स्वानिष्टसम्पत्तेरिति भावः । अगात्—ययौ, गत्यन्तराभावादितिभावः ॥७३॥

अथ सत्यभामाप्रवृत्तिमाह—सा सत्यभामेति—

सा सत्यभामा नृपतेरनुज्ञा-मासाद्य सद्यः प्रमदं वहन्ती ।
महल्लकैर्भूषितपार्श्वभागा, शुद्धान्तभूभागमलञ्चकार ॥७४॥

व्याख्या—नृपतेरनुज्ञामासाद्य—प्राप्य । प्रमदं—हर्षं, अभीष्टसिद्धेरितिभावः "प्रमदो हर्षः" इत्यमरः । वहन्ती—धारयन्ती । सा सत्यभामा महल्लकैः—अन्तःपुररक्षकैः । भूषितपार्श्वभागा—भूषितौ शोभितौ पार्श्व-भागौ इतस्ततो यस्याः सा तादृशी सती । सद्यः—तत्कालमेव । शुद्धान्तभूभागम्—शुद्धान्तस्य अन्तःपुरस्य "शुद्धान्तः स्यादन्तःपुरमवरोधोऽवरोधनम्" इति हैमः । भूभागं भुवः प्रदेशम् । अलञ्चकार—भूषितवती ॥७४॥

अथ तत्र स्थितायास्तस्याः चरितमाह—दुष्कर्मेति—

दुष्कर्ममर्माणि विदारयन्ती, तपांसि शुद्धानि विसारयन्ती ।
साऽन्तःपुराणां मुदमर्पयन्ती, तत्र स्थिता स्वान्तमदर्पयन्ती ॥७५॥

व्याख्या—स्वान्तं—मनः, "स्वान्तं हृन्मानसं मनः, इत्यमरः । अदर्पयन्ती—दर्परहितं कुर्वती, अत एव । शुद्धानि—निर्निदानानि । अहङ्कारादिभावनावर्जितानि । तपांसि—व्रतादीनि । विसारयन्ती—तत एव च । दुष्कर्ममर्माणि—दुष्कर्मणः मर्माणि । विदारयन्ती—तपसा निकाचित कर्मापि विनाशयन्ती । सा—

सत्यभामा । अन्तःपुराणां—शुद्धान्तानां स्त्रीणां, मुदं— हर्षम् । अर्पयन्ती—ददाना । तत्र—अन्तः पुरे । स्थिता—न्युषितवती, अनुप्रासः ॥७५॥

अथ तद्विषये विशेषं विवक्षुः तदङ्गतया कथान्तरं प्रस्तौति—अथाऽस्तीति —

अथाऽस्ति कौशाम्ब्यभिधा प्रसिद्धा, पुरी परीता कमलाविलासैः ।
विवर्ण्यते या कविभिः प्रवीणै-र्जिनेन्द्रपद्मप्रभजन्मभूमिः ॥७६॥

व्याख्या—अथेति—कथान्तरप्रारम्भे । कमलाविलासैः—कमलायाः लक्ष्म्याः विलासैः उल्लासैः । परीता—परिपूर्णा सम्पत्तिसम्पन्ना । कौशाम्ब्यभिधा—कौशाम्बी नाम्नी । पुरी—नगरी । प्रसिद्धा:—ख्याता । अस्ति, या—नगरी । प्रवीणैः—निपुणैः । कविभिः—पण्डितैः, "संख्यावान् पण्डितः कविः" इत्यमरः । जिनेन्द्रपद्मप्रभजन्मभूमिः—जिनेन्द्रस्य पद्मप्रभप्रभोः जन्मभूमिः उत्पत्तिस्थानम् । विवर्ण्यते—कथ्यते ॥७६॥

अथ तद्राज्ञः परिचयमाह—तस्यामिति—

तस्यां बलेन प्रबलो बलोऽभूद्, भूमीपतिर्भूमगुणौघभूमिः ।
यस्य प्रतिद्वन्द्वितयैव शंके, शक्रोऽबलारित्वविशिष्टनामा ॥७७॥

व्याख्या—तस्यां—कौशाम्बीपुर्यां । भूमगुणौघभूमिः—भूमाः प्रशस्ता बहवो वा ये गुणाः शौर्यादयः, तेषा-मोघः समूहः तस्य भूमिः पात्रम्, सकलप्रशस्तगुणवान्, तथा । बलेन—सेनाभिः । प्रबलः—बलवत्तरः । बलः—बलनामा । भूमीपतिः—राजा अभूत् । यस्य—राज्ञः । प्रतिद्वन्द्वितयैव—प्रतिद्वन्द्विता—प्रतिस्पर्धिता तया कृत्वैव । शक्रः—इन्द्रः । बलारित्वविशिष्टनामा—बलारित्वेन विशिष्टं बलारिरिति नाम यस्य स तादृशः, अभूदिति शेषः । शङ्के—उत्प्रेक्षे । "सुरपतिर्बलारातिरित्यमरः" ॥७७॥

अथ तत्स्त्रीपरिचयमाह—न श्रीमती, इति—

न श्रीमती तस्य बभूव नाम्ना-ऽपि श्रीमती किन्तु वधूः स्वधाम्ना ।
यद्रूपसौन्दर्यसमित्ववृत्त्या, रतिं भजन्ती रतिरेव जज्ञे ॥७८॥

व्याख्या— तस्य—बलनृपतेः । नाम्ना—नाममात्रेण । श्रीमती—तन्नाम्नी । वधूः—भार्या । न किन्तु स्वधाम्नाऽपि—स्वतेजसाऽपि । श्रीमती—शोभादिमती "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यते" इति

कोषः, तेजोलक्ष्मीवती च । **बभूव, रतिः**–कामदेवप्रिया । **एव यद्रूपसौन्दर्यसखित्ववृत्त्या**–यस्याः रूपमाकारः सौन्दर्यञ्च तयोः सखित्ववृत्त्या सादृश्येनानुचरीत्वमापन्ना । **रतिम्**–अनुरागं । **भजन्ती**–कुर्वन्ती । **जज्ञे**–बभूव, श्रीमत्या रूपं सौन्दर्यञ्च दृष्ट्वा तद्द्वयमिच्छन्ती रतिप्रमाणा रतिर्बभूवेति शब्दच्छलेन सूच्यते, अत्र रतेस्तथाऽनुरागासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्त्यलङ्कारः ॥७८॥

अथ तत्कन्यापरिचयमाह—**तदङ्गजेति**–

तदङ्गजाऽजायत पुण्यतः श्री–कान्ता द्विधाऽपि श्रुतिवत्सदङ्गा ।
विद्या यदभ्यासवशात् प्रवृत्ताः, प्रसिद्धिमालम्बिषतानुपायम् ॥७९॥

व्याख्या—**तदङ्गजा**–तस्याः श्रीमत्याः अङ्गजा कन्यका । **श्रुतिवत्**–श्रुतिर्वेदः तद्वत् । **सदङ्गा**–सम्पूर्णाङ्गा, यथाहि वेदः षडङ्गः तद्वत्सा सत्षडङ्गेत्यर्थः । यद्वा सत् विद्यमानं प्रशस्तं वा अङ्गमवयवः यस्यास्सा तादृशी "विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्" इत्यमरः । अथवा सन्ति शोभनानि अङ्गानि बाह्वादीनि उपलक्षणतयोपाङ्गानि अङ्गुल्यादीनि यस्यास्सा सदङ्गा । तथा **द्विधा**–नामतोऽर्थतश्चापि । **श्रीकान्ता**–श्रीरिव कान्ता कमनीया, श्रीकान्ता नाम्नी च । **पुण्यतः**–सुकृतप्रभावेन, नान्यथैतादृशापत्यसम्भव इति भावः । **अजायत**–अभूत् । **यदभ्यासवशात्**–यस्याः अभ्यासवशात् शिक्षाप्रभावात् । **प्रवृत्ताः**–लब्धाः । **विद्याः**–आन्वीक्षिक्यादयः । **अनपायम्**–अप्रतिहतं यथा स्यात्तथा, अनुपायमिति पाठे तु अयत्नं यथा स्यात्तथा । **प्रसिद्धिं**–ख्यातिम् । **आलम्बिषत**–अशिश्रियन् । अत्र यत्नस्य हेतोरनुक्तेः प्रसिद्धेश्च कार्यस्योक्तेर्विभावनाऽलङ्कारः ॥७९॥

अथ तस्याः गुणसन्निधानमाह—**सा बालेति**—

सा बालभावेऽपि गुणैरशेषै–रेवाश्रिता प्रीतिविधित्सयैव ।
स्वयं समागम्य हि संगतेषु, प्रभोरजर्यं न च जीर्यतीह ॥८०॥

व्याख्या—**सा**–श्रीकान्ता । **बालभावेऽपि**–शैशवेऽपि सति । **अशेषैः**–समस्तैरेव । **गुणैः**–शीलादिभिः । **प्रीतिविधित्सयैव**–सङ्गतिकरणेच्छयैव । **आश्रिता**–आलम्बिता, ननु बालभावे सन्तोऽपि यौवनेऽपेक्ष्यन्ति, तत्राह । **हि**–यतः । **इह**–अत्र । **स्वयम्**–आत्मनैव, नतूद्बोधकवशात् । **समागम्य सङ्गतेषु**–कृतप्रीतिषु । **प्रभोः**–समर्थस्य महतः । **अजर्यं**–मैत्री । **न च**–नैव । **जीर्यति**–अपैति "सौहार्दं साम्नपदीनमैत्र्यजर्याणि सङ्गतम्" इति हैमः । एवञ्च यौवनेऽपि ते तासां गुणाः इति भाव ॥८०॥

अथ तस्याः स्वयम्वरार्थं गमनमाह—**सा यौवनोन्मेषेति**—

सा यौवनोन्मेषविशेषरम्या, श्रीषेणभूमीन्द्रतनूभवाय ।
गरीयसे प्रैषि वसुन्धरेशा. स्वयम्वराऽमा सुपरिच्छदेन ॥८१॥

व्याख्या—**यौवनोन्मेषविशेषरम्या**—यौवनस्योन्मेषः विकाशः यौवनोन्मेषः तद्रूपो यो विशेषस्तेन रम्या मनोहरा । **सा**—श्रीकान्ता । **स्वयंवरा**—स्वयं वृणुते पतिमिति स्वेच्छया पतिवरणोद्यतेत्यर्थः । **वसुन्धरेशा**—राज्ञा बलनृपेण । **सुपरिच्छदेन**—उत्तमपरिवारेण । **अमा**—सह । **गरीयसे**—महते । **श्रीषेणतनूभवाय**—श्रीषेणपुत्राय इन्दुषेणाय । **प्रैषि**—प्रेषिता ॥८१॥

अथ तदागमनं निशम्य राज्ञः श्रीषेणस्य प्रवृत्तिमाह—राजाधिराजाङ्गजमिति—

राजाधिराजाङ्गजमिन्दुषेणं, स्वयंवरीतुं बलराजपुत्री ।
इयं समेतीति नृपैर्निशम्यो-पदाभिरापूरि पदव्युदारैः ॥८२॥

व्याख्या—**राजाधिराजाङ्गजम्**—राजसु अधिको महान् राजा राजाधिराजः तस्याङ्गजं पुत्रम् । **इन्दुषेणं**—तन्नामानं । **स्वयंवरीतुं**—स्वयंवरणाय । **बलराजपुत्री**—बलाख्यश्चासौ राजा च बलराजः, तस्य पुत्री कन्यका । **इयं**—सद्य एव । **समेति**—आगच्छति । **इति**—इत्थंप्रकारं वचनं । **निशम्य**—श्रुत्वा । **उदारैः**—उदारैर्महाशयैः "महेच्छे तूद्भटोदारोदात्तोदीर्णमहाशयाः महामना महात्मा च" इति हैमः । **नृपैः**—आदरार्थे बहुवचनम्, यद्वा तदधीनैः अन्यैः नृपैः, स्वस्वामिभक्तिसूचनाय । **उपदाभिः**—उपहारैः तोरणस्रजादिभिः । **पदवी**—मार्गः । 'अयनं वर्त्म मार्गोऽध्वपन्थानः पदवी सृतिरि'त्यमरः । **आपूरि**—पूरिता भूषितेत्यर्थः ॥८२॥

अथ तद्विषये नृपाणां चित्तवृत्तिमाह—**स्वयंवरार्थेति**—

स्वम्बरार्थं स्वयमेव यान्तीं, श्रुत्वा नृपैस्तां द्वितयं व्यबोधि ।
विज्ञानभङ्गी बलराजपुत्र्यां, सौभाग्यभङ्गी प्रवरेन्दुषेणे ॥८३॥

व्याख्या—**तां**—श्रीकान्तां । **स्वयम्वरार्थं स्वयमेव**—आत्मनैव, न तु प्रार्थनादिना । **यान्तीं**—गच्छन्तीं । **श्रुत्वा नृपैः**—राजलोकैः । **द्वितयं**—द्वयं । **व्यबोधि**—ज्ञातम्, किन्तद्द्वयमित्याह । **बलराजपुत्र्यां**—श्रीकान्तायां । **विज्ञानभङ्गी**—विज्ञानस्योत्कृष्टज्ञानस्य भङ्गी विलासः, योग्यस्य वरणात् । **प्रवरेन्दुषेणे**—प्रवरः उत्तमः य इन्दुषेणः तस्मिन् । **सौभाग्यभङ्गी**—सौभाग्यस्य उत्तमभाग्यवत्त्वस्य भङ्गी, नान्यथैतादृशी कन्यका स्वयं वृणीतेति भावः ॥८३॥

अथ मार्गे नृपैस्तत्स्वागतमाह—**सकोऽपीति**—

स कोऽपि भूमीपतिरेव नासीत्, समाव्रजन्त्यां बलराजपुत्र्याम् ।
पथ्युन्नता रत्नपुरेन्द्रतुष्ट्यै, न तोरणश्रेणिरबन्धि येन ॥८४॥

व्याख्या—स—तादृशः । कोऽपि—अनिर्दिष्टनामा । भूमीपतिः—राजा । नासीदेव—नाभूदेव । येन—राज्ञा । बलराजपुत्र्यां—श्रीकान्तायां । समाव्रजन्त्याम्—आगच्छन्त्यां सत्यां । रत्नपुरेन्द्रस्य—श्रीषेणस्य । तुष्ट्यै—प्रसादाय, तदतिथिसत्कारात्तत्प्रभावातिशयख्यातेः तुष्टिरिति भावः । पथि—मार्गे । उन्नता—उच्चा । तोरणश्रेणिः—तोरणानां श्रेणिः पंक्तिः । न अबन्धि—बद्धा न, अपि तु सर्वैरेव बद्धैवेति भावः ॥८४॥

सम्प्रति तस्याः परिजनकर्तृकपरिचर्याप्रकारमाह—मुक्ताफलक्षोदेति —

मुक्ताफलक्षोदसहोदराणि, पयांसि भूयांसि भवन्ति यत्र ।
निवेशयामासुरपेतबाधा- स्तत्रैव गुप्यद्गृहमेतदीयाः ॥८५॥

व्याख्या—यत्र—स्थाने यस्मिन् । मुक्ताफलक्षोदसहोदराणि—मुक्ताफलानां मौक्तिकानां क्षोदश्चूर्णम् तस्य सहोदराणि तत्तुल्यस्वच्छानि तथा । भूयांसि—बहुपरिमाणानि, अल्पत्वे परिजनपरिचारकादिबाहुल्यात् असौकर्यं स्यादिति भावः । पयांसि—जलानि । तत्रैव—महाह्रदादिसमीप एव । अपेतबाधाः—अपेता विनष्टा बाधा अत्र न वस्तव्यमित्यादिप्रकारप्रतिरोधः येषां ते तादृशाः । एतदीयाः—परिजनादयः । गुप्यद्गृहम्—गुप्यच्च तद् गृहम् च तादृशं गुप्तगृहमुपकार्यादि । निवेशयामासुः—स्थापयामासुः ॥८५॥

अथ निवासानन्तरं तत्र सर्वापेक्षितवस्तुसौलभ्यमाह—वणिगिति —

वणिग्जनाध्यासितहट्टवीथी, लभ्याखिलक्रय्यकदम्बकत्वात् ।
तत्रोपकार्यारचिताधिवासाः, स्मरन्ति वेश्मानि न केचन स्म ॥८६॥

व्याख्या—तत्र—ह्रदादितटे । उपकार्यारचिताधिवासाः—उपकार्यायामुपकारिकायाम् "उपकारिकोपकार्या" इति हैमः । पटमण्डपे इत्यर्थः । रचितः कृतः अधिवासः यैस्ते तादृशाः । केचन—केऽपि । वणिग्जनाध्यासितहट्टवीथीलभ्याखिलक्रय्यकदम्बकत्वात्— वणिग्जनैः व्यवहर्तृभिरध्यासिता सम्पन्ना या हट्टवीथी पण्यवीथिका तस्यां लभ्यं प्राप्यम् अखिलं समस्तं किं तदित्याह क्रय्याणां क्रेतारः क्रीणीयुरितिबुद्धया आपणे प्रसारितानां वस्तूनां कदम्बकं समूहः, तस्य भावः तत्त्वं तस्मात् "वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्," इत्यमरः । हट्टे अपेक्षितसर्ववस्तूपलब्धेः । वेश्मानि—गृहाणि । न स्मरन्तिस्म—असौकर्ये हि गृहस्मरण म, सर्ववस्तुसौकर्ये तु तानि विस्मरन्ति गृहस्मरणं नैव भवतीति भावः । एतेन प्रबन्धवैशद्यमुक्तम् ॥८६॥

अथ श्रीकान्तायाः प्रवृत्तिं त्रिभिः वर्णयन् रत्नपुरप्राप्तिमाह—संवाह्यमानेत्यादि—

संवाह्यमाना क्वचनापि बाढं, श्रमं विनाऽपि प्रयतालिवर्गैः ।
प्रवीज्यमाना कदलीदलौघैः, क्वचिद् भुजिष्याभिरितस्ततोऽपि ॥८७॥

कर्म प्रकुर्वाणमनात्मनीनं, सखीजनं क्वापि निवर्तयन्ती ।
प्रवर्तयन्ती क्वचनापि दासीं, राशीकृतानेकगुणप्रकारा ॥८८॥

प्रौढप्रतापाऽनुचरानुयाता, निदेशमात्रप्रभवत्प्रयोगा ।
नरेन्द्रकन्या शिबिकाधिरूढा, प्रापत् क्रमाद्रत्नपुरं पुरं सा ॥८९॥

व्याख्या—**क्वचनापि**—कुत्रापि । **श्रमं**—क्लमं । **विनाऽपि**—अध्वखेदाऽभावेऽपि । **प्रयतालिवर्गैः**—स्वभक्तिसूचनाय प्रयतैः प्रवृत्तिशीलैः आलीनां सखीनां वर्गैः समूहैः, 'आलिः सखी वयस्या" चेत्यमरः । **बाढं**—भृशम् । **संवाह्यमाना**—शुश्रूष्यमाणा । **क्वचित् भुजिष्याभिः**—दासीभिः । **इतस्ततोऽपि**—परितः । **कदलीदलौघैः**—कदल्याः रम्भायाः दलानि पत्राणि तेषामौघैः समूहैः, 'कदलीवारणबुसा रम्भा मोचांसुमत्फला' इत्यमरः । **प्रवीज्यमाना**—पवनायमाना ॥८७॥ **क्वापि अनात्मनीनम्**—आत्मनो हितमात्मनीनं नात्मनीनं अनात्मनीनम् । अहितं । **कर्म**—कृत्यं । **प्रकुर्वाणं सखीजनं**—सहचरीवर्गं । **निवर्त्तयन्ती**—निवारयन्ती । एतेन तस्याः सख्यादिषु अप्रमादः सूच्यते । **क्वचनाऽपि दासीं**—चेटीं । **प्रवर्त्तयन्ती**—नियुञ्जन्ती । **राशीकृतानेकगुणप्रकारा**—राशीकृतः सञ्चितः अनेकानां गुणानां प्रकारः विशेषः यया सा तादृशी ॥८८॥ **प्रौढप्रतापा**—प्रौढः इतरानभिभवनीयः प्रतापः प्रभावः यस्याः सा तादृशी । **अनुचरानुयाता**—अनुचरैः परिचारकैः अनुयाता अनुस्रियमाणा, अत एव निदेशमात्रेण आज्ञामात्रेण नतु पुनः पुनः नियोगेन प्रभवन् सम्पद्यमानः प्रयोगः कार्यं यस्याः सा । **निदेशमात्रप्रभवत्प्रयोगा, शिबिकां**—याप्ययानम् 'शिबिका याप्ययाने' इति हैमः । **अधिरूढा**—अधिष्ठिता । **सा**—प्रस्तुता । **नरेन्द्रकन्या**—राजपुत्री, श्रीकान्ता । **क्रमात् रत्नपुरं**—तदाख्यं नगरं । **प्रापत्**—उपागमत् ॥८९॥

अथ तया सहागतां वाराङ्गनां वर्णयति—तयेति—

तया सहानन्तमतिर्द्विधाऽपि, वाराङ्गना जङ्गमराजधानी ।
अनङ्गराजस्य समाजगाम, न्यायं सहायं प्रतिरूपयन्ती ॥९०॥

व्याख्या—तया—श्रीकान्तया । सह, अनङ्गराजस्य—अनङ्गश्चासौ राजा च तस्य कामदेवस्य। जङ्गमराजधानी—जङ्गमा गतिमती या राजधानी निवासनगरी। न्यायम्—उचितं। सहायम्—अनुजीविनं "सहायोऽभिचरोऽनोश्च जीवी-गामी-चर-प्लवाः" इति हैमः। प्रतिरूपयन्ती—कुर्वाणा। द्विधा—प्रकारद्वयेन नामतः अर्थतश्चापि। अनन्तमतिः—अनन्ता निःसीमा मतिः बुद्धिः यस्याः सा तन्नाम्नी च। वाराङ्गना समाजगाम—आययौ ॥९०॥

सम्प्रति तस्याः रूपं वर्णयति—रूपं यदीयमिति—

रूपं यदीयं समवेक्ष्य धीरै-र्नैवोर्वशी कैश्चिदमानि मान्या।
अगण्यलावण्यगुणाभिरामं, रम्भाऽपि नादृश्यतया विवर्ण्या (युग्मम्)॥९१॥

व्याख्या—यदीयम्—अनन्तमतिसम्बन्धि। अगण्यलावण्यगुणाभिरामं—अगण्यमवर्णनीयम् यल्लावण्यं गुणाश्च यद्वा लावण्यमेव गुणः तैस्तेन वा अभिरामं मनोहरं। रूपम्—आकारम्। समवेक्ष्य—विलोक्य। कैश्चिद् धीरैः—पण्डितैः। उर्वशी—स्वर्वेश्या। मान्या—एतदपेक्षया मानयोग्या। नैवामानि—मेने तथा। रम्भाऽपि—तदाख्यस्वर्वेश्या। अदृश्यतया—हेतुना। न विवर्ण्या—वर्णनीया, अस्याः दृश्यत्वाद्, एवञ्च रम्भोर्वशीभ्यामपीयमधिकसुन्दरीति व्यतिरेकालङ्कारः॥९१॥

अथ श्रीषेणपुत्रप्रवृत्तिमाह—श्रीषेणेति—

श्रीषेणभूवासवसम्भवौ तां, नेत्रातिथीकृत्य कृतार्थभावम्।
स्वस्यादधानौ हृदये वितर्क-मेतादृशं चक्रतुरेककालम् ॥९२॥

व्याख्या—श्रीषेणभूवासवसम्भवौ—श्रीषेणश्चासौ भूवासवः महीन्द्रश्च श्रीषेणभूवासवः तस्मात्सम्भव उत्पत्तिर्ययोस्तौ इन्दुषेणबिन्दुषेणौ। ताम्—अनन्तमतिं, नेत्रातिथीकृत्य, नेत्रयोः अतिथीकृत्य गोचरी कृत्य द्रष्टुमित्यर्थः। स्वस्य—स्वकीये। हृदये—मनसि। कृतार्थभावम्—कृतार्थस्य कृतकृत्यस्य भावस्तं कृतकृत्यताम्, अप्रतिमहर्षमित्यर्थः। आदधानौ एककालम्—युगपत्। एतादृशं—वक्ष्यमाणप्रकारं। वितर्कं—विकल्पं। चक्रतुः ॥९२॥

अथ तद्वितर्कमेवाह—सञ्जातकोपेनेति—

सञ्जातकोपेन सुराधिपेन, प्रदत्तशापेन निपातिता किम् ?
कटाक्षविक्षेपलवेन देवान्, व्यामोहयन्ती सहसोर्वशीयम् ॥९३॥

व्याख्या—कटाक्षविक्षेपलवेन--कटाक्षस्याक्षिविकूणितस्य विक्षेपः इतस्ततः प्रचालनं तल्लवेन लेशेन "लवलेशकणाणव" इत्यमरः । देवानपि सहसा व्यामोहयन्ती--मूर्च्छयन्ती, अत एव । सञ्जातकोपेन--सञ्जातः कोपः यस्य तेन, स्वस्मिन्ननुरागप्रतीतेरिति भावः । सुराधिपेन--सुराणामधिपेनेन्द्रेण । प्रदत्तशापेन--प्रदत्तेन शापेन । निपातिता--पृथिव्यां च्यावितां । इयं--दृश्यमाना । उर्वशी--तदाख्याप्सरोविशेषः । किमिति--वितर्के ॥९३॥

अथ तयोर्वितर्कान्तरमाह—त्रपावतीनामिति —

त्रपावतीनां कुलबालिकाना-मस्माकमन्तः किमियं करोति ।
इतीव देवीभिरमानितेयं, भ्रष्टा दिवो वा कथमुर्वशी न ॥९४॥

व्याख्या—त्रपावतीनां--सलज्जानाम्, लज्जा भार्यविभूषणमित्युक्तेरिति भावः । कुलबालिकानां--'कुलवातिकानाम्' इति पाठे तु कुलवाचालानां, कुलवधूनाम् । अस्माकम्, अन्तर्मध्ये, इयं--वेश्या, निर्लज्जा । किं करोति--सलज्जासु तासामेव अवस्थानमुचितम्, न तु निर्लज्जानां वेश्यादीनां, संसर्गदोषसंभवादिति भावः । इति--हेतोः । इव देवीभिः--देवस्त्रिभिः । अमानिता--तिरस्कृता, इव अतएव । दिवः--स्वर्गात् । भ्रष्टा--पतिता । वेति पूर्वश्लोकोक्तपक्षान्तरे । इयमुर्वशी कथं न ? अपि तु अवश्यं सैव, कथमन्यथा अलौकिकरूपलावण्यादिसम्भवः इति भावः, अत्रासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥९४॥

उपेक्ष्य मां चन्द्रभृताऽपि भर्त्रा, गङ्गा धृता मूर्ध्नि विचिन्त्य चेति ।
अजाततोषा विहिताधिरोषा, गौरी किमेषा समुपागताऽत्र ? ॥९५॥

व्याख्या—चन्द्रभृता—चन्द्रशेखरेण शिवेन, एतेनातिमहत्त्वं सूचितम् । भर्त्रा—पत्या । अपि—अपिना पत्युरन्यस्त्रीपरिष्वङ्गानौचित्यं व्यज्यते । मां—पतिव्रताम् । उपेक्ष्य—अनादृत्य । मूर्ध्नि—मस्तके । गङ्गा धृता—स्थापिता । इति च—पूर्वविकल्पसमुच्चये । विचिन्त्य—विचार्य । अजाततोषा—असन्तुष्टा, अत एव । विहिताधिरोषा—विहितः अधिकः रोषः क्रोधः 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघाः,' इत्यमरः, यया सा तादृशी । एषा—दृश्यमाना । गौरी—पार्वती । अत्र समुपागता किम् ?—गौरीतुल्येयमाकृत्येति ध्वनिः ॥९५॥

भागीरथीं यां शिरसा गिरीशो-ऽधत्ताच्युतस्तामयमात्तगर्वः ।
पदाऽपि नैव स्पृशतीति रुष्टा, लक्ष्मीरियं लक्ष्मविवर्जिता किम् ॥९६॥

व्याख्या—यां भागीरथीं-गङ्गां। गिरीशः-शिवः। शिरसा-मस्तकेन। अधत्त-धृतवान्। तां-तादृशीं गङ्गामतिपूज्याम्। आत्तगर्वः--आत्तः गृहीतः गर्वोऽभिमानः येन स तादृशः अभिमानी। अयमच्युतः-विष्णुः। पदा-चरणेनापि, विष्णुचरणोद्भवा गङ्गेति पुराणम्। नैव स्पृशति इति-हेतोः। रुष्टा-कुपिता, अत एव। लक्ष्मविवर्जिता--लक्ष्मणा स्वचिह्नेन कमलावासादिना, विवर्जिता-रहिता, कुपितो हि स्वस्वरूपं जहातीति भावः। लक्ष्मीः इयं किम्?--सजातीयस्त्रीसन्मानं नाकारि विष्णुनेति लक्ष्मीः सरोषाऽजनि, अत्र चागतेति भावः ॥९६॥

अथ द्वयोर्निश्चयमाह—निमिष्यदिति—

निमिष्यदक्षत्वविशेषलिङ्गा-नुवृत्तिमात्रेण विबुध्य नारीम् ।
अन्योन्यसंस्पर्द्धितयेव बाढं, तस्यां मनो द्वावपि तौ न्यधत्ताम् ॥९७॥

व्याख्या—निमिष्यदक्षत्वविशेषलिङ्गानुवृत्तिमात्रेण--निमिष्यत् निमेषं प्राप्नुवत अक्षिनयनं यस्याः तद्भावस्तत्त्वम्, "सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे" । ७। । ३। १२६। इति टप्रत्ययो बहुव्रीहेः। तद्रूपस्य विशेषस्य रम्भादिविलक्षणस्य, देवयोनेर्निर्निमेषत्वादिति भावः, लिङ्गस्य मानवचिह्नस्य अनुवृत्तिः सम्बन्धः तन्मात्रेण, नत्वन्येनापि लिङ्गेन, प्रकारान्तरेण सादृश्यस्यैव सत्त्वादिति भावः। तां नारीं-मानुषीं। विबुध्य-ज्ञात्वा। तौ द्वावपि-राजपुत्रौ। अन्योऽन्यसंस्पर्द्धितया-अन्योन्यं संस्पर्धिता पराभिभवेच्छा तद्भावस्तया परस्परेर्ष्यया। इव तस्याम्-अनन्तमत्यां। बाढं-भृशम्। मनः-हृदयं। न्यधत्ताम्-निवेशयामासतुः ॥ स्पर्धाऽभावेऽपि तदात्मना सम्भावनादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥९७॥

अथ जातरागयोस्तयोर्युद्धप्रतिज्ञामाह—लज्जामिति—

लज्जां परित्यज्य परिच्छदस्य, सौभ्रात्रसम्बन्धमचिन्तयित्वा ।
तस्याः कृते तावपि जातरागौ, युद्धप्रतिज्ञां रभसा व्यधत्ताम् ॥९८॥

व्याख्या—तस्याः-अनन्तमत्याः कृते-प्राप्तिहेतोः, जातः रागः आसक्तिः आग्रहो वा ययोस्तौ जातरागौ, तौ द्वावपि-राजपुत्रौ। परिच्छदस्य--परिजनस्य। लज्जां-त्रपां। परित्यज्य--त्यक्त्वा।

सौभ्रात्रसम्बन्धं–सुभ्रातुरयमिति सः सौभ्रात्रः स चासौ सम्बन्धश्च तम् आवां सहोदरौ इत्येवमपि । अचिन्तयित्वा रभसा–अविवेकेन । युद्धप्रतिज्ञां–युद्धाय प्रतिज्ञां सङ्गरं । व्यधत्ताम्–अकुरुताम् "प्रतिज्ञाऽऽगूश्च सङ्गरः" इतिहैम. ॥९८॥

अथ तयोः युद्धप्रकारमाह—स इन्दुषेण इति—

स इन्दुषेणः खलु बिन्दुषेणं, बभाण हत्वा युधि संप्रहारैः ।
भवन्तमेतां यदि नात्मकान्तां, करोमि तन्नाम न तातजातः ॥९९॥

व्याख्या—सः–ज्येष्ठः । इन्दुषेणः, बिन्दुषेणं–कनिष्ठं । बभाण–कथयामास । खलु–किमित्याह । युधि–रणे । सम्प्रहारैः–शस्त्रैः । भवन्तं–त्वां, बिन्दुषेणं । हत्वा–निपात्य । यदि एताम्–अनन्तमतिम् । आत्मकान्ताम्–आत्मनः स्वस्य कान्तां भार्यां । न करोमि–तत् तदा । नाम–इत्यलीके तातात् स्वपितुः जातः उत्पन्नः तातजातः–न, भवामि इति शेषः ॥९९॥

अथ बिन्दुषेणस्य प्रतिवचनमाह—जगाविति —

जगौ कनीयानपि बिन्दुषेण–स्तमिन्दुषेणं स्मरविह्वलाङ्गम् ।
सहोदरस्ते न भवामि चेत्त्वां, जयामि नाहं रणमादधानः ॥१००॥

व्याख्या—कनीयान्–कनिष्ठः बिन्दुषेणः । अपि तं–ज्येष्ठं । स्मरविह्वलाङ्गं–स्मरेण कामावेशेन विह्वलम् व्याकुलमङ्गम् यस्य तमस्वस्थशरीरम् इन्दुषेणं, जगौ–जगाद, किमित्याह । रणं–युद्धम् । आदधानः–कुर्वाणः । अहं चेद्–यदि । त्वां–भवन्तं । न जयामि–अभिभावयामि, तदेति शेषः । ते–तव । सहोदरः–सहजः स्वतातजात इति यावत् । न भवामि ॥१००॥

अथ भूमिपतेस्तद्वार्ताश्रवणमाह—अभूतपूर्वमिति —

अभूतपूर्वं परिभाव्य युद्धं, तयोर्भविष्यत्त्वरितं सुभृत्यैः ।
न्यवेदि भूमीपतयेऽथवा के, प्रजानते तां दुरुदर्कवार्ताम् ॥१०१॥

व्याख्या—तयोः–द्वयोः, भ्रात्रोः । भविष्यद्–सम्पत्स्यत् । युद्धं–न कदापि पूर्वं भूतमित्यभूतपूर्वं–विलक्षणम्, नहि भ्रातरौ कदापि एकस्त्रीनिमित्तं अयुध्येतामिति भावः । परिभाव्य–विचार्य ।

सुभृत्यैः—स्वामिहितचिन्तकैः, परिचारकैः । भूमीपतये—राज्ञे । त्वरितं—शीघ्रं । न्यवेदि—विज्ञापितम् । अथवा—यतः । तां—तादृशीं । दुरुदर्कवार्तां—दुरनिष्टः उदर्कः उत्तरकालीनपरिणामः यस्यास्तां वार्तां प्रवृत्तिं । के प्रजानते—विदन्ति, न केऽपीत्यर्थः, अनन्तमतिं दर्शनार्थं गतयोस्तयोरकस्मादेव युद्धप्रवृत्तेरिति भावः ॥१०१॥

अथ राज्ञः प्रवृत्तिमाह—आकार्येति—

आकार्य राजाऽपि तदैव सर्वान्, रहस्यमात्यान् सुतयोस्तदीदृक् ।
अकार्यमावेद्य निवर्तनायै, समादिदेश प्रतिकारसाध्यान् ॥१०२॥

व्याख्या राजा—श्रीषेणः । अपि तदैव—तत्कालमेव, न तु विलम्ब्य, अनवसरादिति भावः । सर्वान्—कार्यगौरवादिति भावः । अमात्यान्—मन्त्रिणः । आकार्य—आहूय । रहसि—एकान्ते, न तु सदसि, अनौचित्येन तादृशवार्तायां गोपनीयत्वादिति भावः । सुतयोः—स्वपुत्रयोः । तद्—भृत्यकथितम् । ईदृक्—इत्थं प्रकारम् । अकार्यम्—अनुचितानुष्ठानम् । आवेद्य—कथयित्वा । प्रतिकारसाध्यान्—प्रतिकारः युद्धाद् द्वयोर्निवर्त्तनम् साध्यम् येषां ते तान् तादृशान् उपायविदुरान् । निवर्तनायैः—वारणार्थं । समादिदेश—आज्ञप्तवान्, युद्धात्तौ निवारयेत्येवमिति ॥१०२॥

अथ मन्त्रिणः प्रवृत्तिमाह—रसापतेरिति—

रसापतेस्तं शिरसा निदेशं, निधाय जग्मुः सचिवाः समीपम् ।
कुमारयोः कङ्कटमण्डलाग्रसंयुक्परीवारपरीतयोस्ते ॥१०३॥

व्याख्या—रसापतेः—रसा पृथ्वी "मेदिनी रसा" इति हैमः । तस्याः पतिस्तस्य, महीपतेः । तं—निवारणरूपं । निदेशम्—आज्ञां । शिरसा—मस्तकेन, "उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । निधाय—स्वीकार्य, शिरो नमयित्वा स्वीकार्येत्यर्थः । ते—प्रतिकारसाध्याः । सचिवाः—मन्त्रिणः । कङ्कटकमण्डलाग्रसंयुक्परीवारपरीतयोः—कङ्कटः वर्म "सन्नाहो वर्म कङ्कटः" इति हैमः । मण्डलाग्रः कृपाणः 'करवालनिस्त्रिंशकृपाणखड्गाः, तरवारिकौक्षेयकमण्डलाग्रा" इति हैमः । तौ संयुनक्तीति स चासौ परीवारः सेना परिच्छदः तेन परीतयोः परिवेष्टितयोः, सन्नद्धसैनिकान्वितयोः यद्वा कण्टकेन मण्डलाग्रः करवालः; "मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्" इत्यमरः, तत्संयुक् तत्सङ्गतः परीवारः खड्गकोशः "परीवारः खड्गकोशे परिच्छदे इत्यमरः । "प्रत्याकारः परीवारः कोशः खड्गपिधानकम्" इति हैमः । तेन च परीतयोः युक्तयोः । कुमारयोः—राजपुत्रयोः । समीपं जग्मुः ॥१०३॥

अथ तत्रगतानां तेषां कर्त्तव्यमाह—ज्येष्ठ इति—

ज्येष्ठो विवेकीति पुरेन्दुषेणं विनम्य बद्धाञ्जलयोऽथ तेऽपि ।
व्यजिज्ञपन् विज्ञतमाः कुमारं, सारं यथा भूमिभुजोपदिष्टम् ॥१०४॥

व्याख्या—**अथ**—गमनानन्तरम् । **ते**—सचिवाः । **अपि ज्येष्ठः**—ज्यायान् । **विवेकी**—विचारवान्, वयोबाहुल्यादिति भावः । **इति**—हेतोः । **पुरा**—प्रथमम् । **इन्दुषेणं विनम्य**—प्रणम्य । **बद्धाञ्जलयः**—बद्धः विहितः अञ्जलिः यैः ते तादृशाः सन्तः । **विज्ञतमाः**—बुद्धिमन्तः सचिवाः । **यथा**—येन प्रकारेण । **भूमि-भुजा**—राज्ञा । **सारम्**—उत्कृष्टं वचः । **उपदिष्टम्**—आज्ञापितम् तदिति शेषः । **कुमारम्**—इन्दुषेणं । **व्यजिज्ञपन्**—विज्ञापयाञ्चक्रुः ॥१०४॥

अथ मन्त्रिणः उपदेशप्रस्तावमाह—यत्त्वामिति—

यत्त्वां कुमार ! प्रतिपादयाम-स्तदत्र न क्षूणमवेक्षणीयम् ।
हितं स्वतोऽपि प्रवदन्ति भृत्या, वाच्यं पुनः स्वामिनिदेशतः किम् ॥१०५॥

व्याख्या—**कुमार !**—राजपुत्र ! **अत्र**—युद्धविषये । **यत्**—किंचित् । **त्वां**—भवन्तं । **प्रतिपाद-यामः**—उपदिशामः, तन्निवेदनम् । **क्षूणम्**—अनुचित । **न अवेक्षणीयम्**—अनुचितम् तवैतदित्येवं न विचा-रणीयमित्यर्थः । ननु कुतस्तवोपदेशस्यौचित्यमिति चेत्तत्राह । **भृत्याः**—अनुजीविनः । **स्वतः**—आत्मना । **अपि, हितं**—पथ्यं । **प्रवदन्ति**—कथयन्ति, अन्यथा स्वामिभक्तिप्रमोषो भवेदितिभावः । **पुनः स्वामिनः**—भर्त्तुः । **निदेशतः**—आज्ञातः । **कथयन्ति**—इति । **किं वाच्यम्**—स्वामिनिदेशतस्तु हितं कथयन्त्येवेति भावः ॥१०५॥

अथ सचिवोक्तं प्रपञ्चयति—कुमारसारेति—

कुमारसारावहितोऽस्मदीयं, वाक्यं समाकर्णय तावदेतत् ।
कनीयसा स्वेन सहोदरेण युद्ध्वा समं, केन तताऽत्र कीर्तिः ॥१०६॥

व्याख्या—**कुमारसार !**—कुमारश्रेष्ठः ! **अवहितः**—अप्रमत्तः सन्, प्रमादे तु वचोगुणग्रहणासंभव इति भावः । **तावत् अस्मदीयम्**—अस्माकम् । **एतद्**—वक्ष्यमाणं । **वाक्यं**—वचनं । **समाकर्णय**—शृणु । किं तव वचनमिति चेत्तत्राह । **कनीयसा**—कनिष्ठेन । **स्वेन**—निजेन । **सहोदरेण**—सहजभ्रात्रा । **समं**—सह । **युद्ध्वा**—विगृह्य । **केन**—जनेन । **अत्र**—संसारे । **कीर्तिः**—यशः । **तता**—विस्तारिता ? न केनाऽपीत्यर्थः । अतस्तव तेन सह युद्धेऽकीर्तिरेव, सा चानुचितेति भावः ॥१०६॥

यदर्थं युयुत्ससे सा प्राह्यापि नेत्याह—सतामिति—

सतां तु वेश्यास्पृहयालुतायाः कथाऽप्यहो नैव विधातुमिष्टा ।
लाभं समाशङ्क्य तदीयमारा-द्युयुत्ससे त्वं किमनेन धीर ! ॥१०७॥

व्याख्या—सतां—सत्पुरुषाणां । तुः—अवधौ । वेश्यास्पृहयालुतायाः—वेश्यायां वाराङ्गनायां या स्पृहयालुता कामना तस्याः । कथा—चर्चा । अपि, विधातुं—कर्तुं । नैव इष्टा—युक्ता, तथा सति सत्त्वव्याघातादिति भावः । अहो—इति आश्चर्ये ! धीर !—धीमन् ! तदीयं—वेश्यासम्बन्धि । लाभम् आरात्—समीपम् "आराद् दूरसमीपयोः" इत्यमरः । समाशङ्क्य—वितर्क्य, इयं मम स्याद्वा नेत्येवम् सन्दिह्य । त्वमनेन—स्वकनिष्ठेन । किं युयुत्ससे—योद्धुम् इच्छसि, नैतदुचितमिति भावः । यस्याः कथाऽप्यनुचिता तदर्थं युद्धं तु नितान्तमनुचितम्, तदपि स्वभ्रात्रेति किं वक्तव्यम् इति भावः ॥१०७॥

अथापत्त्यन्तरमाह—'कनीयस' इति—

कनीयसो यत्र मनः प्रसक्तं, सा ते वधूस्तद्दयिताग्रजत्वात् ।
सुता वधूश्चापि समे प्रपन्ने, विभो ! कुलाचारविचारविद्भिः ॥१०८॥

व्याख्या—कनीयसः—कनिष्ठस्य भ्रातुः । यत्र—स्त्रियां । मनः, प्रसक्तं—लग्नं । सा—स्त्री । ते—तव । वधूः—स्नुषैव । "जाया सूनोः स्नुषा जनी वधूः" इति हैमः । कुत इत्याह । तद्दयिताग्रजत्वात्—तस्याः स्त्रियः दयितः पतिः, स्वकनिष्ठभ्राता, तदग्रजत्वात् हेतोः । "ज्येष्ठो भ्राता पितुः सम" इत्युक्तेरिति भावः । विभो !—प्रभो ! कुलाचारविचारविद्भिः—कुलस्य सद्वंशस्याचारः व्यवहारस्तस्य विचारमौचित्यानौचित्यविवेकं विदन्तीति तैः कुलाचारमर्मज्ञैः । सुता—स्वकन्या । वधूः—स्नुषा । चापि समे—तुल्ये । प्रपन्ने—स्वीकृते । एवञ्च सुतायामिव तस्यां तवानुरागो नितान्तमनुचित इति भावः ॥१०८॥

साऽपि त्वामेवं सति परिहसेदित्याह—उपागमदिति—

उपागमत्त्वां परिणेतुमेषा, बलस्य पुत्री स्वजनेन सार्द्धम् ।
भ्रात्रैव युद्धोद्यमवेक्ष्य सा त्वां, लज्जिष्यते किं न चमूरुचक्षुः ॥१०९॥

व्याख्या—एषा—वर्त्तमाना । बलस्य—तदाख्यस्य राज्ञः । पुत्री—कन्यका । स्वजनेन—निजपरिजनेन । सार्द्धम्—सह । त्वां—परिणेतुं स्वयंवरीतुम् । उपागमत्—आगता । सा—आगता । चमूरुर्मृगः तस्य

चक्षुषी इव चक्षुषी यस्याः सा । **चमूरुचक्षुः**—मृगाक्षी । **भ्रात्रा**—सहोदरेणैव । **युद्धोग्रं**—युद्धे उग्रमुत्कटम् महायुद्धमित्यर्थः । **अवेक्ष्य**—दृष्ट्वा । **त्वां न लज्जिष्यते किम्**—अपि त्ववश्यं लज्जिष्यते, स्वभ्रात्रा युद्धस्य नितान्तमनुचितत्वादिति भावः ॥१०९॥

अथ सचिवोक्तमुपसंहरति—तत्त्वमिति—

तत्त्वं निवर्त्तस्व गुरोर्निदेशं, मन्यस्व संमानय नः स्ववाचा ।
भृत्या हि नान्यं प्रतिवाक्यदानात्, स्वामिप्रसादं परमामनन्ति ॥११०॥

व्याख्या—**तत्**—तस्मात्, पूर्वोक्ताद्धेतोः । **त्वं, निवर्त्तस्व**—विरम, युद्धादिति शेषः । **गुरोः निदेशम्**—आज्ञां । **मन्यस्व**—स्वीकुरु, तथा । **नः**—अस्मान्, सचिवान् । **स्ववाचा**—निजोक्त्या स्वीकारात्मिकया । **संमानय**—सत्कारय । ननु वाण्यैव किं सत्कार्यः, न पुनर्द्रव्यादिना । तत्राह—**हि**—यतः । **भृत्याः**—अनुजीविनः । **प्रतिवाक्यदानात्**—प्रतिवाक्यमुत्तरं तस्य दानादर्पणाद् । **अन्यं**—भिन्नं । **परम्**—उत्कृष्टं । **स्वामिप्रसादं**—स्वामिनः प्रसादं प्रसन्नतां । **न आमनन्ति**—मन्यन्ते । उत्तरदानमेव मयि प्रसाद इति भावः ॥११०॥

अथ कुमारस्य तत्प्रत्युत्तरमाह—श्रुत्वेति—

श्रुत्वा तदीयं वचनं कुमारः, प्रत्युत्तरं सस्मितमाह स स्म ।
युद्धाद्धि वीरव्रतदीक्षितानां, कीर्तिश्रियः सप्रसरं चरन्ति ॥१११॥

व्याख्या—**स**—मन्त्रिप्रार्थितः । **कुमारः**—इन्दुषेणः । **तदीयं**—सचिवानां । **वचनं**—वाक्यं । **श्रुत्वा**—आकर्ण्य । **सस्मितं**—ईषद्धसितसहितम्, एतेन मन्त्युक्ते निःसारता सूचिता । **प्रत्युत्तरं**—प्रतिवचनं । **आह स्म**—कथितवान्, किन्तदित्याह । **वीरव्रतदीक्षितानाम्**—वीरस्य शूरस्य व्रतं कर्त्तव्यं तत्र दीक्षितानां गृहीतदीक्षाणां, जनानां । **युद्धाद् हि**—एव । **कीर्तिश्रियः**—कीर्त्तयः यशांसि च श्रियः सम्पत्तयश्च । **सप्रसरं**—सविशेषं यथा स्यात्तथा । **चरन्ति**—प्रसरन्ति, अतः युद्धात् मम निवारणं कीर्तिश्रीभ्य एव निवारणमित्यतस्तत्त्व न युक्तमिति भावः ॥१११॥

यद्यपि उक्तं सा वैश्येति, तदपि न विचार्योक्तमित्याह—अशिक्षीति—

अशिक्षि यस्याः किल कामविद्या, भवद्भिरुत्क्रान्तशिशुत्वयोगैः ।
विगीयते सा यदि वारनारी, पूज्यस्तदाध्यापक एव किं वः ? ॥११२॥

व्याख्या—उत्क्रान्तशिशुत्वयोगैः—उत्क्रान्तः व्यतीतः शिशुत्वस्य बालस्य योगः सम्बन्धः यैस्तैस्तादृशैः तरुणैः। भवद्भिः, यस्याः—यत्सकाशात्। कामविद्या—कामकला। अशिक्षि—अधिगता। किले—ति निश्चये। सा—नारी। यदि वारनारी—वेश्या 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः। विगीयते—निन्द्यते। तदा—एवं सति। वः—युष्माकम्। अध्यापकः—शिक्षकः। पूज्यः—सम्मान्यः। एव किम्—न पूज्य इत्यर्थः। अध्यापकः खलु नापशब्दप्रयोगमर्हति। तथा कुर्वता तु भवता तस्य पूज्यत्वमपाकृतम्, इति अकृतज्ञो भवानित्यर्थः ॥११२॥

न योद्धव्यमित्यप्ययुक्तमित्याह—युद्धमिति—

युद्धं विधेयं न कनीयसाऽमे-त्येतन्न सम्यग्गदितं भवद्भिः ।
वयोव्यपेक्षाप्रसरेण धीरा, गौणं कनीयस्त्वमुदाहरन्ति ॥११३॥

व्याख्या—कनीयसा—कनिष्ठेन। अमा—सह, "अमा सह समीपयोः", इत्यमरः। युद्धं न विधेयम्—कर्त्तव्यं इत्येतद्भवद्भिः न—नैव। सम्यक्—समीचीनं। गदितम्—उक्तम्, कुत इत्याह। धीराः—विद्वांसः वयोव्यपेक्षाप्रसरेण—वयसः अवस्थायाः व्यपेक्षा अपेक्षणं तस्य प्रसरेण प्रसङ्गेन, वयः अपेक्ष्येत्यर्थः। कनीयस्त्वं—कनिष्ठत्वं। गौणम्—अप्रधानम्। उदाहरन्ति—कथयन्ति। नहि कनीयस्त्वे वयोमात्रमपेक्षितम् किन्तु बलैश्वर्याद्यपीति भावः ॥११३॥

कथं तर्हि मुख्यं कनीयस्त्वमित्यपेक्षायामाह—बलमिति—

बलं व्यपेक्ष्यैव विशेषविद्भि-र्न्यगादि तच्चेत्किमु संशयो न !
न निर्णयः सङ्गरमन्तरेण, प्रमाणनीयः प्रतिपद्वताऽपि ॥११४॥

व्याख्या—विशेषविद्भिः—विशेषं विदन्तीति विशेषविदस्तैः विद्वद्भिः। बलं—शक्तिम्। व्यपेक्ष्यैव—शक्तितारतम्यकृतमेव। तत्—कनीयस्त्वं। न्यगादि—उदाहारि। चेत्—तर्हि। संशयः—संदेहः। किमु न ?—अपि त्ववश्यमनयोरयं बलवान्नवेति संशयः। ननु संशयः निर्णयेन प्रतीकार्यं इत्यत्राह। प्रतिपद्वताऽपि—प्रतिपद् बुद्धिः "प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः", इत्यमरः। तद्वताऽपि। सङ्गरमन्तरेण—युद्धं विना। निर्णयः—अयमेव बलवान् इत्येवं निश्चयः। न—नैव। प्रमाणनीयः—प्रमाणीकर्त्तव्यः, नहि कथनमात्रेणायं बलवानिति निश्चयो युक्तः, किन्तु परीक्ष्यैव वयोबाहुल्यस्याकिञ्चित्करत्वात, तस्मात्तेन सह मया योद्धव्यमेवेति भावः ॥११४॥

यदप्युक्तमियं ते वधूरिति तदप्यविचारिताभिधानमित्याह—उपायताद्यापीति—

उपायताद्यापि न तां नताङ्गी-मयं च सा तं च न सातलिप्सुः ।
विनैव सम्बन्धमियं वधूस्ते, युष्माभिरुक्तं किमिदं प्रशस्तम् ॥११५॥

व्याख्या—अद्यापि—एतत्क्षणं यावत् । तां नताङ्गीम्—कृशोदरीम् । अयं—मम कनीयान् विन्दुषेणः । न उपायत—पर्यणैषीत् । सातलिप्सुः—सातस्य सुखस्य लिप्सुः सा सुखैषिणी, एतेन तत्सम्पर्के अस्याः दुःखमिति सूच्यते । "शर्मसातसुखानि च" इत्यमरः । सा, तं—विन्दुषेणं । च न—उपायतेति सम्बद्ध्यते । एवञ्च । सम्बन्धं—वैवाहिकविधिं । विनैव युष्माभिः—भवद्भिः । इयं ते वधूः—इति यदुक्तम् । इदं—वचनं । प्रशस्तम्—उचितं । किम् ?—सम्बन्धं विना तादृश्युक्तिः अत्यन्तमनुचितेत्यर्थः । नहि सम्बधं विना काऽपि कस्यापि वधूरिति भावः ॥११५॥

यदप्युक्तं सा लज्जिष्यत इति तदपि न युक्तमित्याह—स्वयंवरार्थमिति—

स्वयंवरार्थं स्वयमागता सा, दृष्ट्वा रणं नौ भविता प्रहृष्टा ।
न क्षत्रियाणां वणिजामिवाजिं, विहाय कर्मापरमस्ति किञ्चित् ॥११६॥

व्याख्या—स्वयंवरार्थं—स्वयंवरणाय । स्वयम्—आत्मनैव । आगता—उपस्थिता । सा नौ—आवयोः । रणं—युद्धं । दृष्ट्वा प्रहृष्टा—प्रसन्ना । भविता—योग्यायोग्यपरीक्षणस्य सुकरत्वादिति भावः, प्रत्युत नायं स्वकर्म-भीरुरिति तस्याः गाढ़ानुराग एव भवेदित्यर्थः, तदेवाह । वणिजां—व्यवहर्तृणां । कर्म—व्यवहारम् । इव, क्षत्रियाणां—राज्ञाम् "राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयो"रिति कोशः । आजिं—युधं "समित्याजिसमि-युधः" इत्यमरः । विहाय—मुक्त्वा । अपरं—द्वितीयं । किञ्चित्—कर्त्तव्यं । न अस्ति ॥११६॥

प्रत्युत युद्धान्निवृत्तावेव लज्जेत्याह—तत इति—

ततो निवर्ते यदि सम्परायाद्-दहं परामृश्य कथञ्चनापि ।
आरब्धभङ्गप्रवणप्रतिज्ञा-लज्जा समालिङ्गति किं न युष्मान् ॥११७॥

व्याख्या—ततः—तस्मात् कारणात् । यदि, सम्परायात्—युद्धात् "युद्धायत्योः सम्परायः" इत्यमरः । कथञ्चनापि—केनापि प्रकारेण, लाघवगौरवत्यागेनापि इत्यर्थः । परामृश्य—गुरुनिदेशादिविचार्य । अहम्—निवर्ते—पराङ्मुखो भवामि, तदा । आरब्धभङ्गप्रवणप्रतिज्ञालज्जा—पूर्वम् आरब्धा कृता तदनन्तरमेव

भङ्गप्रवणा विना शपरायणा एतादृशी या प्रतिज्ञा मदीया तस्या लज्जा त्रपा। युष्मान्–भवतः। न समालिङ्गति किम् ?–भवतो न स्यात्किम् ? अपि त्ववश्यं स्यात्। स्वामिप्रतिज्ञाभङ्गे तद्भृत्या अपि लज्जन्ते इति भावः ॥११७॥

तत्रानाप्तफलानां सचिवानां बिन्दुषेणसमीपगमनमाह—दुराग्रह मिति—

दुराग्रहं तस्य विबुध्य चित्तं, ततः समुत्थाय च धीसखास्ते।
श्रीबिन्दुषेणं समुपेत्य नत्वा, नृपोदितं विज्ञपयाम्बभूवुः ॥११८॥

व्याख्या—तस्य–इन्दुषेणस्य। चित्ते–हृदये, पूर्वोक्तेन हेतुना। दुराग्रहं–कदभिनिवेशं। विबुध्य–ज्ञात्वा। ते धीसखाः–मन्त्रिणः। ततः–इन्दुषेणपार्श्वतः। समुत्थाय च श्रीबिन्दुषेणं समुपेत्य–गत्वा प्राप्य। नत्वा–प्रणम्य। नृपोदितं–श्रीषेणोपदिष्टम्। विज्ञपयाम्बभूवुः–निवेदयामासुः ॥११८॥

इदानीं सचिवकृतोपदेशं प्रपञ्चयति—उभाविति—

उभौ भवन्तौ मिलितौ चकास्तः, प्रध्वस्तमात्सर्यभरौ कुमार !
स्वरूपनिर्भर्त्सित–विश्वरूपौ, दस्राविव क्षोणितलावतीर्णौ ॥११९॥

व्याख्या—कुमार ! प्रध्वस्तमात्सर्यभरौ–प्रध्वन्तः दूरीकृतः मात्सर्यस्य परोत्कर्षाऽसहिष्णुत्वस्य भरोऽतिशयः याभ्यां तौ तादृशौ सस्नेहौ सन्तौ। उभौ–द्वौ अपि। भवन्तौ मिलितौ–सङ्गतौ। स्वरूप–निर्भर्त्सितविश्वरूपौ–स्वरूपेण स्वाकृत्या निर्भर्त्सितं विश्वस्य सर्वस्य रूपं सौन्दर्यं याभ्यां तौ असाधारण-सौन्दर्यशालिनौ। क्षोणितलावतीर्णौ–क्षोणितले महीतले अवतीर्णौ समुत्पन्नौ। दस्रौ–आश्विनेयाविव "नास-त्यावश्विनौ दस्रावाश्विनेयौ च तावुभौ" इत्यमरः। चकास्तः–शोभेते, अमिलितौ विरुद्धौ च न तथा शोभेयातामिति भावः ॥११९॥

न केवलं शोभाहानिरेव युद्धात्किन्तु द्विषत्परिहासोऽपीत्याह—द्वयोर्विरोधमिति–

द्वयोर्विरोधं भवतोर्निशम्य, स्मयोन्मुखानि द्विषतां मुखानि।
कथं भविष्यन्ति न यद्द्विषां स्या–न्मुद्विप्रलापैर्न च विप्रलापैः ॥१२०॥

व्याख्या—**भवतोः**—युवयोः । **द्वयोः, विरोधम्**—अप्रीतिं वैरमित्यर्थः,"वैरं विरोधो विद्वेष", इत्यमरः। **निशम्य**—आकर्ण्य । **द्विषतां**—त्वच्छत्रूणां । **मुखानि**-आस्यानि "वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम् इत्यमरः । **स्मयोन्मुखानि**—चित्तोन्नतिपरायणानि "मानश्चित्तोन्नतिः स्मयः" इति हैमः । **कथं न भविष्यन्ति ?**—अपि त्ववश्यं भविष्यन्ति, द्विषदपकर्षस्य द्विषद्धर्षप्रयोजकत्वादिति भावः । **यत्**—यस्मात् । **द्विषां**—विरुद्धराज्ञां शत्रूणां । **विप्रलापैः**—स्वविरुद्धोक्तिभिः "विप्रलापो विरुद्धोक्तिः" इति हैमः । श्रुताभिरिति शेषः । **मुद्**—हर्षः । **स्यात्**—सा मुद् । **विप्रलापैः**—द्विजाशीर्वचनैर्न च स्यादित्यर्थः । यद्वा या मुद् हर्षः, "मुद्प्रीतिः प्रमदो हर्षः" इत्यमरः । विप्राणां द्विजानां लापैराशीर्वचनैः स्यात् सा द्विषां शत्रूणां विप्रलापैः स्वेष्वेव परस्परविरोधोक्तिभिः न च ? अपि त्ववश्यं स्यादिति भावः ॥१२०

राज्यस्य हेतोरेव युद्धमुचितम्, न तु स्त्रीकृते इति श्लोकद्वयेनाह—बलस्येति—

बलस्य सामर्थ्यमपारयन्तः, सोढुं मदं चेतसि धारयन्तः ।
राज्यस्य हेतोर्बहवोऽपि युद्धं, कुर्वन्ति सौजन्यममानयन्तः ॥१२१॥

व्याख्या—**बलस्य**—सैन्यस्य स्वौजसश्च । **सामर्थ्यम्**—पराक्रमम् । **सोढुं**—मर्षितुम् । **अपारयन्तः**—अशक्नुवन्तः अत एव । **चेतसि**—चित्ते । **मदम्**—अभिमानं, न मत्तोऽन्यो बलवान् इत्येवं दर्पं । **धारयन्तः**—आश्रयन्तः । **सौजन्यं**—प्रीतिभावं शान्तवृत्तित्वम् । **अमानयन्तः**—अस्वीकुर्वन्तः, एतेन बलादौ सत्यपि प्रीतिभाव एव श्रेष्ठो मार्ग इति सूचितम् । **बहवः**—अन्येऽप्यनेके राजानः । **राज्यस्य**—साम्राज्यस्य । **हेतोः कृते युद्धं कुर्वन्ति**—एवञ्च राज्यार्थं युद्धं व्यावहारिकमिति भावः ॥१२१॥

स्त्रियाः कृते सोदरयोर्विरोधं, नाश्रौष्म कुत्रापि न दृष्टवन्तः ।
वाराङ्गना या चलहार्दपात्रं, तस्याः कृते किं करणीयमेवम् ॥१२२॥

व्याख्या—**स्त्रियाः**—नार्याः । **कृते**—हेतोः । **सोदरयोः**—सहजयोर्भ्रात्रोः । **विरोधम्**—युद्धम् । **न अश्रौष्म**—न श्रुतवन्तः । **नच कुत्रापि दृष्टवन्तः**—यदि सत्याः स्त्रियाः कृते तथा संभाव्यतेऽपि तथापि नेयं तथेत्याह । **या वाराङ्गना**—वेश्या । **चलहार्दपात्रं**—चलं चञ्चलं यद् हार्दं प्रेम "प्रेमा ना प्रियता हार्दमि",—त्यमरः । तस्य पात्रं भाजनम्, वेश्यायाः न स्थिरानुरागः, कापि, वित्तमात्रसाकाङ्क्षत्वात्तदनुरागस्येति भावः । **तस्याः कृते एवं**—सोदरयोर्युद्धं । **करणीयम्**—विधेयम् । **किम् ?**—अपि तु नैव । एकस्तु सोदरयोर्विरोध एवानुचितः, तत्रापि वेश्याकृते तु नितरामनुचितः इति भावः ॥१२२॥

एवं स्थिते यद् युक्तं ते प्रतिभाति तद् कुरुष्वेत्याह—ज्यायानिति —

ज्यायान्मदोन्मादविसंस्थुलत्वात्, स तेऽस्मदुक्तं यदि नो शृणोति ।
उपेक्ष्य तं सन्निधिमागतास्ते, कुरुष्व युक्तं प्रतिभाति यत्ते ॥१२३॥

व्याख्या—मदोन्मादविसंस्थुलत्वात्—मदेन चित्तोद्रेकेण मिथ्याभिमानेन य उन्मादः अप्रेक्ष्यकारित्वं तेन विसंस्थुलत्वात् ग्रस्तत्वात् । स—युयुत्सुः । ते—तव । ज्यायान्—ज्येष्ठः भ्राता । अस्मदुक्तं—वचनं । यदि—यतः । नो शृणोति—अतः । तं—तव ज्यायांसम् । उपेक्ष्य—विहाय । ते—तव । सन्निधिं—समीपम् । आगताः—प्राप्ताः, अधुना । ते—तव । यद् युक्तम्—उचितम् । प्रतिभाति तत् कुरुष्व—नात्रास्माकं कापि हानिर्लाभो वा, किन्तु तव हितं त्वयैव विचारणीयमलं ममोपदेशेनेति भावः ॥१२३॥

ननु भवन्तः सचिवाः, अतः भवतां स्वाभिप्रायप्रदर्शनमुचितमेवेत्यतः स्वाभिप्रायमाह—निवर्त्तमानमिति—

निवर्त्तमानं समरक्रियायाः, स्तोष्यन्ति सर्वेऽपि भवन्तमेकम् ।
विचारमारभ्य विनिर्मिमीते, यः कर्म केनाऽपि न निन्द्यते सः ॥१२४॥

व्याख्या—समरक्रियायाः—युद्धोद्योगात् । निवर्त्तमानं—विमुखीभवन्तं । भवन्तं—त्वामेव एकं केवलं 'केवलः कृत्स्न एकः स्यात्केवलश्चावधारणे" इत्यमरः । सर्वेऽपि—जनाः । स्तोष्यन्ति—वर्णयिष्यन्ति, ननु युद्धाद्विमुखं निन्दिष्यन्त्येव कुतो नेति चेत्तत्राह । यः—जनः । विचारमारभ्य—विचार्य । कर्म—क्रियां । विनिर्मिमीते—करोति । सः—जनः । केनाऽपि—जनेन । न निन्द्यते—आक्षिप्यते । अविचार्यकारी हि निन्दापात्रम्, न तु विचार्यकारीति भावः ।

राज्ञोऽप्येतेन भवतोः कर्मणा दुःखमिति कथयति—अतादृशमिति—

अतादृशं वां रणकर्म शृण्वन्, भूमीशिता विन्दति नैव शर्म ।
यतश्चिरात्लालितयोः स्वसून्वोः, प्रीत्यैव संस्तः पितरौ प्रहृष्टौ ॥१२५

व्याख्या—वां—युवयोः । अतादृशम्—अयोग्यं । रणकर्म युद्धं शृण्वन्—आकर्णयन् । भूमीशिता—नृपोऽपि । शर्म—सुखं । न विन्दति—न लभते, कुत इत्याह । यतः चिरात्—प्रचुरकालात् । लालितयोः—स्नेहेन पालितयोः । स्वसून्वोः—निजपुत्रयोः "आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः" इत्यमरः । प्रीत्या—

परस्परं प्रेम्णा। एव पितरौ—मातापितरौ। प्रहृष्टौ—मुदितौ। संस्तः—सम्भवतः, नत्वप्रीत्या। एवञ्च युद्धत्यागे नृपः प्रहृष्यादित्यपि लाभस्ते तस्माद्युद्धं न कर्त्तव्यमिति ॥१२५॥

ननु कन्यालाभः कथमिति चेत्तत्राह-नरेन्द्रेति—

नरेन्द्रकन्याः शतशो भवन्तं, स्वयंवरीतुं रभसाद्गभीरम्।
समागमिष्यन्ति यथा समुद्रं, नद्यो रसोल्लासविलासमध्याः ॥१२६॥

व्याख्या—गभीरं—विचारकारित्वात् धीरम्। भवन्तं—त्वां। शतशः नरेन्द्रकन्याः—राजपुत्र्यः। रभसात्—वेगात् प्रबलाकर्षणात्। स्वयम्—आत्मनैव, न तु प्रार्थनादिना इति भावः। वरीतुं—स्वीकर्त्तुं। समागमिष्यन्ति, रसोल्लासविलासमध्याः—रसस्य प्रीतेः उल्लासोऽतिरेकः तस्य विलासः मध्ये हृदये यस्याः तादृश्यः। अथ च रसो जलम् तस्योल्लासः वृद्धिस्तस्य विलासः मध्येऽन्तः यस्याः तादृश्यः। नद्यः—आपगाः, गभीरं निम्नं "निम्नं गभीरं" इति हैमः। समुद्रम्—उदधिं। यथा—समागच्छन्ति तथेत्यर्थः ॥१२६॥

अथ सचिवोक्तमुपसंहरति-संग्राममिति—

संग्राममग्राम्यकविस्तवार्ह !, प्रोज्झ्य प्रकामं सुषमां लभस्व।
त्वयाऽमृतेनेव पिता रसेशो, न कालकूटेन स तेन पुत्री ॥१२७॥

व्याख्या—अग्राम्यश्चासौ कविश्च स तथा, निपुणः कविः तस्य स्तवं स्तुतिमर्हतीति स्तवार्हः, तत्संबोधने। अग्राम्यकविस्तवार्ह !—सुकविवर्णनीय ! संग्रामं—युद्धं। प्रोज्झ्य—त्यक्त्वा। प्रकामम्—अत्यधिकम्। सुषमां—परमां शोभां। लभस्व, त्वया—भवता। अमृतेन—सुधया। रसेशः—रसो जलं तस्येशः पतिः समुद्रः। इव—रसा पृथ्वी तस्याः ईशः महीमतिः। पिता—जनकः श्रीषेणः। पुत्री—पुत्रवान्। कालकूटेन—हलाहलेन विषविशेषेण, रसेश इव पिता तेनेन्दुषेणेन स पुत्रवान् न। यथा अमृतेन समुद्रः पुत्री, न कालकूटेन तथा त्वया राजा पुत्री न तेनेत्यर्थः। उपमाऽलङ्कारः ॥१२७॥

अथ बिन्दुषेणस्य प्रत्युत्तरमाह-अमात्येति —

अमात्यवाणीरवधार्य तास्ताः, स बिन्दुषेणः स्फुटमाललाप।
उक्तं भवद्भिर्यदिदं समस्तं, प्रशस्तमेवाञ्चति योग्यभावम् ॥१२८॥

व्याख्या—नास्ताः—अनेकप्रकाराः, पूर्वोक्ताः। अमात्यवाणीः—अमात्यानां, सचिवानां वाणीः उक्तिः। अवधार्य—श्रुत्वा। सः—प्रार्थ्यमानः। बिन्दुषेणः, स्फुटं—स्पष्टम्। आललाप—उवाच, किमित्याह। भवद्भिः—सचिवैः। यदुक्तमिदं समस्तम्—अखिलम्। एव प्रशस्तं—प्रशंसार्हम्, अत एव। योग्यभावम्—योग्यतामौचित्यम्। अञ्चति—गच्छति ॥१२८॥

यदुक्तं मा युद्धस्वेति तत्राह—केनाऽपीति—

केनाऽपि सार्द्धं न विरोधमाधा-माजन्मसीमं भवतामपीदम्।
प्रतीतमत्युद्धतशक्तिभाजा, भ्रात्राऽधुनाऽमाऽयमुपस्थितो मे ॥१२९॥

व्याख्या—आजन्मसीमम्—आजन्मनः सीमा अवधिस्तस्मात् जन्मनः आरभ्याद्यावधि। केनाऽपि—जनेन सार्द्धम्, विरोधं—विद्वेषं। न आधाम्—अकार्षम्। भवतां—सचिवानाम्। अपि इदं—विरोधाकरणं। प्रतीतं—ज्ञातमेव। अधुना—साम्प्रतम्। अत्युद्धतशक्तिभाजा—अत्युद्धतामत्युत्कटां शक्तिं बलं भजतीति स तेन, अत्युग्रशक्तिकेन। भ्रात्रा—ज्येष्ठेन सहोदरेण। अमा—सह। मे—मम। अयं—विरोधः। समुपस्थितः—जातः, अस्तीति शेषः। सर्वथाऽविरोधकारिणो मम भ्रात्रैव सह स असाधारणकारणेनैव जातः, नान्यथेति भावः ॥१२९॥

यदुक्तं स्त्रीमात्रं कारणं तन्नेत्याह—स्त्रीमात्रमिति—

स्त्रीमात्रमित्यत्र निमित्तमात्रं, जानीत यूयं परमार्थतस्तु।
दोर्दण्डकण्डूमपनेतुमिच्छु-र्युद्ध्वा मयैवायमुदग्रधामा ॥१३०॥

व्याख्या—स्त्रीमात्रं-कारणमिति-यदुक्तं। तदत्र, निमित्तमात्रमित्येवं। यूयं जानीत—न तु वस्तुतस्तन्निमित्तम्, तर्हि किं निमित्तमित्याह। परमार्थतस्तु-वस्तुतः पुनः। अयं—सोदरः, उदग्रम् उत्कटं-धाम प्रभावः यस्य स उदग्रधामा, मया—सहैव। युद्ध्वा दोर्दण्डकण्डूं—दोषोर्बाह्वोः दण्डौ काण्डौ तयोः कण्डूं खर्जूम्। "कण्डूः खर्जूः" इतिहैमः। अपनेतुं—दूरीकर्त्तुम्। इच्छुः—अभिलाषुकः, तादृशस्य प्रतिभटस्यान्यस्याऽभावादिति किमपि निमित्तमासाद्य तथाकर्त्तुं प्रवृतः इति भावः ॥१३०॥

अन्येन नास्य कण्डूशमनमित्याह—परः सहस्रेति—

परःसहस्रा भुवि सन्ति शूरा, विजित्य तानेष न शर्मणास्ते ।
ततो गतिं यास्यति संवरारे-र्विजेतुकामस्य हिमांशुमौलिम् ॥१३१॥

व्याख्या—भुवि—पृथिव्यां । परःसहस्राः—सहस्रात्परे इति परः सहस्राः सहस्राधिकाः । शूराः—वीराः । सन्ति, तानेव—शूरान् । विजित्य—पराजित्य, एष मम भ्राता । शर्मणा—सुखेन । न आस्ते—अत्युद्धतशक्तिकत्वादेवेति भावः । ननु तर्हि त्वयैव सह युद्ध्वा किं स सुखमवाप्स्यतीति चेत्तत्राह । ततः—तस्माद्धेतोः, हिमांशुमौलिं—हिमांशुश्चन्द्रः 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र' इत्यमरः, मौलौ मस्तके यस्य तं तादृशं महादेवं । विजेतुकामस्य—वशीकर्तुमनसः । संवरारेः—कामस्य "कामः पञ्चशरः स्मरः, संवरारिर्मनसिजः" इत्यमरः । गतिं यास्यति—प्राप्स्यति, मया हनिष्यतेऽयमित्यर्थः । अत्र शिवं जिगीषुः कामः शिवेन दग्ध इति पौराणिकी कथा अनुसन्धेया ॥१३१॥

यदप्युक्तं वाराङ्गना चलहार्दपात्रं, तदपि न सम्यक् वैपरीत्यस्यापि दर्शनादित्याह—एकान्तत इति—

एकान्ततो नैव पणाङ्गनाया, विभंगुरं प्रेम निरीक्ष्यते वा ।
कुलाङ्गनाया इव रञ्जयन्त्याः, स्वकामुकं मोहनमञ्जुभङ्ग्या ॥१३२॥

व्याख्या—वा—किञ्च । स्वकामुकं—स्वस्य कामुकं कामयितारं प्रियं । मोहनमञ्जुभङ्ग्या—मोहने, मञ्जुः चतुरा या भङ्गी विलासः तया, कटाक्षविक्षेपादिभावेन । रञ्जयन्त्याः—हृदयमावर्जयन्त्याः । पणाङ्गनाया—वारनार्या अपि । कुलाङ्गनायाः—कुलवध्वाः । इव, प्रेम—प्रीतिः । एकान्ततः—निश्चयेन । विभङ्गुरं—विनश्वरं । न निरीक्ष्यते—अवलोक्यते, पणाङ्गनाप्रेम भङ्गुरमेवेति न किन्तु स्थिरमपि । तदुक्तं साहित्यदर्पणे 'क्वचित्सत्यानुरागिणी' इति । एवञ्च न तदपि युद्धत्यागे हेतुरिति भावः ॥१३२॥

यदपि द्विषत्परिहास उक्तः, तदप्यनवसर इत्याह—प्रतिश्रुतमिति—

प्रतिश्रुतं स्वं यदि न त्यजावः, कथञ्चिदावां विदिताभिमानौ ।
तदा कथङ्कारमकारणः सन्, हास्योदयः स्याद् द्विषतां मुखेषु ॥१३३॥

व्याख्या—विदिताभिमानौ—विदितः ज्ञातः अभिमानः अहम्भावः ययोस्तौ तादृशौ, एतच्च प्रतिश्रुताऽत्यागे हेतुः । आवां—द्वौ । कथञ्चित्—केनाऽपि प्रकारेण । स्वं—निजं । प्रतिश्रुतं—प्रतिज्ञातं । न त्यजावः तदा कथङ्कारं—कुतः । द्विषतां—शत्रूणां । मुखेषु—आस्येषु । अकारणः—अनिमित्तः सन्, हास्योदयः—

स्मितोद्गमः । स्यात्—हास्योद्गमे हि मम प्रतिज्ञाहानिः, तस्याश्चाऽभावाद्धास्यनिमित्तमेव न वर्त्तते इति कुतो हास्योदय इत्यर्थः । प्रत्युत प्रतिज्ञात्याग एव हास्योदयनिमित्तमित्यतोऽपि न युद्धत्याग उचित भावः ॥१३३॥

यदप्युक्तं राज्यस्य हेतोर्युद्धं तदपि नैकान्तेनेत्याह-राज्यं नेति—

राज्यं न सप्ताङ्गमिदं विधत्ते, शर्माणि पुंसां गुणलालसानाम् ।
नवाङ्गसौन्दर्यविधानभूता, वधूर्यथा मन्मथरङ्गशाला ॥१३४॥

व्याख्या—गुणलालसानां—गुणेषु लालसाः लम्पटाः तेषाम्, 'लम्पटो लालसोऽपि च' इत्यमरः । गुणजिघृक्षूणां । पुसां—जनानाम् । इदं—त्वदुक्तं । सप्ताङ्गम्, राज्यम्—तथा शर्माणि—सुखानि । न विधत्ते—करोति । यथा नवाङ्गसौन्दर्यविधानभूता—नवेषु तारुण्येन प्रत्यग्रेषु अङ्गेष्ववयवेषु यत्सौन्दर्यस्य विधानं व्यवस्थानं तद्भूता सौन्दर्याग्रथभूमिः अत एव । मन्मथरङ्गशाला—मन्मथस्य कामस्य रङ्गशाला क्रीडाभूमिः । वधूः—भार्या-शर्माणि विधत्ते । एवञ्च राज्यादपि शर्मविधायकतया वध्वर्थमवश्यं योद्धव्यमिति भावः ॥१३४॥

निवर्त्तमानं स्तोष्यन्ति यदुक्तं तदपि न समीचीनमित्याह-प्रतिश्रवमिति—

प्रतिश्रवं यो विजहाति यो वा, रणक्रियायाः विनिवर्त्तते तु ।
अप्रेक्षणीयानन एव पुंसां, कथं श्रुतेर्गोचर एव स स्यात् ॥१३५॥

व्याख्या—यः—जनः । प्रतिश्रवं—प्रतिज्ञां "संप्रत्याङ्भ्यः परः श्रवः प्रतिज्ञा" इति हैमः । विजहाति—त्यजति । यो वा—तु, अथवा यस्तु । रणक्रियायाः—युद्धाद् । विनिवर्त्तते—परामुङ्खो भवति । अप्रेक्षणीयमनवलोकनीयमाननं मुखं यस्य सः अप्रेक्षणीयाननः—लज्जयेति भावः, मिथ्यावाक्त्वस्य कातर्यस्य चाऽऽसङ्गात् । एवेति निश्चये । सः—जनः । पुंसां—सत्पुरुषाणाम् । श्रुतेः—श्रवणस्य । गोचरः—विषयः । एव कथं स्यात् ?—नैव स्यात्, नह्यसत्यवादिनं कातरं वा सत्पुरुषाः शृण्वन्त्यपीति भावः । अत्राप्रेक्षणीयाननत्वेन हेतुना श्रुतेरगोचरत्वस्य साधनादनुमानाऽलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा अनुमानं विच्छित्याज्ञानं साध्यस्य साधनादिति ॥१३५॥

यच्चाप्युक्तं भूमीशिता शर्म नैव विन्दतीति तदपि न समञ्जसम् इत्याह—वीर्योचितमिति—

वीर्योचितं युद्धविधिं प्रकुर्वन्, वप्तुर्न साताय कथं सुपुत्रः ?
न यत्र संयत्पटुताऽस्ति तस्मिन्न-क्षत्रियाः क्षत्रियतां वदन्ति ॥१३६॥

व्याख्या—वीर्योचितं—वीर्यं पराक्रमः तस्य उचितं योग्यम्। युद्धविधिं—रणक्रियां। प्रकुर्वन्—शक्तेनैव युद्धं कर्त्तव्यमिति भावः, अत एव। सुपुत्रः—सत्तनयः, सत्यपि बले अयुद्धयमानस्तु न सुपुत्रः, कातर्यानुषङ्गादिति भावः। वप्तुः—पितुः। साताय—सुखाय। कथं न?—अपि तु अवश्यं सातायेत्यर्थः, पुत्रस्य युद्धनैपुण्यं पितुर्हर्षवर्द्धकमेवेति भावः। विपक्षे बाधकमाह। यत्र—यस्मिन्। संयत्पटुता—संयति युद्धे "संयत्संमत्याजि" इत्यमरः। पटुता नैपुण्यं। नास्ति तस्मिन् क्षत्रियाः—राजानः। क्षत्रियतां—क्षत्रियभावं। न वदन्ति—क्षत्रियस्य भावो हि रणपाटवम्, क्षत्रियाणां रणस्यानुवंशकत्वादिति रणं त्यजन् क्षत्रियः स्ववंशकृत्यमेव त्यजतीति स पितुः साताय न प्रभवतीति भावः ॥१३६॥

यदप्युक्तं नरेन्द्रकन्याः शतश इत्यादि तदप्यविचारिताभिधानमित्याह—जन्यप्रवृत्तेरिति —

जन्यप्रवृत्तेर्विनिवर्त्तमानं, राजन्यकन्याः कथमेव धन्याः।
कातर्यचर्यापरिशोच्यवृत्तिं, विवोढुमुत्साहमपि प्रकुर्युः ॥१३७॥

व्याख्या—धन्याः—प्रशस्याः। राजन्यकन्याः—राजन्यानां क्षत्रियाणां कन्याः पुत्र्यः। जन्यप्रवृत्तेः—जन्यस्य युद्धस्य प्रवृत्तेरुद्योगात्। विनिवर्त्तमानं—पराङ्मुखीभवन्तम्, अत एव। कातर्यचर्यापरिशोच्यवृत्तिं—कातर्यस्य भीरुत्वस्य या चर्या आचारः तेन परिशोच्या निन्दनीया वृत्तिः प्रवृत्तिर्यस्य तं कातरम्। विवोढुं वरीतुम्। उत्साहम्—प्रबलमनोभावं। अपि, कथं कुर्युः—नाहं क्षत्रियकन्याः कातरं परिणयन्ति किन्तु वीरमिति भावः। एवञ्च युद्धत्यागेऽनर्थपरम्परेति ॥१३७॥

यदपि त्वया अमृतेनेव पितेति तदपि न घटते इत्याह—आयोधनमिति —

आयोधनं योधशताकुलं यो, विधूय तिष्ठेदपि निर्विशङ्कः।
न पुत्रिता तेन पितुः स किन्तु, ह्रिये भवेत् प्रत्युत पूर्वजानाम् ॥१३८॥

व्याख्या—योधशताकुलं—योधानां भटानां शतानि तैः आकुलं पूर्णम्। आयोधनं—युद्धम्, 'युद्धमायोधनं जन्यमि'त्यमरः। विधूय—विहाय। यः—जनः। निर्विशङ्कः—निरुद्वेगः सन्। तिष्ठेदपि, तेन—युद्धविमुखेन। पितुः—जनकस्य। पुत्रिता—पुत्रवत्ता। न, किन्तु—प्रत्युत। सः—पुत्रः। पूर्वजानां—पित्रादीनां। ह्रिये—लज्जायै। भवेत्—तव पुत्रः युद्धात् कातर्येण विमुख इति कुलकलङ्कादिति भावः ॥१३८॥

सम्प्रति व्याजोक्त्या सचिवान् स्तौति—भूपेति—

भूपप्रतिच्छायतयैव युष्मा-नमात्यमुख्याः ? कलयामि किं न ?
सहस्रभानास्तु सहस्रभानोः, को वा मयूखान् मनुते विभिन्नान् ॥१३९॥

व्याख्या—अमात्यमुख्याः ?—सचिवश्रेष्ठाः ? युष्मान्—भवतः। भूपप्रतिच्छायतयैव—भूपस्य राज्ञः प्रतिच्छायतया प्रतिविम्बतया तुल्यतया एव। किं न कलयामि—मन्ये, अपितु तथैव मन्ये इत्यर्थः। यद्वा भूप एव युद्धान्निरोधकोऽविवेकी इति तत्प्रतिच्छायतया भवन्तोऽपि तथा इति व्याजस्तुतिः, तत्र दृष्टान्तमाह। तु—यतः। कः वा—जनः। सहस्रभानोः—सूर्याद्। सहस्रभानोः—सूर्यस्य। मयूखान्—किरणान्, 'किरणोऽस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः" इत्यमरः। विभिन्नान्—विलक्षणान्। मनुते—न कोऽपीत्यर्थः ॥१३९॥

अथ स्वोक्तमुपसंहरति—तस्मादिति—

तस्मान्नरेन्द्राय मम प्रमाणं, प्रापय्य विज्ञापयतः स्वरूपम् ।
वाचस्पतिप्रातिभशोभिताङ्गान्, भवादृशः शिक्षयितुं प्रभुः कः ? ॥१४०॥

व्याख्या—तस्मात्—पूर्वोक्तात्, युद्धाऽनिवृत्तिहेतोः। नरेन्द्राय—राज्ञे। मम प्रणामं प्रापय्य—कथयित्वा, समर्प्य वा। स्वरूपम्—अत्रत्यस्थितिं। विज्ञापयत—निवेदयत, ननु किं स्वरूपमिति भवानुपदिशतु तत्राह। वाचस्पतिप्रातिभशोभिताङ्गान्—वाचस्पतेः गीष्पतेः प्रातिभेन विज्ञानशक्त्या शोभितं समन्वितमङ्गमुपचारादात्मा येषां तान् तादृशान्। भवादृशः—युष्मान्। शिक्षयितुम्—उपदेष्टुं। कः प्रभुः—समर्थः, न, कोऽपीत्यर्थः। प्रश्नोत्तराभ्यां स्वयमेवानुमाय स्वरूपं निवेदयन्तिवति भावः ॥१४०॥

अथ भूमिभर्त्रेऽमात्यैर्यत्कथितं तदा—तस्य श्रुत्वेति—

तस्य श्रुत्वा वचनमवनीवासवस्याङ्गजन्म्य,
क्रोधावेश——प्रखरदहनो — द्भूतधूमप्रकारम् ।
गत्वा सर्वं व्यतिकरमिमं तं यथावृत्तमेते-
ऽमात्या गत्या(मत्या कलितमखिलं भूमिभर्त्रे शशंसुः ॥१४१॥

व्याख्या—तस्य—कनिष्ठस्य। अवनीवासवस्य—महीन्द्रस्य। अङ्गजस्य—पुत्रस्य। क्रोधावेशप्रखरदहनोद्भूतधूमप्रकारम्—क्रोधस्यावेशः आवेगस्स एव प्रखरः उत्कटो दहनो वह्निस्तेनोद्भूत उत्थितो यो धूमः स प्रकारः यस्य तत् क्रोधाग्निजधूमतुल्यम् कटुवचनं श्रुत्वा—आकर्ण्य। गत्वा—राज्ञः समीपं

आगम्य। एते अमात्या मत्या–गत्येति पाठस्य ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति हेतोर्बुद्ध्येत्यर्थः। कलितम्–अवधारितम्। इमं–बिन्दुषेणसम्बन्धि। सर्वं व्यतिकरं–वृत्तान्तम्। तम्–इन्दुषेणसम्बन्धि च। यथावृत्तं–यथाजातम्, यथातथमित्यर्थः। एतेन कापि पक्षपाताभावः सूचितः। अखिलं–सर्वं। भूमिभर्त्रे–राज्ञे। शशंसुः–कथयामासुः ॥१४१॥

तच्छ्रुत्वा राज्ञः प्रवृत्तिमाह—दुर्वारमिति—

दुर्वारं रणसङ्करं स्वसुतयोर्विज्ञाय विज्ञाग्रणीः,
सञ्चिन्त्य प्रतिभावताऽपि विषयानेकान्ततो दुर्जयान्।
किञ्चित् श्रीजिनराजसंमतमताभिज्ञः प्रियाभ्यां समं,
पर्यालोच्य विषाधिवासितमयं जघ्नौ पयोजं नृपः ॥१४२॥

व्याख्या—स्वसुतयोः–निजपुत्रयोः। रणसङ्करं–युद्धक्रियां। दुर्वारम्–अवश्यम्भावि। विज्ञाय–ज्ञात्वा। प्रतिभावताऽपि–बुद्धिमताऽपि। एकान्ततः–निश्चयेन। दुर्जयान्–जेतुमशक्यान्। विषयान्–भोगान्। सञ्चिन्त्य–विचार्य। एतेन वैराग्योत्पत्तिः सूचिता। प्रियाभ्यां–स्वभार्याभ्यां। समं–सह। किञ्चित्–अग्रे कर्त्तव्यं रहस्यं। पर्यालोच्य–विचार्य। श्रीजिनराजसम्मतमताभिज्ञः–श्रीजिनराजस्य वीतरागस्य संमतमिष्टं यन्मतं सिद्धान्तः तस्याभिज्ञः ज्ञाता अत एव। विज्ञाग्रणीः–विज्ञेषु सुधीसु अग्रणीः नायकः प्राज्ञतमः। अयं–श्रीषेणः। नृपः–राजा। विषाधिवासितं पयोजं–विषेण गरलेन अधिवासितं सम्पृक्तं कमलं। जघ्नौ–घातवान्, मरणार्थमिति भावः ॥१४२॥

अथ तदनन्तरं राज्ञ्योः प्रवृत्तिमाह—दृष्ट्वा भूमिपतेरिति—

दृष्ट्वा भूमिपतेर्वपुर्विरहितं हंसेन संविद्वता,
ते राज्ञ्यौ प्रियशोकमग्नमनसौ पद्मं समाघ्राय तत्।
व्यापन्ने, जलमन्तरेण नलिनी स्थैर्यं किमालम्बते, ?
ज्योत्स्ना चन्द्रमसा विना स्थितिरियं सीमन्तिनीनामिति ॥१४३॥

व्याख्या—भूमिपतेः–राज्ञः। वपुः–शरीरम्। संविद्वता–सचेतनेन। हंसेन–आत्मना। विरहितं–मुक्तं। दृष्ट्वा–अवलोक्य। प्रियशोकमग्नमनसौ–प्रियस्य पत्युः सम्बन्धिनि शोके दुःखे मग्नं विलीनं मनः ययोस्ते द्वे। राज्ञ्यौ, तत्–नृपाघ्रातं। पद्मं–कमलं। समाघ्राय व्यापन्ने–मृते। ननु राज्ञि मृते किमिति ते

अपि मृते, तत्राह । जलमन्तरेण—जलं विना । नलिनी—कमलिनी । चन्द्रमसा—चन्द्रेण । विना ज्योत्स्ना—"चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना" इत्यमरः । स्थैर्यं—स्थितिम् । आलम्बते किम् ?—नैवाश्रयतीत्यर्थः । इतीयम्—इत्थमेव । सीमन्तिनीनां—सौभाग्यवतीनां स्त्रीणां । स्थितिः—व्यवहारः, ते अपि पत्युर्विना न तिष्ठतः इति भावः ॥१४३॥

अथ सत्यभामाप्रवृत्तिमाह—देवीभ्यामिति—

देवीभ्यां सहितं हितं नरपतिं मत्वा विपन्नं ततो,
वीक्षापन्नतमाऽपि सत्यकिसुता सा कामविद्वेषिणी ।
को वा सम्प्रति रक्षिता कपिलतः कोपेन दुर्वाससः,
छायां संस्पृशतोऽनुरागवशतो मां नेष्यमाणां हठात् ॥१४४॥

सञ्चिन्त्य स्वहृदेति तद्गुणगणश्रुत्या प्रसक्तीभव,—
च्चेतोवृत्ति-भरेण भानुतनयेनेवोपनीतं मुदा ।
तद्धात्सल्यमतुल्यमेव सहसा संदर्शयन्ती नृराड्
राज्ञीप्रेमवशंवदैव कमलं तज्जिघ्रतिस्म स्वयम् ॥१४५॥

व्याख्या—ततः—तदनन्तरं ! देवीभ्यां—राज्ञीभ्यां । सहितं—सह । हितं—हितकर्त्तारं । नरपतिं—राजानं । विपन्नं मत्वा—ज्ञात्वा, एतेन तस्याः असहायावस्था सूचिता । विषयवैराग्यमपि कथयति । काम—विद्वेषिणी—निष्कामा, अत एव । वीक्षापन्नतमा—विज्ञतमाऽपि । सा सत्यकिसुता—सत्यभामा । कोपेन—क्रोधेन । दुर्वाससः—तदाख्यमुनेः । छायां—मूर्तिं । संस्पृशतः—धारयतः, दुर्वासस इव अतिक्रोधमूर्तेरिति भावः । यद्वा दुर्वाससः दुर्वसनाद् नग्नदर्शनादिगम्बरत्वादिति भावः । एतेनाकुलीनत्वानुसन्धानेन तद्विषयको निर्वेदो ध्वन्यते । अनुरागवशतः—प्रेम्णः, छायां प्रतिबिम्बम् "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः", इत्यमरः । संस्पृशतः अनुसरतः ग्रहीतुं प्रयतमानादित्यर्थः । कपिलतः—कपिलसकाशात् । कोपेन—तत्त्यागानादरजन्यक्रोधेन । हठात्—बलान्नेष्यमाणां—गृह्यमाणां । मां संप्रति—अधुना राज्ञि मृते । को वा रक्षिता—न कोऽपि रक्षितेत्यर्थ ॥१४४॥ इति—इत्थं । स्वहृदा—स्वमनसा । सञ्चिन्त्य—विचार्य । तद्गुणगणश्रुत्या—तस्य राज्ञः गुणगणस्य जिनधर्मदृढ़श्रद्धालुताशरणागतरक्षितृत्वादिगुणसमूहस्य श्रुत्या स्मरणेन । प्रसक्तीभव—च्चेतोवृत्तिभरेण—प्रसक्तीभवन्ती, अनुरज्यन्ती या चेतोवृत्तिः मनोभावः । तस्याः भरेणातिशयेन । अतुल्यम्—अनुपमम् । तद्वात्सल्यम्—नृपस्नेहमेव, सहसा—अकस्मात् । सदर्शयन्ती—प्रकटयन्ती । नृराड् राज्ञीप्रेम—

वंशवदैव—नृराट् राजा राज्ञौ च तासां प्रेम्णः वशंवदा अधीना एव। भानुतनयेनेव—भानुः सूर्यः तत्तनयेन शनैश्चरेणेव मारकत्वादिति भावः। स्वयम्—अयत्नत एव। उपनीतम्—प्राप्तम्। तत्कमलं—राज्ञा आघ्रातं पद्मं। जिघ्रतिस्म—तद्वात्सल्येन तदनुमरणं कृतवतीति भावः ॥१४४॥१४५॥

अथ तेषां प्रेत्य जन्मक्षेत्रं वर्णयति—चत्वार इति —

चत्वारश्चतुराः समस्थिषत ते प्रेम्णाऽविभिन्नाशया,
जम्बूदीप – गतोत्तरोत्तरकुरुक्षेत्रे त्रिपल्यायुषः।
गव्यूतत्रितयोच्छ्रया युगलिनः संजज्ञिरेऽनेकधा,
कल्पद्रु – व्रजपूर्यमाणहृदया – काङ्क्षाप्रशस्तोदयाः ॥१४६॥

व्याख्या—ते—मृताः। चतुराः—बुद्धिमन्तः। चत्वारः—नृपराज्ञीद्वयसत्यभामाः। प्रेम्णा—स्नेहेन। अविभिन्नाशयाः—अविभिन्नः तुल्यः आशयः अभिप्रायो येषां ते तादृशाः। समस्थिषत—मृता इत्यर्थः। परासुप्राप्तपञ्चत्वपरेतप्रेतसंस्थिता एते मृतस्य वाचका" इत्यमरः। जम्बूद्वीपगतोत्तरोत्तरकुरुक्षेत्रे—अस्मिन् जम्बूद्वीपे गतं स्थितम् उत्तरं श्रेष्ठं यदुत्तरकुरुक्षेत्रं तस्मिन्, त्रिपल्योपमानि आयुंषि येषां ते त्रिपल्यायुषः—गव्यूतं क्रोशं "गव्युतं क्रोश." इति हैमः, तस्य त्रितयम् क्रोशत्रयम् तावान् उच्छ्रयः उच्चैस्त्वं येषां ते गव्यूतत्रितयोच्छ्रयाः—तथा। युगलिनः—उत्पत्तौ युगलं द्वयं येषां ते युगलिनः, युगलत्वेन जाताः इत्यर्थः। अनेकधाकल्पद्रुव्रजपूर्यमाणहृदयाकाङ्क्षाप्रशस्तोदयाः—अनेकधा, नानाप्रकारेण कल्पद्रुव्रजेन दशधा कल्पवृक्षेण पूर्यमाणाः हृदयस्याकाङ्क्षा अभिलाषास्ताभिः प्रशस्ता उदयाः अभ्युन्नतयः येषां ते तादृशाश्च सन्तः। सज्जिरे—उत्पन्नाः ॥१४६॥

तत्र तस्य केन लिङ्गेनोत्पत्तिरित्याह—तत्र श्रीषेणेति—

तत्र श्रीषेणराजः समजनि पुरुषो ज्यायसी चास्य जाया,
सा जाया या कनिष्ठा स्म भवति पुरुषः सा वधूश्चास्य भामा।
प्राप्यैवं द्वन्द्वभावं विगलितविरहं निष्कषायप्रचारं,
व्याधूतव्याधिबाधं धनभवनमहाचिन्तया विप्रमुक्तम् ॥१४७॥
भुक्त्वा भोगानपत्यावनविरचनया पूरयित्वा स्वमायु-
र्देवत्वं प्राप्य सर्वे प्रथमदिवपदे तेऽपि देवाङ्गनाभिः।

नित्यं संसेव्यमानाः कृतसुकृतपरीपाकसाध्यानुरूपम् ।
कल्याणोदर्कमेते फलमतुलमलं स्वादयामासुरुच्चैः ॥१४८॥

व्याख्या—तत्र—तेषां मध्ये श्रीषेणश्चासौ राजा च सः श्रीषेणराजः । पुरुषः—पुमान् । समजनि—जातवान् । अस्य च—श्रीषेणनृपस्य । ज्यायसी—ज्येष्ठा । जाया—सा । जाया—भार्या । समजनि । या कनिष्ठा—कनीयसी जाया सा इत्यत्रानुषज्यते । पुरुषः भवति स्म, अस्य च—पुंसः । सा वधूः—भार्या । भामा—सत्यभामा भवति स्म । एवम्—उक्तप्रकारेण । विगलितविरहं—विगलितः विनष्टः विरहः पार्थक्यं यस्मिन् स तादृशः, तम्, सदा साहचर्यभावम् । निष्कषायप्रचारम्—निष्कषायः कषायरहितः प्रचारः स्वस्वविषयेषु तत्तदिन्द्रियाणां प्रवृत्तिर्यस्मिन् सः तथा तम् । व्याधूतव्याधिबाधं—व्याधूता विनष्टा व्याधिः रोग—स्तज्जन्या बाधा पीडा 'पीड़ा बाधा व्यथा दुःखमि'त्यमरः । यस्मिन् स तथा, तम् । धनभवनमहाचिन्तया—धनं भवनं गृहञ्च तयोर्या महाचिन्ता तया । विप्रमुक्तम्—विरहितं । द्वन्द्वभावम्—युगलित्वं, प्राप्य ॥१४७॥ भोगान् भुक्त्वा—अनुभूय । अपत्यावनविरचनया—अपत्यस्य युग्मरूपस्यावनं रक्षणं तस्य विरचनया शास्त्रोक्तमर्यादया क्रमपरिपाट्या । स्वं—निजम् । आयुः पूरयित्वा—समाप्य । ते सर्वेऽपि—श्रीषेणादयः । प्रथमदिवपदे—आद्यदेवलोके, सौधर्मकल्पे । देवत्वं—देवभवं । प्राप्य, देवाङ्गनाभिः—सुरस्त्रीभिः । नित्यं संसेव्यमानाः—उपास्यमानाः । एते—श्रीषेणादयः । कृतसुकृतपरीपाकसाध्यानुरूपं—कृतं यत्सुकृतं पुण्यं तस्य परीपाकेन विपाकेन फलाभिमुख्यसम्पत्त्या साध्यस्य अनुरूपं योग्यम् । कल्याणोदर्कं—कल्याणं सुखम् उदर्के उत्तरकाले यस्मिन् तत्तथाविधम् । अतुलम्—अनुपमं । फलमुच्चैः—औन्नत्येन । अलम्—पर्याप्तं । स्वादयामासुः—अनुबभूवुः ॥१४७॥१४८॥ "आसीत् श्रीगुरुगच्छमौलिमुकुटः" इत्यादिश्लोकस्य व्याख्या पूर्ववदेव बोध्या ॥१४९॥

卐

पौर्वापर्ययुते सुपद्यनिचये, गूढाशयोल्लासिते,
साङ्गत्येन मिथोऽन्वयानुगमनेऽनेकान्तमार्गाश्रिता ।
व्याख्या दर्शनसूरिणा विरचिता सर्गे द्वितीये गता,
पूर्तिं शान्तिचरित्रचर्वणपरा विज्ञप्रमोदप्रदा ॥२॥

卐

॥ समाप्तोऽयं सव्याख्यो द्वितीयः सर्गः ॥

❀ अथ तृतीयः सर्गः ❀

यो रागादिविपक्षपक्षदलनाज्ज्ञानप्रकर्षङ्गतो,
देवेन्द्रादिभिरर्चनीयचरणोऽबाध्यागमैकान्तभूः ।
नत्वा तं जिनमाप्तमस्य चरिते व्याख्यां तृतीये स्फुटां,
सर्गे संतनुते निसर्गमधुरे विद्याधनो दर्शनः ॥१॥

卐

तत्र प्रारम्भे स्वेष्टदेवतां स्तौति—उत्तप्तेति—

उत्तप्तकाञ्चनविकस्वरचम्पकस्रक् – सङ्काशकायरुचिरोचितदिग्विभागः ।
वृन्दारकै रचितपूजन एष देवः ! श्रीशान्तिरस्तु भवतां शिवतातिरेव ॥१॥

व्याख्या—उत्तप्तकाञ्चनविकस्वरचम्पकस्रक्सङ्काशकायरुचिरोचितदिग्विभागः—उत्तप्तमग्नौ अतितापितं शुद्धं यत्काञ्चनं स्वर्णं यो विकस्वरः प्रफुल्लः चम्पकः चाम्पेयः "चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः" इत्यमरः, तस्य स्रक् माला तयोः सङ्काशा तुल्या या कायस्य शरीरस्य रुचिः कान्तिः तया रोचितः प्रकाशितः दिशां विभागः पूर्वादिरूपः येन स तादृशः वरकनकचम्पकसमशरीरकान्तिः, तथा । वृन्दारकैः—देवैः "गीर्वाणा दानवारयः वृन्दारका दैवतानि" इत्यमरः । रचितपूजनः—रचितम् विहितं पूजनं यस्य सं तादृशः, सुरपूजितः । एष—प्रस्तुतग्रन्थनायकः । श्रीशान्तिः—तदाख्यस्तीर्थङ्करः । देवः भवताम्—अध्येत्रध्यापकानां । शिवतातिः—शिवङ्करः, अस्त्वेव । "शिवतातिः शिवङ्करः" इति हैमः ॥१॥

अथेन्दुषेणबिन्दुषेणयोः किमभूदित्यस्याकाङ्क्षिततया तद्वृत्तान्तमाह—श्रीषेणभूपतनयाविति—

श्रीषेणभूपतनयावनयाऽनुरक्ता-वुद्यानमीयतुरथो सुमहारथौ तौ ।
द्वेधाऽपि देवरमणं गुणतोऽभिधान-वृत्तेश्च शाखिततिरुद्धनभोविभागम् ॥२॥

व्याख्या—अथो—इति प्रारम्भे, सचिवगमनानन्तरञ्च । सुमहारथौ—शस्त्रविद्यायां प्रशस्तवीरौ, किन्तु । अनयानुरक्तौ—अनयेऽनौचित्येऽनुरक्तौ तत्परौ, यद्वा पूर्वोक्तया अनया अनङ्गमत्या अनङ्गमत्यामित्यर्थः, "प्रसितोत्सुकाऽवबद्धैः" ।२।२।४९। इति सूत्रेणाधारे तृतीयाविवक्षणात्, अनुरक्तौ अवबद्धौ। तौ—पूर्वोक्तौ ।

श्रीषेणभूपतनयौ—राज्ञः श्रीषेणस्य पुत्राविन्दुषेणबिन्दुषेणौ। गुणतः—देवरमणयोग्यपुष्पतरुलतादियुक्तत्वाद्, अभिधानवृत्तेश्च—नामतश्च। द्वेधाऽपि—प्रकारद्वयेनाऽपि। देवस्य रमणमित्यर्थकं, देवरमणं—नाम। शाखितरुद्धनभोविभागम्—शाखिनां वृक्षाणां तत्या श्रेण्या रुद्धः आवृतः नभोविभागः आकाशप्रदेशो येन तत् तादृशं। एतेन वृक्षाणामत्युच्चैस्त्वमुक्तम्। उद्यानम्—उपवनम्। ईयतुः—प्रापतुः ॥२॥

सम्प्रत्युद्यानमेव न वर्णयति—क्वाऽप्यर्जुनेनेति—

क्वाऽप्यर्जुनेन विलसद्रुचिपार्थिवेन, यत्पाण्डुभूपरिवृढस्य कुलानुकारि।
स्फूर्जत्प्रियालपनसारमहाप्रमाणं, विद्वन्निशान्तमिव कुत्रचनाऽपि यच्च ॥३॥

व्याख्या—यद्—उद्यानम्। क्वापि—कुत्रापि प्रदेशे। विलसद्रुचिपार्थिवेन—विलसन्ती शोभमाना रुचिः कान्तिर्यस्य स विलसद्रुचिः, विलसद्रुचिः पार्थिवः पृथिवीविकारः पृथिवीभागरूपो यस्य तादृशेन। अर्जुनेन—तदाख्यवृक्षेण, अथ च विलसद्रुचिपार्थिवेनाऽर्जुनेन—तन्नामकपाण्डुपुत्रेण। पाण्डुभूपरिवृढस्य—पाण्डुवर्णा या भूस्तत्र परिवृढस्य परिपुष्टस्य वृक्षविशिष्टस्य। अथ च पाण्डुनामा भूपरिवृढः पृथिवीपतिः, तस्य। कुलानुकारि—कुलस्यानुकारि, तथाचोद्यानमिदं क्वापि प्रदेशविशेषे पाण्डुराजकुलमनुकरोति पाण्डुभूपरिवृढत्वात् पार्थिवार्जुनविशिष्टत्वाच्चेति भावः। तथा यच्च कुत्रचनापि विद्वन्निशान्तमिव—विदुषां पण्डितानां निशान्तम् गृहम् तदिव। स्फूर्जत्प्रियालपनसारमहाप्रमाणं—स्फूर्जन्तः प्रियालानां राजादनाख्यवृक्षाणां पनसानां तदाख्यवृक्षाणाञ्च अराः शाखाः महाप्रमाणाः अत्यायताः यस्मिन् तत्तथा। अथ च स्फूर्जत् शोभमानं यत्प्रियालपनम् मधुरभाषणम्, यद्वा स्त्रीभाषणम् उपक्षणतया पुरुषभाषणञ्च तेन सारं श्रेष्ठं महाप्रमाणञ्चातिविशालञ्च। तदुद्यानमीयतुरिति पूर्वेण सम्बन्धः। अत्रार्जुनेत्यादिश्लेषानुप्राणितोपमाऽलङ्कारः ॥३॥

अथ तदनन्तरवृत्तान्तमाह—यावच्छराशरीति—

यावच्छराशरि भुजाभुजि चात्र युद्धं, तौ चक्रतुः किमपि चक्रधरप्रभावौ।
आगच्छदेकमवलोकयतः स्म तावद्, व्योम्नो विमानमसमद्युतिदीपिताभ्रम् ॥४॥

व्याख्या—अत्र—उद्याने। चक्रधरप्रभावौ—चक्रधरः विष्णुः स इव प्रभावः प्रतापः ययोस्तौ। तौ—द्वौ राजपुत्रौ। यावद्—यदवधि। शरैः शरैश्च मिथः प्रहृत्य प्रवृत्तं युद्धं शराशरि, च—तथा। भुजयोः भुजयोश्च मिथः गृहीत्वा प्रवृत्तं युद्धं भुजाभुजि, किमपि—विलक्षणं। युद्धम् चक्रतुः, तावत्—तदवधि। व्योम्नः—आकाशात्। असमद्युतिदीपिताभ्रम्—असमयाऽनुपमया द्युत्या कान्त्या दीपितं प्रकाशितमभ्रमाकाशं

येन तत्तादृशम्। विमानं–व्योमयानं 'व्योमयानं विमानोऽस्त्री'त्यमरः। आगच्छद्–अवातरत्। अवलोकयतः स्म–पश्यतः स्म, तौ राजपुत्रौ ॥४॥

अथ विमानमेव विशिनष्टि—विद्योतमानेति—

विद्योतमानमणिसञ्चयसन्निबद्ध–सोपानराजिरमणीयमवेक्षणीयम् ।
उद्दण्डहेममयदण्डलसत्पताकं, शब्दायमानमधुरध्वनिकिङ्किणीकम् ॥५॥

व्याख्या—विद्योतमानमणिसञ्चयसन्निबद्धसोपानराजिरमणीयं–विद्योतमानो यो मणिसञ्चयः मणिराशिः तेन सन्निबद्धा निर्मिता या सोपानानामारोहणानां राजिः श्रेणिः 'आरोहणं स्यात् सोपानमि'त्यमरः, तया रमणीयम् मनोहरम्, अत एव। अवेक्षणीयम्–दर्शनीयम्, तथा। उद्दण्डहेममयदण्डलसत्पताकम् उद्दण्डाः–उन्नता ये हेममयाः स्वर्णमयाः दण्डाः तत्र लसन्त्यः शोभमानाः पताकाः वैजयन्त्यः, यस्मिन् तत्तादृशम्, 'पताका वैजयन्ती केतनमि'त्यमरः तथा। शब्दायमानमधुरध्वनिकिङ्किणीकं–शब्दायमानाः मधुरः श्रुतिमनोहरः ध्वनिर्यासां तास्तादृश्यः किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिकाः यस्मिन् तत्तादृशम्, विमानमवलोकयतः स्मेति पूर्वेणान्वयः ॥५॥

अथ तदनन्तरं वृत्तमाह—भो भोः! इति —

भो भोः! कुमारतिलकौ! समरं विहाय, वाक्यं मदीयमवधारयतां भवन्तौ ।
इत्युद्धतस्वरमुवाच विमानवर्त्ती, विद्याधरः समभिसृत्य रयेण चैकः ॥६॥

व्याख्या—विमानवर्ती–विमानस्थः। एकः विद्याधरः रयेण–वेगेन। समभिसृत्य–समागत्य। चेति–अवलोकनसमभिसरणयोरेककालत्वसूचनार्थः। भो भोः! कुमारतिलकौ!–कुमारश्रेष्ठौ! भवन्तौ–युवाम् द्वौ अपि। समरं–युद्धं। विहाय–त्यक्त्वा। मदीयं–मदुक्तं। वाक्यं–वचनम्। अवधारयतां–शृणुतामित्थम्। उद्धतस्वरम्–उच्चस्वरं यथा स्यात्तथा। उवाच–जगाद ॥६॥

अथ विद्याधरोक्तिं प्रपञ्चयति—आस्वादितमिति—

आस्वादितं हरति जीवितमाशु काल–कूटं स्वतन्त्रमयुतं मणिमन्त्रतन्त्रैः ।
ज्वालाकलापजटिलज्वलनोऽपि देहं, स्पृष्टः परं दहति हव्यनिपातवृद्धः ॥७॥

व्याख्या—**मणिमन्त्रतन्त्रैः**—मणिश्च मन्त्रश्च तन्त्रश्च तैः। **अयुतम्**—न युतमयुतमसंसक्तं, अप्रतिबद्धं, मण्यादीनां विषप्रभावप्रतिबन्धकत्वात् तद्रहितम्, अत एव। **स्वतन्त्रं**—शक्तिमत्। **कालकूटं**—विषम्। **आस्वादितं**—भक्षितं। **जीवितम् आशु हरति**—झटिति नाशयति, तद्धि जीवितमात्रनाशकमिति भावः। तथा **हव्यनिपातवृद्धः**—हव्यस्य देवेभ्यो दातव्यस्यान्नस्य निपातेन प्रक्षेपेण वृद्धः उपचितः "हव्यं सुरेभ्यो दातव्यम्" इतिहैमः अत एव। **ज्वालाकलापजटिलज्वलनोऽपि**—ज्वालानां शिखानां कलापः समूहः 'कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहताव' इत्यमरकोषः। तेन जटिलः गहनः ज्वलनः अग्निरपि। **स्पृष्टः, देहं**—शरीरं। **परं**—केवलं। **दहति**—भस्मीकरोति ॥७॥

अथ विशेषान्तरमाह—**कोपप्रवर्तीति**—

कोपप्रवर्तिसमवर्तिकृपाणिकाभाः, सर्पा दशन्ति सुतरां विहितापराधम्।
सेव्याः कथं नु विषयास्तु विवेकभाजां, यस्मादिमे तदतिरिक्तविकारकाराः ॥८॥

व्याख्या—**कोपप्रवर्तिसमवर्तिकृपाणिकाभाः**—कोपेन क्रोधेन प्रवर्त्ती प्रवृत्तिमान् यः समवर्त्ती यमः "धर्मराजः, पितृपतिः समवर्त्ती," इत्यमरः, तस्य कृपाणिका छुरीः "क्षुरी छुरी कृपाणिका" इति हैमः तद्वदाभान्तीति ते तादृशाः यमकृपाणाकाराः इत्यर्थः। **सर्पाः**—भुजङ्गाः। **सुतरां**—नितरां। **विहितापराधं**—विहितः कृतः अपराधः पादेन स्पर्शादिः येन स तं तादृशं। **दशन्ति तु**—पुनः। **विषयाः**—भोगाः। **विवेकभाजां**—ज्ञानिनां। **कथं नु**—केन प्रकारेण। **सेव्याः यस्माद्**—हेतोः। **इमे**—विषयाः। **तदतिरिक्तविकारकाराः**—तेभ्यः विषादिभ्यः अतिरिक्तः अधिकतरः यः विकारः भवभ्रमणादि तं कुर्वंतीति तादृशाः। यदि हि जीवितायैकैकनाशकत्वाद्विषादयोऽसेव्याः तदा तदधिकविकारकारित्वात् सुतरां विषयाः न सेवनीया विवेकिनामित्यर्थः ॥८॥

विषयत्यागे कारणान्तरमप्याह—**आपातेति**—

आपातमात्रमधुरा परिणामवृत्त्या, वैरस्य कारणमनन्तरमाश्रयन्तः।
किंपाकपाकिमफलानुकृतं दधाना, हेया कथं न विषया विदुषामिमे स्युः ॥९॥

व्याख्या—**आपातमात्रमधुराः**—आपातमात्रेण सद्यः सम्पर्कमात्रेण मधुराः सुखकराः, न तु चिरम्, तथा **परिणामवृत्त्या**—फलपरिपाकदृष्ट्या। **वैरस्य**—विद्वेषस्य। **अनन्तरम्**—अव्यवहितं साक्षादित्यर्थः। **कारणं**—भावप्रधाननिर्देशात् कारणत्वम्। **आश्रयन्तः**—दधानाः, यद्वा अनन्तरं वैरस्य वैषम्यस्य कारणं

कारणत्वं दधाना, परिणामे विषमाः, अत एव । किम्पाकपाकिमफलानुकृतं—किम्पाकः विषवृक्षविशेषस्तस्य यत् पाकिमं स्वयं पक्वं फलं तस्यानुकृतं सादृश्यं । दधानाः—तदपि हि भक्षणमात्रे मधुरम्, परिणामे तु प्राणनाशकमेवेति विषमफलोत्पादकम्, तद्वत् । इमे—अनुभुज्यमानाः विषयाः, विदुषां—ज्ञानिनां । कथं—केन प्रकारेण । न हेयाः—त्याज्याः । स्युः—अपि त्ववश्यं त्याज्या इत्यर्थः ॥९॥

अथ पूर्वोक्तरीत्या कृतां भूमिकामुपसंहरति—त्याज्येति—

त्याज्या विशिष्य च भवन्ति भवादृशानां, विज्ञानशास्त्रपरमार्थविशारदानाम् ।
यस्याः कृतेऽसमरसः समरस्य सौम्या—वातायते भवति सा भवतोस्तु जामिः॥१०

व्याख्या—विज्ञानशास्त्रपरमार्थविशारदानां—विज्ञानस्य विशिष्टज्ञानस्य शास्त्रस्यागमादेश्च परमार्थस्य तत्त्वार्थस्य विशारदानां कोविदानां । भवादृशानां—युष्मादृशानां च । विशिष्य—विशेषेण । त्याज्याः—हेयाः । भवन्ति—विषया इति प्रकरणाल्लभ्यते, यतः भवन्तः ज्ञानिनः इति भावः । तत्रापि विशेषमाह । सौम्यौ !—भद्रौ ! कुमारौ !! यस्याः—नार्याः । कृते समरस्य—संग्रामस्य । असमरसः—असाधारण आग्रहः । आतायते—विस्तार्यते, यदर्थं युद्ध्यते इति भावः । सा तु—कन्या । भवतोः—द्वयोः कुमारयोः । जामिः—भगिनी भवति, 'जामिस्तु भगिनी स्वसा" इति हैमः । एवञ्च तया सम्बन्ध एवायोग्यः, ततश्च तदर्थं युद्धं जलताडनवद् व्यर्थमिति भावः ॥१०॥

अथ सा जामिः कथमिति कुमारः जिज्ञासते—जामिं कथमिति—

जामिं कथं कथितवानसि नाविमां त्वं, विद्याधरान्वयनभस्तलतिग्मभानो !
युष्मादृशः किमविमृश्य निवेदकत्वं, सम्भाव्यते कथमपि प्रतिबद्धतापि ॥११॥

व्याख्या—विद्याधरान्वयनभस्तलतिग्मभानो !—विद्याधराणामन्वयः कुलमेव नभस्तलमाकाशः तत्र तिग्मभानुः सूर्य इव तत्सम्बोधने । त्वं—भवान् । इमां—कन्याम् । नौ—आवयोः । जामिं—भगिनीं । कथं—केन प्रकारेण । कथितवान्—उक्तवान् । असि, युष्मादृशः—भवादृशः देवतुल्यस्य । अविमृश्य—अविचार्य । निवेदकत्वं—ज्ञापकत्वम् आवयोः, तया सह । प्रतिबद्धताऽपि—सम्बन्धिताऽपि । कथमपि—कुतोऽपि हेतोः । सम्भाव्यते किम् ?—नैव सम्भाव्यते इत्यर्थः । अत्र प्रतिपद्धतोऽपि इति पाठो युक्तः, तथा च अविमृश्याविचार्य निवेदकत्वं प्रतिपद्धतोऽपि भवतः विदुषोऽपि कथमपि किं सम्भाव्यते ? नैव सम्भाव्य ते इत्यर्थः । एवञ्च भवतां निवेदनस्य कोऽभिप्रायः, इति भावः ॥११॥

अथ विद्याधरस्य प्रतिवचनमाह—एतन्निशम्येति—

एतन्निशम्य वचनं नृपनन्दनाभ्यां, सम्भाषितं पुनरभाषत खेचरेन्द्रः ।
शुश्रूषुताऽस्ति यदि वां तदिदं विमुच्य, युद्धं युवां च शृणुतं विहितावधानम् ॥१२॥

व्याख्या—नृपनन्दनाभ्यां—राजपुत्राभ्यां । संभाषितं—कथितम् । एतदुक्तं वचनं, निशम्य—आकर्ण्य । खेचरेद्रः—विद्याधरः । पुनः—भूयः । अभाषत—अवोचत, किमित्याह । यदि वां—युवयोः । शुश्रूषता—श्रवणाभिलाषिता । अस्ति, तत्—तदा । इदं—प्रवर्त्तमानं । युद्धं विमुच्य—त्यक्त्वा । युवां—भवन्तौ च । विहितावधानं—विहितं कृतमवधानं चित्तैकाग्र्यं यथा स्यात्तथा सावधानं । शृणुतम्—आकर्णयतम्, प्रमादे तु, अर्थान्तरसम्भावनेति भावः ॥१२॥

अथ विद्याधरोक्तिं प्रपञ्चयति श्लोकद्वयेन—अस्तीहेति—

अस्तीह जम्बुतरुविश्रुतनामधेये, द्वीपेऽन्तरीपसुभगेऽपि महाविदेहे ।
क्षेत्रे सनातनजिनेश्वरधर्मपात्रे, सीतामहासरित उत्तरमुत्तरेण ॥१३॥
सौराज्यराजि विजये खलु पुष्कलाव-त्याख्ये धराधरशिरोमुकुटायमानः ।
वैताढ्य इत्यभिधया सुधयानुलिप्तः, किं श्वेतिमानमिह यो बिभराम्बभूव ॥१४॥

व्याख्या—इह, जम्बुतरुविश्रुतनामधेये—जम्बुतरुणा जम्बुनामवृक्षेण विश्रुतं प्रसिद्धं नामधेयं यस्य तस्मिन् । द्वीपे—जम्बुद्वीपे इत्यर्थः । अनन्तरोपसुभगेऽपि—अन्तरीपैर्द्वीपैरसंख्येयैर्वलयाकारैः तस्य परिवृतत्वात् सुभगे मनोरमेऽपि, यद्वा अन्तरीपेषु द्वीपेष्वसंख्येयेषु मध्ये सुभगेऽपि मनोहरेऽपि । सनातनजिनेश्वरधर्मपात्रे—सनातनस्य जिनेश्वरधर्मस्य पात्रे आस्पदे, तत्र तीर्थकृतां सदासत्त्वात्तद्धर्मस्यापि सदा विद्यमानत्वादिति भावः । महाविदेहे—तन्नाम्नि क्षेत्रे, उत्तरेण—उत्तरस्यां दिशि । सीतामहासरितः—सीताख्यमहानद्याः । उत्तरम्—उत्तरभागे । पुष्कलावत्याख्ये—पुष्कलावती इत्याख्या यस्य तस्मिन् तादृशे । सौराज्यराजि—सौराज्येन सुशासनेन राजते यः तस्मिन् । विजये, धराधरशिरोमुकुटायमानः—धराधराः पर्वताः तेषां शिरस्सु मुकुटायमानः पर्वतश्रेष्ठ इत्यर्थः । वैताढ्य इत्यभिधया यः—पर्वतः अस्ति सः पर्वतः । इह—पुष्कलावतीविजये । सुधया—सुधालेप इत्यमरोक्तेः सुधया लेपेन चूर्णविशेषेण । अनुलिप्तः—सन् । पर्वतान्तराणां कृष्णत्वस्यैव श्वेतिमानम्—धावल्यं । बिभराम्बभूव—धारयामास । किम् ?—कथमन्यथा श्वेतिमा तस्येति भावः । सर्वेषां-कविसमयप्रसिद्धत्वादिति भावः ॥१३॥१४॥

सम्प्रति तस्य पर्वतस्य पृथुत्वमौन्नत्यं कुटांश्चाह—विस्तारमिति—

विस्तारमावहति विंशति योजनानि, पञ्चाधिकानि किल तद्द्विगुणोच्चभावम् ।
यो राजतः स्फटिकभूधरवद् विभाति, कूटैर्विभात्यभिनवैर्नवभिर्विचित्रैः ॥१५॥

व्याख्या—**यः राजतः**—रजतस्यायं राजतः, रजतमयः वैताढ्यपर्वतः । **पञ्चाधिकानि**—येषु एवम्भूतानि । **विंशतियोजनानि**—पञ्चविंशतियोजनानीत्यर्थः । **विस्तारं**—पृथुत्वं, व्यासं 'विस्तारव्यासाः' इति हैमः । **तद्द्विगुणं**—पञ्चाशद्योजनानि । **उच्चभावम्**—उच्चैस्त्वम् । **आवहति**—धारयति । **किल**—तथा । **यः, स्फटिक-भूधरवद्**—स्फटिकस्य तदाख्यरत्नविशेषस्य यः भूधरः पर्वतः । **तद्वत् विभाति**—शोभते, कैरित्यत आह—**अभिनवैः**— विलक्षणैः । **विचित्रैः**—नानावर्णैः । **नवभिः**—नवसङ्ख्याकैः । **कूटैः**—शिखरैः, 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः ॥१५॥

अथ तत्र पुरस्थितिमाह—तत्र प्रवृद्धेति—

तत्र प्रवृद्धनयराजिविराजि नाम्ना(म्नाऽऽ)-दित्याभमस्ति पुटभेदनमुत्तरस्याः ।
श्रेणेर्विभूषणमदूषणमेव पञ्च-पञ्चाशता वरपुरैरुपशोभितायाः ॥१६॥

व्याख्या—**तत्र**—वैताढ्यपर्वते । **पञ्चपञ्चाशता**—पञ्चपञ्चाशत्संख्यकैः । **वरपुरैः**—वरैः श्रेष्ठैः पुरैः नगरैः । **उपशोभितायाः**—शोभमानायाः । **उत्तरस्याः श्रेणेः**—उत्तरश्रेणेः । **अदूषणं**—निर्दुष्टम्, अमलमित्यर्थः । **विभूषणं**—मण्डनरूपम् । **प्रवृद्धनयराजिविराजि**—प्रवृद्धा उन्नता नयराजिः नीति सन्ततिः तया विराजि विराजमानम् । **नाम्ना**—अभिधानेन । **अदित्याभम्, पुटभेदनं**—नगरम् । **अस्ति**—'पूः स्त्री नगर्यौ पत्तनं पुटभेदनमि'त्यमरः ॥१६॥

अथ तत्रत्यचैत्यानि वर्णयति—यत्रोन्नतानीति —

यत्रोन्नतानि जिनराजनिकेतनानि, राजन्ति हेमघटितानि सकेतनानि ।
पूजाविधिं विदधतां जिनपुङ्गवानां, मूर्तां प्रतापकमलाविमलाशयानाम् ॥१७॥

व्याख्या—**यत्र**—यस्मिन्नगरे । **जिनपुङ्गवानाम्**—अर्हत्प्रवराणाम् । **मूर्तां**—मूर्तिमतीम्, यथार्थामिति यावत् । **पूजाविधिम्**—अष्टविधादिपूजनक्रियाम् । **विदधताम्**—आचारताम् अत एव । **प्रतापकमलाविमला-**

श्रयानाम्—प्रतापः प्रभाश्च कमला लक्ष्मीश्च विमलाशयो निर्मलान्तश्च येषां तेषाम् । सकेतनानि—पताकान्वितानि । हेमघटितानि—स्वर्णसम्पादितानि, कनकमयानीति यावत् । उन्नतानि—उच्चैस्तराणि । जिनराजनिकेतनानि—अर्हन्मन्दिराणि । राजन्ति—शोभन्ते । अयं भावः, यत्र पुरेऽर्हदुपासकानां जिनमन्दिराणि स्वर्णमयान्यत्युन्नतानि विराजन्ते, तेषु विधिपूर्वकमार्हता अर्चनं विशिष्टप्रकारं विदधते, तदनुभावतस्ते प्रतापिनः श्रीमन्तः सदाशयाश्च सन्तीति ॥१७॥

अथ तत्रस्थविद्याधरान् वर्णयति—प्रज्ञप्तीति—

प्रज्ञप्तिदेव्युपहतानुपमप्रसादाः, सम्पादिताखिलमनीषितवस्तुजाताः ।
विद्याधराः प्रमदमेदुरचेतसस्स-द्धर्मक्रियास्वनलसा विलसन्ति यत्र ॥१८॥

व्याख्या—यत्र—नगरे । प्रज्ञप्तिदेव्युपहतानुपमप्रसादाः—प्रज्ञप्तिर्नाम या देवी तयोपहृतः प्रदत्तः अनुपमोऽसाधारणः प्रसादः प्रसन्नता येषां ते तादृशाः । तथा सम्पादिताखिलमनीषितवस्तुजाताः—सम्पादितानि लब्धानि कृतानि वा अखिलानि सर्वाणि मनीषितानि ईहितानि वस्तुजातानि वस्तुसमूहाः यैस्ते तादृशाः, लब्धसम्पूर्णाभिलाषाः अत एव प्रमदेन हर्षेण मेदुरमुन्नतं चेतः मनः येषां ते प्रमदमेदुरचेतसः—हर्षोत्फुल्लमनसाः । सद्धर्मक्रियासु—सद्धर्मानुष्ठानेषु । अनलसाः—अप्रमत्ताः । विद्याधराः, विलसन्ति—शोभन्ते ॥१८॥

अथ तत्रवासिनः स्वभावं वर्णयति—कृत्तमिति—

कृत्तं निघृष्टमुपतापमपाकरोति, संयोजितं वपुषि यज्जलयोगसत्कम् ।
श्रीखण्डमात्तसदृशान्वयमात्मनैव, यद्वासिभिर्जितमनीदृशवृत्तवृत्तैः ॥१९॥

व्याख्या—यत् श्रीखण्डं—चन्दनं । कृत्तं—प्रथमम् छिन्नम् ततः । जलयोगसत्कम्—जलस्य योगः सम्पर्कः तेन सत्कं सहितं । निघृष्टं—पिष्टं, तथा । वपुषि—शरीरे । संयोजितं—लेपितं, सत् । उपतापं—तापम् । अपाकरोति—दूरीकरोति, तत् । श्रीखण्डं—चन्दनम् । अनीदृशवृत्तवृत्तैः—अनीदृशं विलक्षणं यद् वृत्तं व्यवहारः तेन वृत्तैः सम्पन्नैः कर्त्तनादिव्यापारविरहितैरेव । यद्वासिभि.—यत्र वसद्भिः जनैः । आत्तसदृशान्वयम्—आत्तः गृहीतः सदृशः चन्दनतुल्यः अन्वयो वंशः स तापनाशकस्वभावो यथा स्यात्तथा, चन्दनसदृशकुलग्रहणपुरस्सरम् । आत्मनैव—स्वयमेव । जितं—पराजितम्, चन्दनं कृत्तादिव्यापारवत्त्वे सति तापनाशकं । अत्र—त्यास्तु तादृशव्यापारं विनैव तादृशकुलस्वभावेनैव तापनाशकाः, इत्यर्थः । सर्वेऽपि अत्रत्याः शान्तस्वभावाः इति भावः ॥१९॥

अथ तत्रत्यराजानं वर्णयति—लक्ष्मीविलासेति—

लक्ष्मीविलासवसतिः कमनीयकान्ति-स्तत्राभवत् क्षितिपतिः क्षतशत्रुजातिः ।
यः कुण्डलीतिनिजनामनिवेशनेन, वर्णावलीमपि बिभूषयति स्म धीरः ॥२०॥

व्याख्या—तत्र—आदित्याभनाम्नि नगरे, लक्ष्म्याः विलासस्य क्रीडायाः वसतिरास्पदम् लक्ष्मीविलासवसतिः—लक्ष्मीवान् । कमनीया मनोहरा कान्तिर्यस्य स कमनीयकान्तिः—सच्छविः । क्षतशत्रुजातिः—क्षता नाशिता शत्रूणां जातिः समूहः येन स तादृशः, विनिहतारिवर्गः । क्षितिपतिः—राजा अभवत् । यः धीरः—धैर्यवान्, राजा । कुण्डलीतिनिजनामनिवेशनेन—करणेन । वर्णावलीमपि—वर्णसमूहमपि । विभूषयतिस्म—"दष्कर्णः कुण्डलिबिलेशयदन्दशूकाः" इति हैमवचनात् सर्पार्थवाचकतया कुण्डलीतिवर्णावली न शोभते सप्रतिपक्षत्वात्तस्य, कुण्डलीति नृपनाम्ना तु शोभते तस्य राज्ञो निष्प्रतिपक्षत्वादिति भावः । कुण्डलविशिष्टार्थवाचकत्वात् शब्दोऽपि कुण्डली सम्पन्न इत्यर्थः ॥२०॥

अथ तस्य प्रतापं वर्णयति—यस्य प्रतापतपन इति—

यस्य प्रतापतपनः स तथा कथञ्चि-दुज्जृम्भते स्म भुवनेषु करैरुदग्रैः ।
प्रत्यर्थिसार्थहृदयाम्बुजकोशदेशा-भासा मनागपि यथा न विकाशमापुः ॥२१॥

व्याख्या—यस्य—राज्ञः । स—प्रसिद्धः । प्रतापतपनः—प्रताप एव तपनः सूर्यः स । भुवनेषु—लोकेषु । उदग्रैः—उत्कटैः । करैः—किरणैः । कथञ्चित्—कुतोऽपि । तथा—तेन प्रकारेण । उज्जृम्भते स्म—प्रकाशते स्म । यथा—येन प्रकारेण । प्रत्यर्थिसार्थहृदयाम्बुजकोशदेशाभासाः—प्रत्यर्थिनां शत्रूणां सार्थः समूहः तस्य हृदयान्येव अम्बुजानां कमलानां कोशस्य कुड्मलस्य 'कोशोऽस्त्रीकुड्मले' इत्यमरः । देशाः भागाः स्थानानि तद्गता आभासाः कान्तयः । मनागपि—ईषदपि । विकाशं—प्रफुल्लतां । न आपुः—प्रापुः । तद्वैरिहृदयं तत्कृताभिभवान्न कदापि हृष्टमिति भावः ॥२१॥

शत्रुपराभवस्य वर्णनेऽपि पुनरर्थविशेषलाभाय तद्वर्णयति—धाराधरे इति—

धाराधरे स्फुरति सूरकरापिधान-निर्माणजाग्रदुदये बत यस्य काले ।
स श्रीकमम्बरमपास्य समग्रराज-हंसा विदेशमगमन् प्रपलाय्य तूर्णम् ॥२२॥

व्याख्या—यस्य—राज्ञः। काले—शासनसमयरूपे, अथ च काले वर्षर्तौ। सूरकरापिधाननिर्माण-जाग्रदुदये—सूराः लक्षणया प्रतापिनो राजानः तेषां कराः लक्षणया प्रतापाः 'अथ च सूर्यकिरणाः, तेषां यदपिधानमाच्छादनं तस्य निर्माणं करणं तत्र जाग्रत् सचेष्टः उदयः उन्नतिर्यस्य स तस्मिन्। धाराधरे—मेघे, खड्गे च, "धाराधरो जलधर"। इति 'धाराधरः खड्ग' इति च कोशः। बत—निश्चयेन। स्फुरति—विलसति सति। समग्रराजहंसाः—समग्राश्चाखिलाश्च ते राजान एव हंसास्ते, अथ च हंसानां राजानः राजहंसाः, राजसु हंसा इवेति राजहंसाः। सश्रीकं—शोभमानम्। अथ च सम्पत्तिसहितम्। अम्बरम्—वस्त्रमपि अथ चाकाशम्। अपास्य—त्यक्त्वा। तूर्णम्—शीघ्रमेव। प्रपलाय्य—प्रलायित्वा। विदेशं—देशान्तरम्। अगमन्—यथा वर्षर्तौ हंसाः मानसं सरो गच्छन्ति, तथा तत्समये शत्रुराजानः विदेशमगमन्नित्यर्थः। रूप-कालङ्कारः ॥२२॥

अथ तस्य स्त्रियं वर्णयति—तस्याजनीति—

तस्याजनि प्रियतमाऽजितसेनिकेति, सेना मनोभवनृपस्य जगज्जिगीषोः।
लावण्यभूमिरपि या मधुराधरत्वा-दन्यां प्रियां रसवतीं नृपतिर्न्यषेधत् ॥२३॥

व्याख्या—तस्य—राज्ञः। जगज्जिगीषोः—जगज्जेतुमिच्छो मनोभवनृपस्य—मनोभवः काम एव नृपः तस्य। सेना—वाहिनीरूपा, तद्द्वारेण जगतो वशीकरणादिति भावः। अजितसेना—इति नाम्नी। प्रियतमा—भार्या। अजनि—अभूत्। या लावण्यभूमिरपि—लावण्यस्य सौन्दर्यस्य भूमिः आस्पदमपि, तस्याः। मधुराधरत्वात्—मधुरः अधरः अधरोष्ठः यस्याः तद्भावस्तत्त्वात्। नृपतिः—राजा। रसवतीम्—अनुराग-वतीमपि। अन्यां प्रियां—भार्यां। न्यषेधत्—परां भार्यां नाकरोदित्यर्थः ॥२३॥

अथ तस्याः शीलं वर्णयति शीलमिति—

शीलं यदीयममलं समवेक्ष्य शङ्के, नेन्दुर्दिवा प्रकटतां भजते त्रपावान्।
युक्तं परेण महतां हि पराजितानां, न स्वं प्रकाशयितुमुष्णकरप्रकाशे ॥२४॥

व्याख्या—यदीयम्—अजितसेनिकासम्बन्धि। अमलं—निष्कलङ्कं। शीलं—स्वभावं। समवेक्ष्य—विलोक्य। त्रपावान्—सलज्जः। इन्दुः—चन्द्रः, तस्य सकलङ्कत्वादिति भावः। दिवा—दिने। प्रकटतां—नेत्रगोचरतां। न भजते—किन्तु तिरोहितस्तिष्ठति, इति। शङ्के—ऽहम्, तत्र हेतुमाह। हि—यतः। परेण—

अन्येन। पराजितानाम्–अभिभूतानां। महताम्–उत्तमानाम्। उष्णकरप्रकाशे–उष्णकरस्य सूर्यप्रस्य प्रकाशे आलोके। स्वं–निजं। न प्रकाशयितुं–प्रकटयितुं। युक्तम्–उचितम्, लज्जायास्तथैव रक्षणात्, रात्रौ तु लोकावलोकन भयाभावेन प्रकटनेऽपि न क्षतिरिति भावः। अत्र चन्द्रस्य दिवा अप्रकटने लज्जायाः असम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तस्य च विशेषस्य महतां सूर्यप्रकाशेऽप्रकटनौचित्येन सामान्येन समर्थनादर्थान्तरन्यास इति द्वयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥२४॥

सम्प्रति स्वपरिचयमाह—सूनुमिति—

सूनुं तदीयमवधारयतं युवां मा – मध्यक्षलक्ष्यकृतलक्षणलक्ष्यमूर्तिम् ।
व्युत्क्रान्तशैशवभरं जनकादवाप्त–संसाधितप्रवरविद्यमनिन्द्यवित्तम् ॥२५॥

व्याख्या—युवां–द्वौ कुमारौ। अध्यक्षलक्ष्यकृतलक्षणलक्ष्यमूर्तिम्–अध्यक्षस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य यल्लक्ष्यं विषयः तत्कृतेन लक्षणेन लक्ष्या ग्राह्या मूर्तिर्यस्य तं तादृशं, प्रत्यक्षदृश्यमानम्। व्युत्क्रान्तशैशवभरम्–व्युत्क्रान्तः व्यतीतः शैशवस्य बाल्यस्य भरोऽतिशयः यस्मात्तं तादृशं, तरुणं। जनकात्–पितुः सकाशात्। अवाप्तसंसाधितप्रवरविद्यम्–अवाप्ता अधिगता संसाधिता कार्यक्षमीकृता प्रवरा श्रेष्ठा विद्या येन तं तादृशम्, अधीतविद्यम्। तथा अनिन्द्यवृत्तम्–अनिद्या स्तुत्या वृत्तिराचरणं यस्य तं तादृशं सदाचारिणं। अनिन्द्यवित्त–मिति पाठे तु सत्सम्पत्तियुक्तम्। मां, तदीयं–कुण्डलीनामनृपस्य। सूनुं–पुत्रम्। अवधारयतं–वित्तम् ॥२५॥

अथ सम्प्रति स्वस्य कथाङ्गतया जिनेशसमीपगमनमाह—अन्येद्युरिति—

अन्येद्युरम्बरविहारविनोदवृत्त्या, श्रीपुण्डरीकिणिपुरीमगमं महेच्छः ।
तीर्थङ्करामितयशःप्रणिनंसयैव, कः श्रेयसे प्रयतते हि न शुद्धबुद्धिः ॥२६॥

व्याख्या—अन्येद्युः–एकदा। महती इच्छा यस्य स महेच्छः–महाभिलाषः सन् अहम्। तीर्थङ्करामितयशःप्रणिनंसया–तीर्थङ्करो योऽमितयशाः तस्य प्रणिनंसया प्रणतुमिच्छया। एव, अम्बरविहार–विनोदवृत्त्या–अम्बरे आकाशे विहारे सञ्चरणे यो विनोदः मनोऽनुरञ्जनं तद्रूपया वृत्त्या क्रियया, अम्बरविहाररूपं विनोदं कुर्वन्। श्रीपुण्डरीकिणि–नाम्नीं। पुरीं–नगरीम्। अगमम्–अगाम्। तत्र हेतुमाह–हीति–यतः। कश्शुद्धबुद्धिः–निर्मलधीः। श्रेयसे–कल्याणाय। न प्रयतते–प्रयत्नं करोति ॥२६॥

अथ स्वकीयतत्रत्यप्रवृत्तिमाह—दृष्ट्वेति—

दृष्ट्वा ततोऽमितयशोजिनराजमेतं, गीर्वाणनायकनिषेव्यपदारविन्दम् ।
भक्त्या प्रणम्य समुपाविशमन्तिकस्थो, योग्यं प्रदेशमुपगम्य तदेकतानः ॥२७॥

व्याख्या—ततः—तदनन्तरम् । गीर्वाणनायकनिषेव्यपदारविन्दम्—गीर्वाणानां देवानां नायकाः अग्रेसराः देवेन्द्रास्तैः निषेव्यौ पदौ चरणौ अरविन्दे इव यस्य तं तादृशम् । एतं—प्रस्तुतम् । अमितयशोजिनराजम्—अमितयशाश्चासौ जिनराजश्च तं । दृष्ट्वा, भक्त्या प्रणम्य योग्यम्—उचितम्, प्रदेशं स्थानम् । उपगम्य—प्राप्य । अन्तिकस्थः—जिनराजसमीपस्थः सन् । तदेकतानः—तदेकाग्रध्यानः । समुपाविशम्—उपविष्टवान् ॥२७॥

सम्प्रति तीर्थकरस्य देशनां वर्णयति—तां देशनामिति—

तां देशनां व्यधित तीर्थकरस्तदानीं, दैतेयनायकनिकायसभाजितांहिः ।
यस्यां श्रुतेर्विषयतामुपलम्भितायां, भव्याः समीहितमशेषमवाप्नुवन्ति ॥२८॥

व्याख्या—दैतेयनायकनिकायसभाजितांहिः—दैतेयाः असुराः "असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः', इत्यमरः, तेषां नायकाः नेतारः असुरेन्द्रा इत्यर्थः, तेषां निकायेन समूहेन सभाजितौ सेव्यमानावंह्री यस्य स तादृशः । तीर्थंकरः—श्री अमितयशाः । तदानीं—तस्मिन् काले । तां—देशनाम् उपदेशम् । व्यधित—अकरोत् । यस्यां—देशनायां । श्रुतेः—श्रवणेन्द्रियस्य । विषयतां—गोचरताम् । उपलम्भितायां—प्राप्तायां, श्रुतायां, सत्यामित्यर्थः । भव्याः—प्राणिनः । अशेषं—सकलं । समीहितम्—अभीष्टम् । अवाप्नुवन्ति—प्राप्नुवन्ति ॥२८॥

अथ देशनाप्रकारमेवाह—चिन्तामणिरिति—

चिन्तामणिः करतलं किल सन्निविष्टस्तेषां स कामकलशः खलु सन्निविष्टः ।
सा कामधेनुरपि तद्भवनं प्रविष्टा, यद्बुद्धिरुल्लसति धर्मविधौ प्रकृष्टा ॥२९॥

व्याख्या—तेषां—प्राणिनां । करतलं—हस्ततलं । चिन्तामणिः—सर्वेष्टसम्पादको मणिविशेषः । सन्निविष्टः—स्थित । किलेति—निश्चये । स—प्रसिद्धः, कामपूरकः कलशः घटः कामकलशः सन्निविष्टः खलु तद्भवनं—तेषां भवनं गृहम् प्राप्तः । सा—प्रसिद्धा । कामधेनुः—सुरगवी । प्रकृष्टा—उत्तमा । प्रविष्टा—

यदूबुद्धिः—येषां बुद्धिः। धर्मविधौ—धर्मक्रियायाम्। उल्लसति—अभिनिविशते। धर्मादेव कामः सिद्धयतीति भावः। यदुक्तं "धर्मादर्थश्च कामश्च"इति ॥२९॥

धर्मफलं सुकुलजन्मात्मकं वर्णयति—धर्मादिति—

धर्मात् कुले महति जन्म जगत्प्रसिद्धे, सम्पद्यते विभवशालिनि शीलशाले।
स्वप्नेऽपि मान्त्रिककुलस्थितिवन्न दोषै-रस्पर्शि यन्निजविनाशमवेक्षमाणैः ॥३०

व्याख्या—यत्—यत्कुलम्। स्वप्नेऽपि—दर्शनेऽपि। निजविनाशम्—आत्मविध्वंसम्। अवेक्षमाणैः—पश्यद्भिः। दोषैः—दूषणैः। मान्त्रिककुलस्थितिवत्—मन्त्रसिद्धात्मान्वयमर्यादावत्। न अस्पर्शि—स्पृष्टं न, तस्मिन्। जगत्प्रसिद्धे—विश्वविश्रुते। विभवशालिनि—सम्पत्समन्विते। शीलशाले—सद्वृत्तसुन्दरे। महति कुले—विशाले वंशे। जन्म—जनिः। धर्मात्—सुकृततः। सम्पद्यते—जायते। उपमा ॥३०॥

धर्मात् कामप्राप्तिमुक्त्वा अधुना अर्थप्राप्तिमाह—लक्ष्मीः इति—

लक्ष्मीः समुद्भवति पुण्यत एव पुंसां, भागीरथीव तुहिनाचलशृङ्गमूलात्।
या वासुदेवपदमस्पृशदात्मनैव, या चोत्तमाङ्गमभजत्परमेश्वरस्य ॥३१॥

व्याख्या—पुंसां—जनानां। पुण्यतः—धर्मादेव—"स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी, इत्यमरः। नान्यतः। लक्ष्मीः—सम्पत्तिः। समुद्भवति—जायते। तुहिनाचलशृङ्गमूलात्—तुहिनाचलः हिमालयः तस्य शृङ्गं शिखरः तन्मूलात्। भागीरथी—गङ्गेव। या—भागीरथी। आत्मना—स्वतः। एव वासुदेवपदं—वासुदेवस्य विष्णोः पदं चरणम्। अस्पृशत्—तज्जन्यत्वादिति भावः। तथा या च परमेश्वरस्य—शिवस्य। उत्तमाङ्गम्—मूर्धानम् 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना,' इत्यमरः। अभजत्—आरुहत्, आकाशात्पतन्ती गङ्गा शिवेन निजमस्तके धृतेति पौराणिकाः। एवञ्च यथा भगीरथपुण्यतः हिमालयाद्गङ्गा उद्भूता तथा पुण्यतः लक्ष्मीरुद्भवतीत्यर्थः। नहि धर्मेण किञ्चिदसाध्यमिति भावः ॥३१॥

अथ धर्मस्य फलान्तरमप्याह—सौभाग्यमिति—

सौभाग्यमुल्लसति भाग्यमिदं च धर्मात्, पुष्पं फलं च मधुरञ्च रसालशालात्।
यच्छ्रूयते धुरि सदालिसमाश्रयत्वात्, सारस्यतः परिणतावुपगीयते यत् ॥३२

व्याख्या—इदं भाग्यं सौभाग्यञ्च धर्मात्–पुण्यात। उल्लसति पुष्पञ्च मधुरं फलं च रसालशालात्–रसालस्याम्रस्य शालाद् वृक्षादिव। यद् धुरि–प्रथमं पुष्पोद्गमे। मदाऽलिममाश्रयत्वात् अलीनां–भ्रमराणामाश्रयत्वात् भ्रमराश्रितत्वात्। श्रूयते–श्रुतिविषयो भवति। यच्च परिणतौ–फलपरिपाके। सारस्यतः–सद्रसभावात्। उपगीयते–स्तूयते, एवं धर्मात्प्रथमं भाग्यं ततो धनधान्यादिसमृद्धयः अलिवद्याचकादिसमाश्रयत्वात्, यद्वा सतां सत्पुरुषाणामालिभिः पंक्तिभिस्समाश्रयत्वात् सेवितत्वात्, पश्चाच्च सौभाग्यवान् धर्मपरिपाके सति जनैः स्तूयते। एवञ्चात्र श्लेषरूपकोपमानां सङ्करः ॥३२॥

अथ धर्मस्य राजत्वाद्यपि फलमित्याह–राजेति —

राजा भवत्यपि भवत्यपि चक्रवर्ती, प्रत्यर्धचक्रधर एव तथार्द्धचक्री।
सीरायुधो जगति तीर्थकरोऽपि जन्तु–स्तत्किं न सम्भवति यत्किल चात्र धर्मात् ॥३३

व्याख्या—अत्र जगति–संसारे। जन्तुः–शरीरी 'जन्तुजन्युशरीरिणः,' इत्यमरः। धर्मात् पुण्यप्रसादात्। राजा–नरेन्द्रः। अपि भवति, चक्रवर्ती–सम्राट् षट्खण्डभर्त्ता। अपि–तथा। प्रत्यर्द्धचक्रधरः–प्रतिवासुदेवः। तथा–अर्धचक्री–त्रिखण्डभर्त्ता वासुदेवः। एव भवति–तथा सीरमायुधं यस्य स सीरायुधः–हलायुधः बलदेवः। तीर्थकरः अपि–भवतीत्यनुषज्यते। तत्किं यत् धर्मात् न सम्भवति किल ?–अपि तु सर्वमेव धर्माद्भवति इत्यर्थः धर्मः कामधेनुरिति भावः ॥३३॥

आयुःप्राप्त्याद्यपि धर्मादित्याह—आयुरिति

आयुः प्रवर्द्धयति पुण्यमहो नराणां, बीजांकुरं सलिलवज्जलभृद्विमुक्तम्।
उद्वृत्वराणि विविधानि विसृत्वराणि, शस्यानि साधयति कर्मफलानि यच्च ॥३४

व्याख्या—पुण्यं–पूर्वभवाराधितदयादिधर्मः। नराणां–जनानाम्। आयुः प्रवर्द्धयति, अहो–इत्याश्चर्ये। बीजांकुरं–प्ररोहम्, जलं बिभर्त्तीति जलभृन्मेघस्तस्माद्विमुक्तं वृष्टं जलभृद्विमुक्तं, सलिलवत्–सलिलमिव, सलिलं यथा अङ्कुरं वर्धयति तथेत्यर्थः, अत्र सलिलशब्दस्य जलभृद्विमुक्तपदसापेक्षत्वात् असामर्थ्येन कथं तद्धितवृत्तिरिति चिन्तनीयम्। असामर्थ्येऽपि देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादिवद्रूढत्वात् स इत्येके। अपरे तु प्रमाद एव, नित्यसापेक्षत्वाऽभावात् गमकत्वस्य असम्भवात् बीजाङ्कुरवृद्धौ सलिलमात्रापेक्षणादित्याहुः। सलिलवज्जलभृद्विमुक्तम्–इति समस्ते तु न कश्चनापि दोषः, सजलजलधरविमुक्तम्, जलमितियावत्, यथातथानुसन्धानमाद्रियम्। यच्च–पुण्यञ्च। उद्वृत्वराणि–वर्धिष्णूनि अभ्युदयोन्मुखानि च। विसृत्वराणि–प्रसरणशीलानि, व्याप्नुवानानि च। विविधानि–नानाविधानि। शस्यानि कर्मफलानि साधयति–करोति सर्वमेवतत्पुण्यादेव भवतीत्यतो धर्म एव सर्वस्य कारणमिति भावः ॥३४॥

अथ धर्मस्य देवत्वप्राप्त्यादिफलमलौकिकमपीत्याह—वृन्दारकत्वमिति —

वृन्दारकत्वमधिगच्छति जन्तुरेष, वृन्दारकाधिपतितामपि पुण्ययोगात् ।
लोकान्तिकामरविभामहमिन्द्रतां च, सर्वार्थसिद्धिसुखमत्र परत्र चापि ॥३५॥

व्याख्या—एष—जन्तुः । पुण्ययोगात्—पुण्यप्रभावात् । वृन्दारकत्वम्—देवत्वम् । वृन्दारकाधिपतिताम्—देवेशत्वमपि—लोकान्तिका ये अमराः तेषां विभां प्रभां लोकान्तिकामरविभाम्, अहमिन्द्रताञ्च—नवग्रैवेयकदेवत्वमनुत्तरवासिदेवत्वञ्च, तत्रस्थदेवानामहमिन्द्रत्वात् । अत्र—इहलोके । परत्र—परलोकेऽपि । सर्वार्थसिद्धिसुखम्—सर्वार्थस्य सिद्धिम् प्राप्तिं तज्जन्यं सुखञ्च सर्वार्थसिद्धविमानसुखं सिद्धिसुखञ्च । अधिगच्छति—प्राप्नोति, अकल्प्यमहिमा हि धर्म इति भावः ॥३५॥

सम्प्रति धर्मप्रकारमाह—दानमिति—

दानं सुपात्रविषये प्रतिपादनीयं, शीलं विशिष्य विशदं परिपालनीयम् ।
तप्यं तपश्च शुचिभावनया समेतं, धर्मं चतुर्विधमुदाहृतवाञ्जिनेशः ॥३६॥

व्याख्या—दानं—विशुद्धं । सुपात्रविषये—सुसाध्वादौ, शुचिभावनया ऐहिक पारलौकिकाऽऽशंशादिरहितया विशुद्धमनोवृत्त्या । समेतं—समन्वितम्, अस्य सर्वत्रान्वयः । प्रतिपादनीयं—दातव्यम् । विशिष्य—मनोयोगादित्रयविशुद्धया । विशदं—निर्मलं । शीलम्, परिपालनीयम्—रक्षणीयम् । तपश्च—बाह्याभ्यन्तर द्वादशविधं शुचिभावनया समेतं । तप्यम्—समाचरणीयम्, एतदेव दानशीलतपोभावनाभेदात्मकं । चतुर्विधं धर्मं जिनेशः उदाहृतवान्—जगाद ॥३६॥

सम्प्रति पृथक् दानादेर्माहात्म्यमाह—सिद्धेरिति —

सिद्धेर्वशीकरणकर्मणि सन्निदानं, जानन्तु ऋद्धिमहिताः स्वहिताय दानम् ।
यन्मन्दिरं त्यजति नैव कदाचनाऽपि, सापीन्दिरा खलु तदाचरतां नराणाम् ॥३७

व्याख्या—ऋद्धया प्रभूतसम्पत्त्या महिताः महत्त्वं गताः ऋद्धिमहिताः—जनाः दरिद्रस्य दानाऽशक्तेर्विशिष्येदमुपात्तमिति भावः । स्वहिताय—स्वेष्टसिद्ध्यै । सिद्धेः—अणिमाद्यष्टविधसिद्धेः मुक्तेर्वा, वशीकरणकर्मणि—वशीकरणस्य स्वायत्तीकारस्य कर्मण्यनुष्ठाने । सिद्धिप्राप्तावित्यर्थः । सन्निदानं—सत् अमोघं निदानं कारणम् 'निदानं त्वादिकारणमि'त्यर्थः । दानं जानन्तु—आढ्यानां दानमेव सिद्धिनिदानमिति भावः ।

तत्–दानम्। आचरतां–कुर्वतां। नराणां–जनानां। यद्–यस्मात्। सा–दानप्राप्ता। इन्दिरा–लक्ष्मीरपि, खलु–निश्चयेन। मन्दिरं–गृहं। कदाचनाऽपि नैव त्यजति–दानप्रभावात् लक्ष्मीः स्थिरा भवति, अन्यथा तु चञ्चला सा परित्यज्य गच्छतीति स्थिरलक्ष्मीप्राप्तिः स्वहितमिति भावः ॥३७॥

सम्प्रति शीलमाहात्म्यमाह—शीलमिति—

शीलं कलङ्कपरिवर्जितमेव येन, संसाधितं किमपि तस्य न दुर्लभं स्यात्।
यस्माद् दुरन्तदुरितक्षयहेतुकत्व–मेतद्विहाय वहतीह न किञ्चिदेव ॥३८॥

व्याख्या–येन–पुरुषेण। कलङ्कपरिवर्जितं–कलंकेन दोषेण परिवर्जितम् रहितं। निर्दुष्टमित्यर्थः। शीलं–ब्रह्मचर्यं। संसाधितम्–परिपालितं। तस्य–जनस्य। किमपि–मुक्तिमुक्तस्यादि। दुर्लभम्–अलभ्यं। न स्यात्–ननु शीलेन कुतो मुक्त्यादि। तत्राह। यस्माद्धेतोः। इह–संसारे। एतत्–शीलं। विहाय–विना। दुरन्तदुरितक्षयहेतुकत्वं–दुरन्तं दुरपोहं दुष्परिणामं यद् दुरितं पापं तस्य क्षयस्य नाशस्य हेतुकत्वं कारणत्वं। किञ्चिदेव न–किमप्यन्यन्न। वहति–धारयति, शीलेन दुरितनाशस्ततश्च मुक्तिरिति भावः ॥३८॥

अथ तपोमाहात्म्यमाह—दीपं निवेश्येति—

दीपं निवेश्य निजपाणितले यथैकः, पातालमाविशति सिद्धरसाधिगत्यै।
सन्तोषमाशयशयालुमिमं विधाय, धन्यस्तपस्यति तथा विधुतव्यपेक्षः ॥३९॥

व्याख्या—यथा एकः–कश्चिन्मान्त्रिकः। सिद्धरसाधिगत्यै–सिद्धस्य शक्तिशालिनः रसस्यामृतरसस्य अधिगत्यै प्राप्त्यै। निजपाणितले–स्वकरतले। दीपं–मन्त्रप्रयुक्तं दीपकं। निवेश्य–विधाय। पातालं–रसातलम् 'अधोभुवनं पातालं बलिसद्म रसातलम्'' इत्यमरः। आविशति–प्रविशति। तथा धन्यः–स्तुत्यः जनः। इमं–प्रसिद्धम्। सन्तोषं–तुष्टिम्। आशये–अभिप्राये। 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः। शयालुं–स्थितं, तद्गतं। विधाय–कृत्वा, अत एव विधुता दूरीकृता विशिष्टा अपेक्षा आकाङ्क्षा येन स विधुतव्यपेक्षः–निरीहः सन्। तपस्यति–तपः करोति। यथा पातालप्रवेशेन अमृतरसाऽवगतिः मण्याद्यवगतिर्वा तथा तपसा शश्वत्सुखाधिगम इति भावः। अत्र श्लेषाऽनुप्राणितोपमा ॥३९॥

तपसः फलान्तरमप्याह—दुर्वारसंवरेति—

दुर्वारसंवरविरोधिमदप्रचार-निर्वासने प्रथितविक्रमशक्तिबाढम् ।
निश्शेषवाञ्छितविधाननिरस्तचिन्ता-रत्नं बुधाः कथमिदं न तपो विदध्वम् ॥४०

व्याख्या—बुधाः – धीमन्तः । दुर्वारसंवरविरोधिमदप्रचारनिर्वासने-दुर्वारः असुकरप्रतिरोधः यः संवरस्य कर्मनिर्जराहेतोराश्रवनिरोधलक्षणस्य विरोधी अवरोधकः यः मदस्य अहंभावस्य प्रचारः प्रवृत्तिः तस्य निर्वासने दूरीकरणे, यद्वा दुर्वारो यस्संवरविरोधी कामः तस्य यो मदप्रचारः मद-प्रवृत्तिस्तस्य निर्नाशने, दुर्वारसंबरविरोधीति पाठे तु दुर्वारो यस्संबरविरोधी कामदेवः "संबरारिर्मन-सिजः, कुसुमेषुः" इत्यमरः । तस्य मदप्रचारः तज्जन्यमदोन्मत्तता तन्निर्वासने निर्मूलोच्छेदे । तथा प्रथित-विक्रमशक्तिबाढम्—प्रथिता प्रसिद्धा विक्रमस्य पराक्रमस्य शक्तिः शौण्डिर्यं तथा कृत्वा बाढ़मतिशयितम् । निश्शेषवाञ्छितविधाननिरस्तचिन्तारत्नं— तथा निश्शेषाणि सकलानि यानि वाञ्छितान्यभिलषितानि तेषां विधाने करणे (विधानेन सम्पादनेन वा) निरस्तमधरीकृतं चिन्तारत्नं चिन्तामणिरत्नं येन तत्तादृशम् । इदं—प्रस्तुतं । तपः कथं—कुतो हेतोर्न विदध्वम्—कुरुध्वम् ? मदनिवारकत्वात् सकलेष्टसम्पाकदत्वाच्चावश्यं कुरुध्वमित्यर्थः ॥४०॥

अथ भावनामाहात्म्यमाह—संसारसागरेति—

संसारसागरनिपातुकजन्तुजात-पोतायितां प्रशमशर्मनिधानभूताम् ।
वल्गत्कषायकरिसंहतिसिंहजायां, तां भावनां भजत किं न बुधाः स्वतन्त्राम् ॥४१

व्याख्या—बुधाः !—सुधियः ! संसारसागरनिपातुकजन्तुजातपोतायिताम्—संसार एव सागरः समुद्रः तत्र निपातुकाः निपतनशीलाः मज्जन्तः उन्मज्जन्तः, पुनः पुनरुत्पद्यमानाः म्रियमानाः इत्यर्थ., ये जन्तुजाताः प्राणि-समूहाः तेषां कृते पोतायितां पोतः महानौका तद्वदाचरितां, तेषां संसारसमुद्रात् पारयित्रीम्। प्रशमशर्मनिधान-भूतां—प्रशमः शान्तिस्ततो यत् शर्म सुखम् तस्य निधानभूतां खनिस्वरूपाम् । वल्गत्कषायकरिसंहतिसिंहजायां—वल्गन्तः स्फूर्जन्तः कषायाः क्रोधादय एव करिणः गजाः तेषां संहतिः समूहः तस्या कृते तन्नाशे इति शेषः । सिंहजाया सिंहभार्या तत्स्वरूपाम्, कषायनाशिकाम् । स्वतन्त्रां—स्वाधीनाम् । तां—प्रसिद्धां । भावनां—निर्मल-चित्तवृत्तिविशेषां । किं न भजत ?—कुतो न सेवध्वम्, अपि त्ववश्यं सेवध्वम्, संसारोच्छेदकत्वात्, प्रशम-प्रदत्वात्, कषायनाशकत्वाच्चेत्यर्थः ॥४१॥

दानादिचतुर्भेदान् प्रदर्श्य सदृष्टान्तं तद्रूपधर्मस्य फलमाह—धर्ममिति

धर्मं चतुर्विधमपीदृशमेव यो वा, निर्माति निर्ममवरैरुपदिष्टमेतम् ।
जन्तुर्भवेद् गतिचतुष्टयविप्रमुक्तः ख्यातिं दधज्जगति मङ्गलकुम्भवत्सः ॥४२॥

व्याख्या—यः वा जन्तुः एतं–पूर्वोक्तम् । निर्ममवरैः–वीतरागैः, जिनेश्वरैः । उपदिष्टं–कथितम् । चतुर्विधं धर्मम्, ईदृशम्–यथोक्तमेव । निर्माति–करोति । सः–जन्तुः । मङ्गलकुम्भवत्–मङ्गलकुम्भः तन्नामा श्रेष्ठिपुत्रस्तद्वत् । जगति–लोके । ख्यातिं–प्रसिद्धिं । दधत्–प्राप्नुवन् । गतिचतुष्टयविप्रमुक्तः–गतिचतुष्टयेन विप्रमुक्तः वियुक्तः मुक्तः इति यावत् । भवेत् ॥४२॥

सम्प्रति मङ्गलकुम्भाख्यानमाचिख्यासुराह—संजज्ञिरे इति—

संजज्ञिरे प्रथमतीर्थकरस्य तस्य, पुत्राः शतं भरतचक्रिमुखा नरेन्द्राः ।
ज्ञानत्रयावगतविश्वविशेषकृत्यः, सांसारिकव्यवहृतिं समदीदृशद्यः ॥४३॥

व्याख्या—तस्य–प्रसिद्धस्य । प्रथमतीर्थकरस्य–श्रीवृषभाख्यतीर्थङ्करस्य । नरेन्द्राः–राजानः । भरतचक्री भरतनामचक्रवर्ती स मुखं प्रथमः येषां ते भरतचक्रिमुखाः, शतं–शतसंख्याकाः । पुत्राः संजज्ञिरे–जाताः । तस्य कस्येत्याह । यः–तीर्थङ्करः । ज्ञानत्रयावगतविश्वविशेषकृत्यः–ज्ञानत्रयेण मतिश्रुतावधिलक्षणेन अवगतं ज्ञातम् विश्वस्य संसारस्य विशेषमसङ्कीर्णं कृत्यं, यद्वा अवगतानि ज्ञातानि विश्वानि अखिलानि विशेषकृत्यानि भिन्नभिन्नतत्तत्कृत्यानि येन तादृशः सन् । सांसारिकव्यवहृतिं–सांसारिकाणां सांसारिकी वा या व्यवहृतिः व्यवहारः क्रिया भिन्नभिन्नमर्यादा ताम् । समदीदृशत्–दर्शयति स्म । प्रथमतीर्थकर एवाद्यसांसारिकव्यवहारव्यवस्थामकरोदित्यागमे प्रोक्तमिति भावः ॥४३॥

सम्प्रति मङ्गलकुम्भकथाङ्गतयाऽवन्तीनगरेतिहासमाह–तेषु प्रतापभवनमिति—

तेषु प्रतापभवनं समजायतैकः, श्रीमानवन्तिरिति विश्रुतनामधेयः ।
पुत्रः पवित्रचरितः पितृदत्तदेश–स्तस्याख्ययैव विषयः प्रथितोऽस्त्यवन्तिः ॥४४॥

व्याख्या—तेषु–शतपुत्रेषु । एकः–ऽन्यतमः, प्रतापस्य कोशदण्डजतेजसः भवनमास्पदं प्रतापभवनं–प्रतापवानित्यर्थः । पवित्रं चरितं यस्य स पवित्रचरितः–शीलवान् । पित्रा जनकेन दत्तः देशः राज्यं यस्मै स पितृदत्तदेशः, श्रीमान्–लक्ष्मीसम्पन्नः । अवन्तिः इति–विश्रुतं प्रसिद्धं नामधेयं यस्य सः विश्रुतनामधेयः–"नामधेयं च नामे"त्यमरः । पुत्रः समजायत–प्रथमतीर्थकरस्येति शेषः । तस्य–अवन्तेः ।

आख्यया--नाम्ना। एव अवन्ति--रिति। विषयः--जनपदः। प्रथितः--ख्यातः। अस्ति, तेनैव वासितत्वा-दिति भावः ॥४४॥

तत्र सर्वदा सुभिक्षस्थितिमाह—क्षेत्रेष्विति —

क्षेत्रेषु यत्र विविधैरपि धान्यजातै-र्जातैः समस्तधरणीतलपूर्तिकारैः ।
स्वस्यावकाशमधिवस्तुमविन्दमानं, दुर्भिक्षमन्यविषयं रभसाद् बभाज ॥४५॥

व्याख्या—यत्र--अवन्त्यां। क्षेत्रेषु--केदारेषु 'क्षेत्रे तु वप्रः केदारः', इति हैमः विविधैः—अनेक प्रकारैः सर्वैरपीत्यर्थः। "धान्यं तु सस्यं" इति हैमोक्तेः धान्यजातैः--सस्यसमूहैः। समस्तधरणीतल-पूर्तिकारैः--समस्तस्याखिलस्य धरणीतलस्य पृथिवीतलस्य पूर्तिकारैः भरणकारैः। जातैः—सम्पन्नैः। स्वस्य--निजस्य। अधिवस्तुम्--आवासम् कर्तुम्। अवकाशं--रिक्तस्थानम्। अविन्दमानम्--अलभमानं। दुर्भिक्षं--दुष्कालः। रभसाद्--वेगेन। अन्यविषयम्--अन्यदेशं। बभाज--सिषेवे। तत्र सदैव सुभिक्षमासीदित्यर्थः। अलब्धावकाशो हि स्थानान्तरं गच्छत्येवेति भावः॥ अत्र दुर्भिक्षे निर्वासितत्वव्यवहारस्यासम्बद्धस्याप्युक्ते-रतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥४५॥

तत्रेक्षुबाहुल्यमाह—तुङ्गेक्ष्विति

तुङ्गेक्षुदण्डविपिनं मिलिताग्रभागं, पार्श्वद्वयेऽपि सरसं समवेक्षमाणः ।
नैदाघदाघसमयेऽपि पथि प्रवृत्ताः, पान्थाः! श्रमं किमपि यत्र न जानते स्म ॥४६

व्याख्या—यत्र—अवन्त्यां। पथि—मार्गे। प्रवृत्ताः—चलिताः। पान्थाः—अध्वगाः। पार्श्वद्वयेऽपि—इतस्ततः। सरसं—रसेन सहितं, हरितं, मनोहरं वा, मिलिताः परस्परसम्पृक्ताः अग्रभागाः शाखाप्रान्ताः यस्य तत् मिलिताग्रभागम्। अनेनच्छायासम्पत्तिरुक्ता:। तुङ्गेक्षुदण्डविपिनं—तुङ्गानामत्युच्चानामिक्षुदण्डानां विपिनं। समवेक्षमाणाः—अवलोकयन्तः। नैदाघदाघसमयेऽपि—निदाघः ग्रीष्मर्तुः तस्यायं नैदाघो यो दाघ-स्तापः, दहनं, दाघः, भावे घञ्। तस्य समयेऽपि। किमपि—ईषदपि। श्रमं—खेदं। न जानते—समधि-गच्छन्ति स्म। अत्र खेदकारणस्य निदाघसमयस्य सत्त्वेऽपि खेदाभावोक्तेः विशेषोक्तिरलङ्कारः। तल्ल-क्षणन्तु सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः प्रकीर्त्तिता इति ॥४६॥

तत्रानायासमेव भोज्यपदार्थसम्पत्तिरित्याह—श्यामाकेति—

श्यामाककोद्रवकुलित्थकराजमाषा-कङ्ग्वादिकं कदशनं समवेक्ष्यते न ।
विज्ञायते न खलु यत्र च नालिकेर-द्वीपाधिवासिपुरुषैरिव जातवेदाः ॥४७॥

व्याख्या—यत्र—अवन्त्यां । कुत्सितमशनं भोज्यं कदशनम्—कदन्नम् । श्यामाकश्च कोद्रवश्च कुलित्थकश्च (कुलत्थिका) च राजमाषा च कङ्ग्वाद्यर्यस्य तत् श्यामाककोद्रवकुलित्थकराजमाषाकङ्ग्वादिकम्—सर्वे एव श्यामाकादयो धान्यविशेषाः । न समवेक्ष्यते—विलोक्यते, सर्वे एव जनाः तत्र स्वन्नभोजिन इति भावः । तथा नालिकेरद्वीपाधिवासिपुरुषैरिव—यत्र । जातवेदाः—अग्निः । न खलु विज्ञायते—लोकैरिति शेषः । नालिकेरद्वीपवासिनो नाग्निं जानन्तीत्यागमः । अयन्नसिद्धान्नभोजिनस्तत्र सर्वे इति भावः ॥४७॥

अथावन्त्यां विशालानामनगरीस्थितिमाह—तत्रास्तीति—

तत्रास्ति चैत्यरुचिरा नगरी विशाला, शश्वत्समृद्धिसमुदायमहाविशाला ।
अभ्रङ्कषोच्चकपिशीर्षकशालिशाला, शुभ्रांशुमण्डलसमुज्ज्वलचित्रशाला ॥४८॥

व्याख्या—तत्र—अवन्त्यां । चैत्यरुचिरा—चैत्यैः जिनप्रसादैः कृत्वा रुचिरा मनोहरा । शश्वत्समृद्धिसमुदायमहाविशाला—शश्वत्स्थिरा समृद्धिः सम्पत्तिः येषां ते तादृशाः शश्वत्समृद्धयः तेषां समुदायेन महाविशाला अतिमहती । अभ्रङ्कषोच्चकपिशीर्षकशालिशाला—अभ्रङ्कषाणि गगनचुम्बीनि उच्चानि उन्नतानि च यानि कपिशीर्षकानि प्राकाराग्राणि 'प्राकाराग्रं कपिशीर्षमि'ति हैमः, तैः शालन्ते इत्येवंशीलाः शालाः यत्र सा तादृशी, तादृशप्राकारपरिवेष्टितगृहवती "आलयो निलयः शाला" इति हैमः । शुभ्रांशुश्चन्द्रः तस्य मण्डलं बिम्बं तद्वद्समुज्वलाः धवलाः चित्रशालाः जालिन्यो "चित्रशाला तु जालिनी'ति हैमः, यस्यां सा शुभ्रांशुमण्डलसमुज्ज्वलचित्रशाला, विशाला—उज्जयनीत्यपरनाम्नी । नगरी अस्ति ॥४८॥

अथ विशालानगरजलं वर्णयति—यस्याः इति—

यस्याः प्रसिद्धममृतं किमु नामृतं तन्माधुर्यधुर्यमुपमानविवर्जितं यत् ।
अन्यद्भवेद्यदि कुतः परिदृश्यते न, तस्मात्तदप्यमृतमेव वितर्कयामः ॥४९॥

व्याख्या—यस्याः—विशालायाः । अमृतं—पयः 'पयः कीलालममृतमि'त्यमरः । किमु—किम्विति प्रश्नकाकुः । प्रसिद्धम्—समुद्रोत्पन्नम् । अमृत—सुधा । न ?—अपि तु तदेव, कुत इत्याह । यत्—यस्मात् । तत् माधुर्यधुर्यम्—माधुर्यस्य धुर्यम् अग्र्यं सर्वाधिकमधुरमित्यर्थः । किञ्चोपमानेन सादृश्यप्रतियोगिना विवर्जितं

रहितम्, उपमानविवर्जितम्—नहि तत्सदृशं किमपि, यत्तदुपमानं स्यादिति भावः। नन्वमृतमेवोपमानं वर्तते इति चेन्न—तदाह। यदि अन्यद्—अस्योपमानममृतादि। भवेत्—स्यात्। कुतः— कस्माद्धेतोर्न परिदृश्यते—अवलोक्यते, यदि हि स्यात् परिदृश्येत, न च दृश्यते। तस्मात् तद्विशालाजलमपि। अमृतमेव—अन्यस्यानुपलब्धेः, इति वितर्कयामः—निश्चिनुमः। अत्र चानुमानाऽलङ्कारः, स्फुट एव पञ्चावयववाक्यस्यैव प्रयोगात् ॥४९॥

अथ तत्र धार्मिकजनसत्त्वमाह—एकाग्रमानेति—

एकाग्रमानसतया महतां जिनेन्द्रान्, साधून् गुरून् प्रणमतां ददतां धनानि।
साधर्मिकानपि च भोजयतां यथेच्छं, यस्यां दिनानि किल पुण्यवतामगच्छन् ॥५०

व्याख्या—यस्यां—विशालायाम्। एकाग्रमेकतानमचञ्चलं मानसं यस्य तद्भावस्तत्ता तया एकाग्रमानसतया—श्रद्धयेत्यर्थः। जिनेन्द्रान् साधून् गुरून् प्रणमतां। तथा धनानि ददताम्—दानं कुर्वतामित्यर्थः। अपि—पुनः। साधर्मिकान्—समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः त एव साधर्मिकास्तान् सजातीयान्। यथेच्छम्—इच्छानुरूपं। भोजयताञ्च पुण्यवतां—धार्मिकाणां। महताम्—उदारचित्तानां। दिनानि—दिवसाः। अगच्छन्—व्यतियन्ति स्म। किलेति—प्रसिद्धौ। धर्माचरणेनैव तत्रत्यानां दिनानि व्यतियन्ति स्मेति भावः ॥५०॥

अथ तत्र गुणसम्पत्तिमाह—सद्विद्ययैवेति—

सद्विद्ययैव विनयः कृपयैव धर्मः, स्नेहः प्रकर्षमतुलं कलयन्प्रकृत्या।
त्यागः श्रिया सह समेत्य कुटुम्बभाव-मापद्य यत्र वसति स्म नयेशभाजि॥५१॥

व्याख्या—यत्र नयेशभाजि—नयेशं नीतिमन्तं भजतीति तस्याम् नीतिमज्जनविराजितायाम्, यद्वा नयेशं प्रकृष्टनयं भजतीति तस्यां विशालायाम्। सद्विद्यया एव विनयः कृपया एव धर्मः स्नेहः—प्रेमाः। प्रकृत्या—स्वभावेनैव। अतुलम्—अनुपमं। प्रकर्षम्—अतिशयं। कलयन्—धारयन्। त्यागः—दानं। श्रिया—सम्पत्त्या। सह समेत्य—मिलित्वा। कुटुम्बभावम्—सपरिजनत्वम्। आपद्य—प्राप्य। वसति स्म—विद्यावान् विनयी कृपाशीलः धर्मात्मा प्रकृत्या स्नेही, दानी, लक्ष्मीवान् तत्रत्यः प्रत्येकं लोक इत्यर्थः, नतु गुणानां परस्परं विरोध इति भावः ॥५१॥

अथ तत्र शिप्रानामनदीत्याह—वाराणसीति—

वाराणसी दिविषदापगया यथैव, पाथोब्जिनीशसुतया मथुरा यथैव ।
श्रीकोशलाऽपि नगरी च यथा सरय्वा, या शिप्रयैव सरिताऽपि तथा विभाति ॥५२

व्याख्या—**यथैव**—दिविषदो देवाः तेषामापगा नदी गङ्गा तया दिविषदापगया-वाराणसी काशी । **यथैव, पाथोब्जिनीशसुतया**—पाथः जलम् तज्जाता अब्जिनी कमलिनी तस्याः ईशः सूर्यः "ग्रहाब्जिनी-गो-द्यु-पतिः" इति हैमः, तस्य सुतया कन्यया, यमुनया नद्या 'सूर्यतनया यमुना', इत्यमरः । **मथुरा**—तन्नाम-नगरी । **अपि**—पुनः । **यथा च श्रीकोशला नगरी**-अयोध्यापुरी । **सरय्वा**—सरयूनामनद्या, च विभाति । **तथा या**—विशाला नगरी । **शिप्रया**—शिप्रानाम्न्या । **एव सरिता**—नद्याऽपि । **विभाति**—शोभते, अत्रैकस्मि-न्नेवानेकोपमानस्य प्रदर्शनात् मालोपमानामाऽलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते इति ॥५२॥ (पञ्चभिः कुलकम्)

अथ तन्नगरराजं वर्णयति-**लोकेति** —

लोकप्रशासननिमित्तविधौ नृसिंहः, प्रत्यर्थिपार्थिवमहेभविभेदसिंहः ।
आसीन्महीपतिरशेषमहेन्द्रसिंह-स्तत्राभिधानविदितः स तु वैरिसिंहः ॥५३॥

व्याख्या—**तत्र तु**—विशालायाम् । **लोकप्रशासननिमित्तविधौ**—लोकानां प्रजानां यत्प्रशासनं स्व-स्वकार्यप्रवर्त्तनं तन्निमित्तविधौ तदुद्देश्यकक्रियायाम् । **नृसिंहः**—नृसिंह इव उग्रः, यद्वा नृषु मनुष्येषु सिंह इव सिंहः नृसिंहः, एतेन लोकानां स्वाचरणवैमुख्यसम्भावना निरस्ता, तथा । **प्रत्यर्थिपार्थिवमहेभविभेद-सिंहः**—प्रत्यर्थिनः विद्वेषिणो ये पार्थिवाः राजानः महेभाः महागजाः इव तेषां विभेदे विनाशने सिंह इव । तथा **अशेषमहीन्द्रसिंहः**—अशेषेषु समस्तेषु महीन्द्रेषु राजसु सिंहः; सिंह इव पराक्रमशालित्वात् । **अभिधानविदितः**—अभिधानेन नाम्ना विदितः ख्यातः । **स**—प्रसिद्धः । **वैरिसिंहः**—इत्याख्यः । **महीपतिः**—राजा । **आसीत्** ॥५३॥

अथ तस्य राज्ञः दानशौण्डत्वमाह—**एकेन येनेति** —

एकेन येन सकलार्थिसमीहितानि, सम्पादितानि समवेक्ष्य विलज्जमानाः ।
ते दुर्गमेरुगिरिगह्वरबद्धवासाः, पञ्चापि नूनमभवन्सुरशाखिनोऽपि ॥५४॥

व्याख्या—**येन**—वैरिसिंहनृपेण । **एकेनैव**—सकलानामर्थिनां याचकानां समीहितानि अभिलषि-तानि । **सकलार्थिसमीहितानि सम्पादितानि समवेक्ष्य**—विलोक्य । **विलज्जमानाः**—त्रपावन्तः वयं पञ्च-

याचकसमीहितानि सम्पादयामः, अयं त्वेक एवेति लज्जाहेतुरिति भावः। ते–प्रसिद्धाः। पञ्च–सन्तानादयः। अपि–सुराणां देवानां शाखिनः सुरशाखिनः–कल्पद्रुमाः। नूनं–निश्चयेन, दुर्गं गन्तुमशक्यं यत् मेरुगिरेः गह्वरं कन्दरः तत्र बद्धः कृतः वासः यैस्ते दुर्गमेरुगिरिगह्वरबद्धवासाः अभवन्–अन्योऽपि हि लज्जया दर्शन-भयादगम्यं स्थानमाश्रयतीति भावः। अत्र स्वभावत एव मेरुस्थितेषु कल्पवृक्षेषु लज्जमानत्वेन सम्भावनान्नूनं शब्दवाच्योत्प्रेक्षालङ्कारः ॥५४॥ ॥ युग्मम् ॥

अथ तस्य राज्ञः स्त्रियं वर्णयति—जायाऽपीति—

जायाऽपि तस्य समजायत सोमचन्द्रा, स्वाङ्गोत्थगौरिमपराजितसोमचन्द्रा।
आस्यप्रभाहसितशारदसोमचन्द्रा, सौजन्यवासपरिवर्द्धितसौम्यचन्द्रा ॥५५॥

व्याख्या—तस्य–वैरिसिंहस्य। जाया–भार्या। सोमचन्द्रा–तन्नाम्नी। अपि–स्वाङ्गोत्थः निजावयवसमुद्भूतो यो गौरिमा गौरवर्णता तेन पराजितौ अधःकृतौ सोमः चन्द्रः चन्द्रसंज्ञः कर्पूरश्च यया सा स्वाङ्गोत्थगौरिमपराजितसोमचन्द्रा–"सोमो ग्लौ मृगाङ्कः" घनसारश्चन्द्रसंज्ञः कर्पूरः" इत्यमरः। चन्द्रकर्पूराभ्यामप्यधिकगौरवर्णा, तथा आस्यस्य मुखस्य या प्रभा कान्तिः तया हसिता तिरस्कृता शारदस्य शरदृतुस्थस्य सोमस्य चन्द्रस्य चन्द्रा चन्द्रिका यया सा। आस्यप्रभाहसितशारदसोमचन्द्रा–चन्द्रिकाया अप्यधिकाह्लादकमुखकान्तिः तथा सौजन्यस्य सत्प्रकृतित्वस्य वासेनाश्रयणेन परिवर्धितः लक्ष्णया प्रसादितः सौम्यो बुधः 'रोहिणेयो बुधः सौम्य' इत्यमरः, चन्द्रः राजा च यया सा। सौजन्यवासपरिवर्धितसौम्यचन्द्रा–निजस्वभावेन प्रसादितसर्वलोका। समजायत–अभूत् ॥५५॥

अथ तामेव प्रकारान्तरेण वर्णयति—सौभाग्येति—

सौभाग्यलक्षणगुणेन विचक्षणा या, कात्यायनीं पशुपतेर्दयितामजैषीत्।
उल्लासियौवनविलासमनोहराङ्गी, किं शक्तिरप्रतिहता नहि निर्ममीते ॥५६॥

व्याख्या—या विचक्षणा–बुद्धिमती सोमचन्द्रा। सौभाग्यलक्षणगुणेन–सौभाग्यलक्षणेन गुणेन कृत्वा। पशुपतेः–शिवस्य। दयितां–प्रियां। कात्यायनीं–पार्वतीम्। अजैषीत्–अधोऽकार्षीत्। "उमा-कात्यायनी" इत्यमरः। ननु मानुष्याः पशुपतिदयिताजयो नोपपद्यते इति चेत्तत्राह, उल्लासि उद्गमनशीलं यद्यौवनं तारुण्यं 'तारुण्यं यौवनं समे" इत्यमरः, तस्य विलासेन सञ्चारेण मनोहराण्यङ्गानि यस्याः सा उल्लासि-यौवनविलासमनोहराङ्गी–रमणी। अप्रतिहता–अमोघा। शक्तिः–अस्त्रविशेषः सामर्थ्यं वा, सेव। किं

नहि निर्मिमीते—अपितु सर्वमेव कर्त्तुं प्रभवति इत्यर्थः, तथा च तादृश्या सोमचन्द्रया कात्यायनीजयो नानुपपन्नः ॥५६॥

अथ मङ्गलकुम्भपितरं वर्णयति—श्रेष्ठीति—

श्रेष्ठी वरिष्ठगुणरत्नमहासमुद्र-स्तत्राजनिष्ट सुमतिर्धनदत्तनामा ।
राजप्रसादसदनं सदनन्तकीर्तिः, संख्यातिगद्रविणनिर्जितराजराजः ॥५७॥

व्याख्या—तत्र—विशालायाम् । वरिष्ठगुणरत्नमहासमुद्रः—वरिष्ठानि श्रेष्ठानि गुणा एव रत्नानि तेषां महासमुद्र इव । सुमतिः—धीमान् । राजप्रसादसदनम्—राज्ञः प्रसादः प्रसन्नता तस्य सदनमास्पदम्, नृप-कृपापात्रम्, सती उत्तमा अनन्ता च कीर्तिर्यस्य स सदनन्तकीर्तिः । संख्यामियत्तामतिगच्छन्तीति तानि संख्यातिगानि यानि द्रविणानि द्रव्याणि स्वर्णरत्नादीनि तैः कृत्वा निर्जितः अधीरीकृतः राजराजः धनाधिपः कुबेरः येन स संख्यातिगद्रविणनिर्जितराजराजः—धनदो 'राजराजो धनाधिपः',इत्यमरः । धनदत्तनामा श्रेष्ठी अजनिष्ट—जातः ॥५७॥

सम्प्रति तस्मिन् सम्यग्दर्शनं निरतिचारमाह—शङ्कामिति—

शङ्कां कदापि न चकार विकारहीनो, नाकाङ्क्षणं क्वचन यो विचिकित्सनं न ।
मिथ्यादृशां स्तवनसंस्तवने न चापि, सम्यक्त्वमात्ररतिरेव विवेकपात्रम् ॥५८॥

व्याख्या—यः विवेकपात्रम्—विवेकस्य सदसद्भेदज्ञानस्य पात्रं भाजनम्, धनदत्तः, सम्यक्त्वमेव सम्यक्त्वमात्रं तस्मिन् रतिरनुरागो यस्य स—सम्यक्त्वमात्ररतिः एव—अभूदिति शेषः । अत एव विकारहीनः—विकारेण मिथ्यावासनादिना हीनः, निर्मलान्तःकरणः । कदापि शङ्कां—जिनोदिततत्त्वसंशयं । न चकार, आकाङ्क्षणम्—अन्यधर्मग्रहणेच्छाम्, न चकार । क्वचन—कुत्रापि । विचिकित्सनं—जिनोदित-क्रियाफलसंशयं न चकार, तथा । मिथ्यादृशां—वीतरागवचनश्रद्धारहितानां । स्तवनसंस्तवने—स्तवनं स्तुतिः संस्तवनं परिचयश्च ते 'संस्तवः स्यात् परिचयः' इत्यमरः, न चकार, सम्यक्त्वपूतान्तःकरणानां हि कुतः श्रद्धाव्यवसर इति भावः ॥५८॥

यो वीतरागपदपूजनमाचचार, यः श्रद्धया गुरुपदप्रणतिं चकार ।
धर्मं दयासमुदितं हृदि यो बभार, रत्नत्रयं परमभूषणमाश्रयद्यः ॥५९॥

व्याख्या—यः—धनदत्तः। वीतरागपदपूजनम्—वीतरागस्य जिनेश्वरस्य पदयोः पूजनम्। आचचार—कृतवान्, तथा। यः—धनदत्तः। श्रद्धया—भक्त्या च। गुरुपदप्रणतिं—गुरोः सद्गुरोः पदयोः प्रणतिं वन्दनं। चक्रार। यश्च हृदि दयासमुदितं—दयया कृपया समुदितं समन्वितं। धर्मं बभार—दधार। यश्च रत्नत्रयं—सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रलक्षणं। परमभूषणम्—परममुत्तमोत्तमं भूषणमलङ्कारणम्। आश्रयद्—दधौ, सम्यग्दर्शनादित्रयाराधनां चक्रार स श्रेष्ठी तत्राजनिष्टेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥५९॥

अथ तस्य भार्या वर्णयति—भार्यापीति—

भार्याऽपि तस्य समपद्यत सत्यभामा, चन्द्रावदातघनसातगुणाभिरामा।
पुण्यानुभावपरिपूरितचित्तकामा, शीलश्रियावमतविश्वविवर्त्तिवामा ॥६०॥

व्याख्या—तस्य—धनदत्तस्य। भार्या—पत्नी। अपि चन्द्रावदातघनसातगुणाभिरामा—चन्द्रवदबदातैः विशुद्धैः घनैः बहुभिः सातैः सुखकरैः, मङ्गलमयैर्वा गुणैः दाक्षिण्यादिभिः कृत्वा अभिरामा मनोहरा। पुण्यानुभावपरिपूरितचित्तकामा—पुण्यस्य योऽनुभावः प्रभावः तेन परिपूरितः सम्पादितः चित्तकामः मनोरथो यस्याः सा तादृशी, तथा। शीलश्रिया—शीलस्य सच्चारित्रस्य श्रिया शोभया यद्वा शीलेन श्रिया च। अवमतविश्वविवर्तिवामा—अवमताः तिरस्कृताः विश्वे संसारे विवर्त्तिन्यः वर्त्तमानाः वामाः नार्यः यया सा तादृशी। सत्यभामा—तन्नाम्नी। समपद्यत—अभूत् ॥६०॥

तस्याः शीलदार्ढ्याय पुनराह—अर्द्धाङ्गदानेति—

अर्द्धाङ्गदानकपटेन महेश्वरेण, संरक्ष्यमाणनिरवग्रहविभ्रमां यत्।
गौरीं जहास धनदत्तधनेशपत्नी, व्रीडां वहन्त्यजनि तेन च साऽत्र काली ॥६१॥

व्याख्या—धनदत्तधनेशपत्नी—धनदत्तनामा यो धनेशः श्रेष्ठी तस्य पत्नी सत्यभामा। महेश्वरेण—शिवेन। अर्धाङ्गदानकपटेन—अर्द्धाङ्गस्य यद्दानं वामेनार्द्धाङ्गेन धारणम्, तद्रूपेण कपटेन च्छलेन। संरक्ष्यमाणनिरवग्रहविभ्रमां—संरक्ष्यमाणा चासौ निरवग्रहः निरङ्कुशः विभ्रमः विलासो यस्याः सा तादृशी तां, शिवेन हि न प्रेम्णाऽर्धाङ्गदानं कृतं किन्तु निरवग्रहविभ्रमेयं शीलं मा नशदिति धियेति भावः। अर्धनारीनटेश्वररूपेण शिवः गौरीमर्धाङ्गेन दधाविति पुराणम्। गौरीं—पार्वतीं गौरवर्णां। यत्—यस्मात्। जहास—हसितवती, तव शीले न तव पत्युविश्वासः, यतस्त्वं निरवग्रहविभ्रमेत्येवमनादरसूचकम् हासं चकार। तेन—हेतुना। चात्र सा—गौरी। व्रीडां—लज्जां। वहन्ती—लज्जिता सती। काली—कालवर्णा कालीति प्रसिद्धा।

अजनि—जाता। लज्जाया एवानुभावो वैवर्ण्यं तस्याः, नतु तत्र कारणान्तरमस्तीति भावः। अत्र लज्जया गौर्याः काळीत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥६१॥

अथ तया तस्य भोगसुखमाह—सार्द्धमिति—

सार्द्धं तयाप्यनुभवन् विषयोत्थसौख्यं, मासानिवागमयदद्भुतऋद्धिरब्दान्।
मासान् दिनानिव दिनानिव सोऽपि यामान्, यामान् क्षणानिव विचक्षणमौलिरत्नम्

व्याख्या—तया—तादृश्या। अपि सार्द्धं—सह। विषयोत्थसौख्यं—विषयेण पञ्चेन्द्रियविषयेणोत्थं जन्यं सौख्यं सुखम्। अनुभवन्—भुञ्जानः। अद्भुतऋद्धिः—अद्भुता असाधारणा ऋद्धिः सम्पत्तिर्यस्य स तादृशः। अत्र ऋकारे परे 'ऋत्यक,' इति पाणिनीयसूत्रेणासन्धिः। तथा विचक्षणमौलिरत्नं—विचक्षणानां पण्डितानां मौलौ रत्नमिव विद्वद्वरिष्ठः। सोऽपि—धनदत्तोऽपि। अब्दान्—वत्सरान् "संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समा" इत्यमरः। मासानिव, मासान् दिनानिव, दिनान् यामानिव—प्रहरानिव। यामान् क्षणानिव, अगमयत्—व्यत्याययति स्म। नहि सुखे कालगतिर्लक्ष्येति भावः ॥६२॥

अथ तस्य पुत्रचिन्तां प्रस्तौति—अन्येद्युरिति—

अन्येद्युरात्मसदनं समुपेत्य भूप—प्रासादतः सुदयया परिवीतमूर्तिः।
पूजां वितत्य भुवनाधिपतेः प्रदोषे, संभाव्य विभ्रमवचोभिरसौ स्वजायाम् ॥६३
निद्रासुखं समनुभूय निशावसाने, किञ्चिद्विचिन्तयति स स्म परं प्रबुद्धः।
मुक्ताफलानि यवनालकराशिवन् मे, हर्म्ये बृहत्कुवलिकाफलमानवन्ति ॥६४॥

व्याख्या—अन्येद्युः—एकदा। सुदयया परिवीतमूर्तिः—सम्यग्दयाधर्मेण परिवीता व्याप्ता मूर्तिः स्वरूपं यस्य स तादृशः, मूर्तिसंलक्ष्यदयालुभावः। असौ—धनदत्तः। भूपप्रासादतः—भूपस्य राज्ञः प्रासादतः हर्म्यतः। आत्मसदनं—स्वगृहं। समुपेत्य—आगत्य। प्रदोषे—सायङ्काले, भुवनाधिपतेः—वीतरागस्य जिनेशितुः। पूजां, वितत्य विभ्रमवचोभिः—कृत्वा, विभ्रमस्य विलासस्य वचोभिः वचनैः परिहासवचनैः। स्वजायां—निजभार्यां सत्यभामां। संभाव्य—सम्मान्य। निद्रासुखम्, समनुभूय—सुप्त्वा। निशावसाने—रात्र्यन्ते। परं—केवलं सुतरां। प्रबुद्धः—विनिद्रः सन्। सः किञ्चिद्—किमपि। विचिन्तयति स्म—किं विचिन्तयति स्मेत्याह। मे—मम। हर्म्ये—गृहे। यवनालकराशिवत्—यवनालकः योनलाऽऽख्यधान्यविशेष—

स्तस्य राशिः सञ्चय इव "यवनालस्तु योनलः ।" इति हैमः । बृहत्कुवलिकाफलमावनन्ति–बृहत्महत्-कुत् कुवलिकायाः बदर्याः फलं तस्येव मानं प्रमाणमेषामिति तानि तादृशानि 'कर्कन्धुः कुवली केलिर्वदरी' इति हैमः । मुक्ताफलानि मौक्तिकानि, सन्तीति शेषः । अत्र लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनादुदात्तालङ्कारः । तल्लक्षणं तु लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते इति एवमग्रेऽपि ॥६३॥६४॥

पुनस्तस्य चिन्तामेव प्रपञ्चयति—क्षौमाणीति—

क्षौमाणि सन्ति विविधानि विचित्रभाञ्जि, गौणीवदङ्गणगतानि परःशतानि ।
मृत्सेष्टकावदमिताः कनकेष्टकाश्च, पाषाणवद्रजतखण्डकदम्बकानि ॥६५

व्याख्या—गोणी शाणी 'शाणी गोणी छिद्रवस्त्रे', इति हैमः । गौण्य इवेति गौणीवत्, अङ्गणगतानि–अङ्गणे प्राङ्गणे गतानि स्थितानि । परःशतानि–शताधिकानि । विचित्रभाञ्जि–विचित्रं विविधवर्णं भजन्ति इति तानि चित्रवर्णानि । विविधानि–नैकप्रकाराणि । क्षौमाणि–दुकुलानि,पट्टावासांसि 'क्षौमं दुकूलं' इत्यमरः । यथा गोण्यः सर्वसुलभाः परःशताः प्राङ्गणे विलसन्ति तथा अतिदुर्लभान्यपि क्षौमाणि, इत्यर्थः । तथा मृत्सेष्टकावत्–मृत्सा प्रशस्तमृत्तिका "प्रशस्ता तु मृत्सा" इत्यमरः । तस्याः इष्टका पक्वपिण्डविशेषः, तद्वत् । अमिताः–असंख्याताः । कनकेष्टकाश्च–कनकस्य सुवर्णस्य इष्टकाः पुनः तथा । पाषाणवत्–पाषाणः प्रस्तरः तद्वत् स इव । रजतखण्डकदम्बकानि–रजतानां खण्डाः फलकविशेषाः तेषां कदम्बकानि समूहाः राशयः । सन्ति–हर्म्ये इत्यनुषज्यते ॥६५॥

इदानीमश्वसम्पत्तिमाह—वाहादिवाकरेति—

वाहा दिवाकरमहारथवाहवाह – दर्पापहारपटिमानममी वहन्तः ।
संख्यातिगाः किमिह सन्ति न मन्दुरायां, सप्ताननं प्रथितनामतया हसन्तः ॥६६

व्याख्या—इह–अत्र मम । मन्दुरायां–वाजिशालायाम् 'वाजिशाला तु मन्दुरा'इत्यमरः । अमी–परिदृश्यमानाः । दिवाकरमहारथवाहवाहदर्पापहारपटिमानं–दिवाकरस्य सूर्यस्य यो महारथः विशालो रथः तं वहन्तीति ते तादृशाः ये वाहा, अश्वाः "वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धव सप्तयः", इत्यमरः । तेषां दर्पस्य अस्माकमेवैवं सामर्थ्यमित्येवं रूपस्य गर्वस्यापहारे दूरीकरणे पटिमानं नैपुण्यं । वहन्तः–दधतः । प्रथितनामतया–प्रख्यातनामतया । सप्ताननम्–आदित्यार्धं । हसन्तः–तिरस्कुर्वन्तः । संख्यातिगाः–अपरिमिताः । वाहाः–अश्वाः । न सन्ति किम् ?–अवश्यमेव सन्तीत्यर्थः ॥६६॥

सम्प्रति वृषभान् वर्णयति—ईशानवाहनेति—

ईशानवाहनमहावृषभानुकारा, भाङ्कारनादजितभाद्रपदाम्बुवाहाः ।
कैलासशैलशिखरोच्चतरप्रमाणाः, मद्गोकुलेऽत्र वृषभा बहवोऽपि सन्ति ॥६७

व्याख्या—**मद्गोकुले**—मम गोकुले गोष्ठे 'व्रजं स्यात् गोकुलं गोष्ठमि'त्यमरः । **अत्र, बहवः**—अपरिमिताः । **ईशानवाहनमहावृषभानुकाराः**—ईशानस्य शिवस्य वाहनं यानं 'ईशानः शङ्करः', इत्यमरः । यो महावृषभः नन्दिनामवृषः ईशानस्य ईशानेन्द्रस्य द्वितीयकल्पाधिपतेर्वाहनं वृषभो वा, तमनुकुर्वन्तीति तादृशाः, शिववृषभतुल्याः ईशानेन्द्रवृषभतुल्या वा, तथा **भाङ्कारनादजितभाद्रपदाम्बुवाहाः**—भाङ्कारनादेन हम्भारावेण जितः परामूतः भाद्रपदमासस्याम्बुवाहो मेघो यैस्ते तादृशाः मेघवद्गर्जमानाः । तथा **कैलासशैलशिखरोच्चतरप्रमाणाः**—कैलासनामा यः शैलः पर्वतः तस्य शिखरात् शिखरमपेक्ष्य उच्चतरमुन्नततरम् प्रमाणं मानमुच्छ्रायमानं येषां ते तादृशा अत्युच्चाः । **वृषभाः**—बलीवर्दा । **अपि सन्ति** ॥६७॥

सम्प्रति रत्नादिसमृद्धिमाह—वज्राकरेऽपीति—

वज्राकरेऽपि न भवन्ति च यानि वज्रा-ण्यत्रैव तानि बहुधा द्युतिमन्ति सन्ति ।
माणिक्यमुख्यमणिसञ्चय एव सर्वः, सर्वात्मनैव गगने यदिवोडुचक्रम् ॥६८

व्याख्या—**वज्राकरेऽपि**—वज्राणां हीरकाणामाकरः खानिः तत्रापि । **यानि वज्राणि**—हीरकाणि । **न भवन्ति**—'वज्रोऽस्त्री हीरकं पवा', वित्यमरः । **द्युतिमन्ति**—भास्वराणि । **बहुधा**—अनेकप्रकाराणि । **तानि**—वज्राणि । **अत्रैव**—मम हर्म्ये । **एव सन्ति** । तथा **सर्व एव माणिक्यमुख्यमणिसञ्चयः**—माणिक्यं मुख्यं प्रधानं येषां तेषां मणीनां सञ्चयः राशिः । **सर्वात्मना**—सर्वप्रकारेणैव—सर्वप्रकारमाणिक्यादिरत्नराशिर्मम हर्म्य इत्यर्थः । **गगने**—आकाशे । **उडुचक्रं**—नक्षत्रसमूहः । **यदिव**—यथा तथा मम हर्म्ये रत्नसमूह इत्यर्थः । अत्र हीरकाणां वज्राकरेऽसत्वेऽपि गृहे सत्त्वोक्तेः विभावनाऽलङ्कारः । गृहे हीरकसत्वं हि वज्राकरे सत्वे एवेति हेतुं विना कार्योत्पत्तिवर्णनात्, तल्लक्षणं यथा—'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते', इति । यानि वज्राकरे न तानि कुतो गृहे इति विरोधाभासः, विरोधपरिहारस्तु पूर्वं वज्राकरे आसन्, इदानीं तु न तथा तत्र सन्तीति दुर्लभहीरकराशिर्मम हर्म्ये इति ध्वनिः । एवञ्च द्वयोः संकरः, उत्तरार्धे तूपमा निरपेक्षेति त्रयाणां संसृष्टिरलङ्कारः इति ॥६८॥

सम्प्रति तनयाभावे सर्वमेतदनर्थकमित्याह—सर्वं तदेतदफलमिति—

सर्वं तदेतदफलं तनयं विना मे, विद्यास्थितेर्गुणगणो विनयं विनेव ।
स्फाती रसेशितुरनल्पनयं विनेव, चारित्रमुज्ज्वलतरं च शमं विनेव ॥६९॥

व्याख्या—तदेतत्–पूर्ववर्णितं । सर्वम्–अखिलमेव । तनयं–पुत्रं । विना विद्यास्थितेः–विद्यायां स्थितिरवस्थानं यस्य तस्य विदुषः । गुणगणः–गुणसमूहः । विनयं–नम्रतां । विना इव, रसेशितुः–महीपतेः । स्फातिः–समृद्धिः । अनल्पनयं–अनल्पोऽपरिमितो यो नयः नीतिः तं । विना इव, उज्ज्वलतरं–विशुद्धं । चारित्रं, शमं–शान्तिवैराग्यादिकं । विना इव च मे मम अफलम्–निरर्थकम्, नहि अपुत्रस्य धनं शोभते, भोगकर्त्तुरभावादिति भावः । अत्र चैकस्मिन्नेव नानोपमानस्य प्रदर्शनान्मालोपमाऽलङ्कारः ॥६९॥

तनयं विना सर्वमफलमिति यदुक्तं तत्रैवोपमानान्तरमपि दर्शयति—नेपथ्यजातमिति—

नेपथ्यजातमखिलं तिलकं विनेव, शीलं विनेव विनयं सुभगं कलत्रम् ।
प्रासादसर्जनमिदं कलसं विनेव, काव्यं सुबद्धमपि चारुरसं विनेव ॥७०॥

व्याख्या—तिलकं–विशेषकं । विना अखिलं–समस्तं । नेपथ्यजातं–वेषरचनासम्भारमिव, शीलं–सदाचरणं । विना विनयं–नम्रतां । सुभगं–सुन्दरं । कलत्रं–नारी । चेव कलसं–प्रासादोपरिविरच्यमानसुवर्णादिकलसं । विना, इदं–प्रत्यक्षं । प्रासादसर्जनं–प्रासादस्य चैत्यस्य सर्जनं निर्माणमिव । चारुरसं–चारु सहृदयहृदयावर्जकं रसं शृङ्गारादिरसं । विना सुबद्धं–शब्दार्थालङ्कारादिग्रथितमपि, काव्यं–कविकर्मेव – तनयं विना मे सर्वमफलमिति पूर्वेण सम्बन्धः । पूर्वोक्तमालोपमायामेतदपि नेयम् ॥७०॥

पुत्रं विना भवनस्याऽपि न शोभेत्याह—पुत्रमिति—

पुत्रं विना न भवनं सुषमा दधाति, चन्द्रं विनेव गगनं समुदग्रतारम् ।
सिंहं विनेव विपिनं विलसत्प्रतापं, क्षेत्रं स्वरूपकलितं पुरुषं विनेव ॥७१॥

व्याख्या—चन्द्रं विना समुदग्रतारं–समुदग्राः समुज्ज्वलाः ताराः नक्षत्राणि यस्मिन् तत्तादृशं । गगनं–व्योमेव । विलसत्प्रतापं–विलसन् प्रकटः प्रतापः प्रभावः यस्य स तादृशं, प्रचण्डपराक्रमं । सिंहं विना विपिनं–वनमिव–'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनमि'त्यमरः । पुरुषं–क्षेत्रज्ञं । विना–'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः', इत्यमरः । स्वरूपकलितं–स्वरूपेण आकृत्या कलितं युक्तं । क्षेत्रं–शरीरमिव, यद्वा स्वरूपविशिष्टं

क्षेत्रं—पत्नी 'क्षेत्रं भारतादौ भगाङ्गयोः, केदारे सिद्धभूपत्न्यो'रिति हैमानेकार्थः । पुरुषं पतिं विनेव । पुत्रं विना भवनं—प्रासादः गृहं वा । सुषमां—परमां शोभां, 'सुषमा परमा शोभे'त्यमरः । न दधाति—धारयति । यथैव चन्द्रादि विना गगनादेर्शोभा न, तथैव पुत्रं विना भवनस्येत्यर्थः । अत्रापि मालोपमा ॥७१॥

अथ तस्य पुत्र प्राप्त्युपायचिन्तामाह—तत्किं करोमीति —

तत् किं करोमि कमहं शरणं प्रपद्ये ? कस्याश्रयामि सुगुरोश्चरणाब्जयुग्मम् ।
यस्य प्रसादवशतस्तनयो ममापि, संपद्यते सपदि सम्मदमादधानः ॥७२॥

व्याख्या—तत्—तस्माद्धेतोः । अहं किं करोमि ? कं शरणं—रक्षितारम्, 'शरणं वधरक्षित्रोः शरणं रक्षणे गृहे' इति कोषः । प्रपद्ये—आश्रयामि ? कस्य सुगुरोः चरणाब्जयुग्मं—चरणाब्जे इव तद्युग्मम् । आश्रयामि ? यस्य—सुगुरोः । प्रसादवशतः—प्रसन्नतातः । सम्मदं—हर्षम् । आदधानः—कुर्वन् । ममापि सपदि—सद्य एव, 'सद्यः सपदि तत्क्षणे', इत्यमरः । तनयः—पुत्रः । सम्पद्यते—स्यात् ॥७२॥

अथ तत्र तत्प्रियायाः समागमनमाह—इत्थमिति—

इत्थं विचिन्तयत एव विभातकृत्यं, यावन्न तस्य मनसो विषयं बभाज ।
तावत् समेत्य रभसात् सह संभ्रमेण, तत्प्रेयसी प्रियमिदं निजगाद वाक्यम् ॥७३

व्याख्या—इत्थं—पूर्वोक्तप्रकारेण । विचिन्तयत एव—सतस्तस्य—धनदत्तस्य । मनसः विषयं—गोचरतां गतम् । विभातकृत्यं—विभातस्य प्रभातस्य 'व्युष्टं विभातं द्वे क्लीवे पुंसि गोसर्ग इष्यते, प्रभातञ्च' इत्यमरः । कृत्यं कार्यं । यावन्न बभाज—प्राप । तावदेव सम्भ्रमेण—त्वरया । सह रभसाद्—वेगेन हर्षेण वा 'रभसो वेगहर्षयो'रित्यमरः । तत्प्रेयसी—तस्य प्रेयसी प्रियतमा । समेत्य—समागत्य । प्रियं—स्वकान्तम्, प्रीतियुक्तं वा । इदं—वक्ष्यमाणं । वाक्यं—वचनं । निजगाद ॥७३॥

सा यदाह तद् प्रपञ्चयति—किं द्रव्यहानीति—

किं द्रव्यहानिरभवद्भवतां कुतश्चित्, किं यानपात्रमुदधौ निममज्ज किञ्चित् ?
काचिद्रुजा किमुत बाधत एव देहे, दुःस्वप्नदर्शनमहो किमथापि जज्ञे ॥७४॥

व्याख्या—अहो—आश्चर्ये । भवतां—युष्माकम् । कुतश्चिद्धेतोः । द्रव्यहानिः—वित्तनाशः । अभवत् किम् ?, किञ्चित्—किमपि । यानपात्रं—वित्तपरिपूर्णः पोतः । उदधौ—समुद्रे । निममज्ज—मग्नं । किम् ?

देहे—शरीरे। काचित्, रुजा—रोग एव बाधते—व्यथते। किमुत ? अथापि—अथवा। दुःस्वप्नदर्शनं जज्ञे किम्—अनिष्टसूचकः स्वप्नो विलोकितः। किमिति—वितर्कः ॥७४॥

तस्याः वितर्कान्तरमाह—राज्ञोऽपमानमिति—

राज्ञोऽपमानमथवा हृदये दधध्वे, योषां विशेषसुभगां यदिवापि काञ्चित् ।
चिन्तां यतो वहथ तेन वितर्कयामि, नाकारणं किमपि कार्यमवेक्ष्यते हि ॥७५॥

व्याख्या—अथवेति—पक्षान्तरे। हृदये—मनसि। राज्ञः—राजसम्बन्धि राजकृतमित्यर्थः। अपमानं—मानहानिम्। यदि वापि—अथवा। काञ्चिद् विशेषसुभगां-मत्तोऽप्यधिकरमणीयां। योषां—नारीं 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूरि'त्यमरः। दधध्वे—धारयथ ? यतः—यस्माद्धेतोः। चिन्तां वहथ, तेन—हेतुना। वितर्कयामि—ऊहे। तत्र हेतुमाह। हि—यतः। किमपि कार्यम् अकारणम्—अकस्मात्। न अवेक्ष्यते—विलोक्यते, अतः चिन्ताकारणेन केनाऽपि भवितव्यमेवेति भावः ॥७५॥

ननु गोप्यञ्चेच्चिन्ताकारणं कथङ्कारं कथनीयमित्याशङ्क्याह—मत्तो न चेदिति—

मत्तो न चेद् हृदयनायक ! गोप्यमस्ति, सद्यः प्रसद्य तदिदं स्वयमेव वाच्यम् ।
यस्मान्मुखेन्दुवचनामृतमाऽऽप्य पत्युः, स्त्रीणां मनांसि समदं प्रमदं वहन्ति ॥७६॥

व्याख्या—हृदयनायक !—प्राणेश्वर ! मत्तः—मामपेक्ष्य। गोप्यम्—अप्रकाश्यं। चेन्नास्ति तत्—तदा। सद्यः—सपदि। प्रसद्य—प्रसादं कृत्वा। स्वयमेव—ननु केनाऽपि द्वारेण। इदं—चिन्ताहेतुः। वाच्यं—कथनीयम्, स्वयमेव वाच्यमित्याग्रहः कुत इति चेत्तत्राह। यस्मात्—यतो हेतोः। स्त्रीणां—नारीणां। मनांसि, पत्युः—स्वामिनः। मुखेन्दुवचनामृतं—मुखमिन्दुश्चन्द्र इव तस्य वचनमेवामृतम्। आप्य—प्राप्य। समदं—सगर्वं पतिकृतबहुमानादिति भावः। प्रमदं—हर्षं। वहन्ति—धारयन्ति प्राप्नुवन्ति वा ॥७६॥

अथ धनदत्तकृतोत्तरं प्रपञ्चयति—तस्या इति—

तस्या निशम्य वचनं गिरमुज्जगार, श्रेष्ठी प्रहृष्टहृदयः सदयः सदक्षः ।
कान्ते ! किमेतदनुदीरितपूर्वमीदृग्, निर्व्याजभक्तिपरया जगदे भवत्या ॥७७॥

व्याख्या—**तस्याः**—सत्यभामायाः । **वचनं निशम्य प्रहृष्टहृदयः**—प्रसन्नः । अथ च **सदयः**—दयैकमूर्त्तिः । **दक्षः**—निष्णातः प्रत्युत्तरकुशलः । **सः**—श्रेष्ठी धनदत्तः । **गिरं**—वाणीम्, 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती'—त्यमरः । **उज्जगार**—उदाजहार, का सा वाणीत्याह । **कान्ते !**—प्रिये ! **निर्व्याजभक्तिभरया**—निर्व्याजा निष्कपटा या भक्तिः प्रेम्णः सेवाभावः तत्परया तदेकतानया । **भवत्या**—त्वया । **अनुदीरितपूर्वम्** ईदृक्—वितर्कयुक्तं वचनं । **किमेतत् जगदे**—न वक्तव्यमित्यर्थः । असतः शङ्केव न कर्त्तव्येति भावः ॥७७॥

अथ सा चिन्ता न त्वत्कृतवितर्कविषयविषयाऽतः वितर्वक्रमेणैव तदपाकरोतिऽतत्र प्रथमं चिन्ताविषयः गोप्यत्वान्निषेधसीति शङ्कानिवारणाय भवत्या किमपि न गोप्यमिति समादधति—**गोप्यमिति**—

गोप्यं बहिर्विषयतः क्रियतेऽपि धीरै-श्चित्तान्न किञ्चन विवेचनचारुबुद्धेः ।
मच्चित्तभित्तिमधिशय्य विरिञ्चिनाऽपि, पाञ्चालिकेव भवती लिखिता नवा किम्॥७८

व्याख्या—**विवेचनचारुबुद्धे !**—विवेचने वितर्के चारुबुद्धिर्यस्याः सा, तत्संबुद्धौ, वितर्ककुशले ? **धीरैः**—धीराजमानैः बुद्धिमद्भिः । **किञ्चन**—रहस्य । **बहिर्विषयतः**—व्यक्त्यन्तरतः । **गोप्यम्**—अप्रकाश्यं । **क्रियतेऽपि चित्तान्न**—तदाधारत्वादिति भावः । नन्वेवमेतत्, किन्तु नाहं तव चित्तम् इति चेत्तत्राह । **किमिति**—प्रश्ने । **विरिञ्चिना**—विधिनाऽपि—अपिना मयाऽपि । **मच्चित्तभित्तिं**—मम चित्तं भित्तिः कुड्यमिव, चित्तमिव भित्तिरिति च ताम् । **अधिशय्य**—आश्रित्य,पट्टत्वेन प्रकल्प्य । **पाञ्चालिका**-पुत्तलिकेव भवती—त्वं । **न वा लिखिता ?**—चित्रिता, अपि त्ववश्यं लिखिता । एवञ्च चित्तस्थत्वाच्चित्तमेव त्वमिति किं गोप्यं स्यात्त्वत्तः इत्यर्थः ॥७८॥

अत्र क्रमशः कृतं वितर्कं निषेधति—**नैवार्थेति**—

नैवार्थहानिरुदधौ न च पोतभङ्गो, रोगो न कोऽपि शयने न च दुर्निरीक्षा ।
क्ष्मावासवस्य मम कोऽपि न चापमान-श्चित्तं न तापयति काचन पद्मनेत्रा ॥७९॥

व्याख्या—**अथहानिः**—अर्थस्य वित्तस्य हानिः नाशः **नैव** । **उदधौ पोतभङ्गः**—पोतस्य यानपात्रस्य भङ्गः भञ्जनं **न च** । **कोऽपि रोगः**—व्याधिः । **न**—'रोगव्याधिगदामयाः', इत्यमरः । **शयने**—स्वप्ने, 'स्यान्निद्राशयनं स्वापः, स्वप्नः संवेश इत्यपि', इत्यमरः । **दुर्निरीक्षा**—अनिष्टावलोकनं **न च** । **मम क्ष्मावासवस्य**—राज्ञः । **कोऽपि**—ईषदपि । **अपमानः न च**—यतः, मम क्ष्मावासवः इति ध्वनिः । **काचन**-त्वदति-

रिक्ता। **पद्मनेत्रा**—पद्मे इव नेत्रे यस्याः सा तादृशी, नारी। **चित्तं न तापयति**—पीडयति, स्वविरहेणेति शेषः ॥८०॥

अर्थहान्यादौ सत्यपि न चिन्ताऽवसरः इत्याह—**अथस्य हानिमिति**—

अर्थस्य हानिमुपलभ्य त एव तापं, कुर्वन्ति येऽर्जयितुमर्थमयेऽसमर्थाः।
अस्मादृशाः पुनरुदारतयाऽर्थहान्या, जल्पन्त्यमङ्गलमुपागतमाहतं नः ॥८०॥

व्याख्या—**अये**!—इति कोमलामन्त्रणे। **अर्थस्य**—विभवस्य 'अर्थैरैविभवा अपी'त्यमरः। **हानिं**—क्षतिम्। **उपलभ्य**—प्राप्य। **ते एव तापं**—दुःखं। **कुर्वन्ति, ये अर्थं**—वित्तम् अर्जयितुम्, उद्योगेन लब्धुम्। **असमर्थाः**—सामर्थ्यरहिताः, अलसा इत्यर्थः। पुनः किन्तु **अस्मादृशाः**—अर्थोपार्जनपटवः। **उदारतया**—उन्नतचेतस्कतया हेतुना। **अर्थहान्या**—वित्तव्ययेन, कृत्वा। **नः**—अस्माकम्। **उपागतं**—प्राप्तम्। **अमङ्गलम्**—अशुभम्, 'कल्याणं मङ्गलं शुभमि'त्यमरः। **आहतं**—विनष्टम्, 'इतीति शेषः। **जल्पन्ति**—कथयन्ति, वित्तापाये कृपणा एव खिद्यन्ति नतूदाराः इति भावः। अत्र धनहानेः प्रतिकूलस्यापि अमङ्गलाऽपगमत्वेनानुकूल्येन वर्णनादनुकूलालङ्कारः, तल्लक्षणं यथा 'अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत्।' तेन च महोत्साहसम्पन्नत्वं व्यज्यते ॥८०॥

पोतभङ्गेऽपि न चिन्तावसर इत्याह—**ताम्यन्तीति**—

ताम्यन्ति केऽत्र जलधावपि पोतभङ्गे, पूजा यतो भवति सा जलदेवतायाः।
तीर्थङ्करस्य हि वरं प्रतिमाप्रतिष्ठा, कालेऽर्हणाप्यभिमता जलदेवतायाः ॥८१॥

व्याख्या—**अत्र**—लोके। **जलधौ**—समुद्रे। **पोतभङ्गे**—पोतस्य यानपात्रस्य भङ्गे त्रुडने। **अपि के ताम्यन्ति**—खिद्यन्ति? न केऽपीत्यर्थः। मादृशाः इति शेषः। अल्पमनस्कानां खेदावश्यम्भावात् न तूच्चैर्मनस्कानां। **यतः**—हेतोः। **सा**—पोतभङ्गरूपा। **जलदेवतायाः**—वरुणस्य। **पूजा भवति**—पोतभङ्गद्वारेण जलदेवता पूज्यते इत्यर्थः। ननु पोतभङ्गेन जलदेवतापूजनं गृहदाहेनाग्निदेवतापूजनवदेवेति चेत्तत्राह। **हि**—यथा। **तीर्थङ्करस्य**—जिनपतेः। **प्रतिमाप्रतिष्ठा**—प्रतिमायाः प्रतिबिंबस्य प्रतिष्ठा मन्दिरादौ सोत्सवसमन्त्रकस्थापनम्। **वरम्**—अभिमतम्। तथेति शेषः। **काले**—तथासमये प्राप्ते। **जलदेवतायाः अर्हणा**—पूजाऽपि—पूजा नमस्याऽर्पाचितिसपर्यार्चाऽर्हणा समा'इत्यमरः। **अभिमता**—इष्टा पोतभङ्गे क्षुद्रा एव खिद्यन्ति, उदारास्तु

अशक्यप्रतिकारत्वाद्भाविनः पूजैवेयं जलदेवतायाः इति मत्वा सन्तुष्यन्ति न तु खिद्यन्ति, पामरत्वानुषङ्गादिति भावः ॥८१॥

रोगोऽपि न चिन्ताकारणं भवितुमर्हतीत्याह—कश्चिन्न रोगमिति—

कश्चिन्न रोगमधिगम्य नरो गतार्थः, सन्तापमाश्रयति विश्रुतबुद्धिधारः ।
यस्मादुपार्जितमवश्यमवेदयित्वा, ज्ञानाश्रयैरपि जिनैर्न च कर्म शक्यम् ॥८२॥

व्याख्या—गतार्थः—सिद्धप्रयोजनः, विदितपरमार्थो वा । अथ च विश्रुतबुद्धिधारः—विश्रुता ख्याता बुद्धिधारा मतिसन्ततिर्यस्य सः, विद्वान् । कश्चिदपि नरः—पुमान् । रोगं—व्याधिम् । अधिगम्य—प्राप्य । सन्तापं—सञ्ज्वरम् 'सन्तापः सञ्ज्वरः समा'वित्यमरः । न—नैव । आश्रयति—"आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः" इत्युक्तेरिति भावः । कुत इत्याह—यस्माद्—हेतोः । ज्ञानाश्रयैः—ज्ञानिभिः । जिनैः—वीतरागैः अपि उपार्जितं—प्राक्सञ्चितम् । कर्म—पुण्यपापरूपम् । अवेदयित्वा—अभुक्त्वा । अवश्यं—ध्रुवम् । न च शक्यम्—क्षपयितुमिति शेषः । जिनैरपि सञ्चितं कर्मावश्यं भोक्तव्यम्, का चर्चा इतरेषामिति । अवश्यं भाविनि भोक्तव्ये न शोचन्ति धीमन्तः इति भावः ॥८२॥

दुःस्वप्नेऽप्यलं चिन्तयेत्याह—दुःस्वप्नमिति—

दुःस्वप्नमापतति भाविविशेषयोगात्, पुंसां सुषुप्तिसमये नियतेर्नियोगात् ।
दुःखं न तत्र विमृशन्ति विवेकभाज-स्तन्वन्ति शान्तिकविधिं खलु तस्य शान्त्यै ॥

व्याख्या—पुमां—नराणां । भाविविशेषयोगात्—भाविविशेषस्य योगात् सम्पर्कात्, भाविफलमधिकृत्य । नियतेः—विधेः । नियोगात्—प्रेरणया । सुषुप्तिसमये—निद्रितावस्थायाम् । दुःस्वप्नम् आपतति—दुःस्वप्नदर्शनं जायते इत्यर्थः । तत्र—तथा सति । विवेकभाजः—ज्ञानिनः । दुःखं न विमृशन्ति—कुर्वन्ति । खलु—किन्तु । तस्य—दुःस्वप्नसूचितानिष्टस्य । शान्त्यै—उपशमाय । शान्तिकविधिं—शान्तिक्रियाम् । तन्वन्ति—अनुतिष्ठन्ति । अपायशमनोपाय एव पुरुषार्थः, चिन्ता तु कापुरुषचेष्टितमिति भावः ॥८३॥

भूपकृतापमानस्यैव न संभवः, कुतश्चिन्तेत्याह—भूपोऽपमानमपि इति—

भूपोऽपमानमपि सुन्दरि ! यत्तनोति, दोषः समाश्रयति तत्र निदानभावम् ।
नास्थायि शैशवभरस्य विपर्ययेऽपि, दोषाश्रितस्य सविधेऽपि मया कदाचित् ॥८४

व्याख्या—सुन्दरि ! भूपः—राजा। अपि यद् अपमानं—तिरस्कारं। तनोति—करोति। तत्र—अपमानविषये। दोषः—अपराधः। निदानभावं—हेतुत्वं। समाश्रयति—दोषे सत्येव भूपस्तिरस्करोति, नत्वन्यथेत्यर्थः। ननु तव निर्दोषत्वे किं प्रमाणमित्याह। शैशवभरस्य—बाल्यावस्थायाः। विपर्यये—परिवर्तने यौवनेऽपि, मया दोषाश्रितस्य—दुर्जनस्य। सविधेऽपि—समीपेऽपि। कदाचित् नास्थायि—निवासः कृतः। मम न दुर्जनसहवासः इति कुतो दोषसम्भव, 'संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ती'त्युक्तेरिति भावः ॥८४॥

नापि योषाविशेषविषयचिन्तेत्याह—नास्पृक्षदिति—

नास्पृक्षदन्यवनितामपि मामकीनं, किञ्चिन्मनस्विनि ! मनः सुकृतोपरुद्धम्।
मिथ्यात्ववृत्तिमिव दुर्गतिपातभीत-मुच्चैस्तरप्रणयभावनिबद्धकक्षाम् ॥८५॥

व्याख्या—मनस्विनि !—उदारचित्ते ! दुर्गतिपापभीतं—दुर्गतौ नरके 'स्यान्नारकतु नरको निरयो दुर्गतिस्त्रियामि'त्यमरः, यः पातः पतनं गमनं तस्मात् भीतम्, अत एव। सुकृतोपरुद्धं—सुकृते धर्मे 'स्याद्धर्ममस्त्रियाम् पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः', इत्यमरः, उपरुद्धम् बद्धम्, यद्वा सुकृतेनोपरुद्धम्, निवृत्तमोहविकृतिकम्। मामकीनं—मम मनः। उच्चैस्तरप्रणयभावनिबद्धकक्षाम्—उच्चैस्तरः अत्युत्कटः यः प्रणयभावः प्रीतिः तत्र निबद्धा कृता कक्षा स्थितिमर्यादा बाहुमूलं मनोवृत्तिरिति भावः। यया सा तां तथा संभावनाविषयामपि। अन्यवनिताम्—इतरयोषां, मिथ्यात्ववृत्तिमिव मिथ्यात्वस्य या वृत्तिः चित्तपरिणामः, तामिव। किञ्चिदपि—ईषदपि। न—नैव। अस्पृक्षत्—अचिचिन्तत्। धर्मिष्ठो हि मिथ्याचारमिव परस्त्रियमपि दूरतः एव त्यजतीति भावः, उपमालङ्कारः ॥८५॥

ननु तर्हि चिन्तायाः को हेतुरित्याह - किन्त्विति —

किन्तु प्रवर्तयति तापमपारमेष, त्वत्कुक्षिजाततनयप्रतिपत्यभावः।
यश्चन्दनेन न च चन्द्रमरीचिचक्रैः, शक्यो निवर्तयितुमेव न गाङ्गवार्भिः ॥८६॥

व्याख्या—किन्तु एषः—विद्यमानः। त्वत्कुक्षिजाततनयप्रतिपत्त्यभावः—त्वत्कुक्षेः त्वदुदरात जातो यस्तनयः तस्य प्रतिपत्तिः प्राप्तिस्तदभावः। अपारम्—असीमम्। तापं—दुःखं। प्रवर्त्तयति—करोति, अनपत्यतया चिन्तितोऽहमित्यर्थः, ननु तापस्य शीतोपचारेणैव शमो विधेय इति चेत्तत्राह। यः—तापः। चन्दनेन—प्रसिद्धशैत्येन मलयजेन। चन्द्रमरीचिचक्रैः—चन्द्रस्य मरीचीनां चन्द्रिकाणां चक्रैः समूहैश्च। न

निवर्तयितुम्–शमयितुं । शक्यः, गाङ्गवारिभिः–गङ्गाजलैरपि । न–नैव, शीतोपचारेण शरीरतापस्य शमः, न तु मनस्तापस्येत्यर्थः ॥८६॥

अथ सत्यभामा पुत्रोपायमाह—श्रुत्वेतीति—

श्रुत्वेति तत्सहचरी वचनं तदस्य, निःश्वस्य गाढमवदद्वदतां वरा सा ।
चिन्तामपास्य कुरु नाथ! विशिष्य पुण्यं, यत् स्यात्तदेव सकलाभिमतार्थसिद्ध्यै ॥

व्याख्या—तत्सहचरी–तस्य धनदत्तस्य सहचरी पत्नी । वदतांवरा–पटुवाक् । सा–सत्यभामा । अस्य–श्रेष्ठिनः । इति–उक्तप्रकारं । तद्वचनं–श्रुत्वा । गाढं–दीर्घं । निःश्वस्य–श्वासं नीत्वा, एतेन तस्या अपि अनपत्यतया अत्यन्तं मनस्तापः सूचितः । अवदत्–किमित्याह । नाथ! चिन्तामपास्य–त्यक्त्वा । विशिष्य–क्रियमाणादपि विशेषेण, पुण्यं । कुरु? यद्–यस्मात् । तदेव–पुण्यमेव । सकलाभिमतार्थसिद्ध्यै–सकलस्याभिमतस्येष्टस्यार्थस्य प्रयोजनस्य सिद्ध्यै । स्यात्–प्रभवेत् । धर्मेणैव पुरुषार्थान्तरस्य सिद्धिरिति भावः ॥८८॥

विशिष्यधर्मप्रकारमेवाह—प्रासादमिति—

प्रासादमारचय तीर्थकृतां नवानि, बिम्बानि तत्र विनिवेशय भावतस्त्वम् ।
पूजां विधापय सुवर्णविचित्रजाति – मुख्यैः सुमैर्भगवतां घनसारसारैः ॥८८

व्याख्या—त्वं, प्रासादं–जिनचैत्यम् । आरचय–निर्मापय । तत्र–चैत्ये । भावतः–भावनापूर्वकम् । तीर्थकृतां–जिनेश्वराणां । नवानि–नूतनानि । बिम्बानि–प्रतिमाः । विनिवेशय–प्रतिष्ठापय । तथा सुवर्ण-विचित्रजातिमुख्यैः–सुष्ठु वर्णो उपलक्षणतया गन्धश्च यासां एवंविधा या विचित्रा नानाविधा जातयः मालत्यः 'जातिस्तु मालती' इतिहैमः, ताः मुख्यं येषु तैः । सुमैः–पुष्पैः । घनसारसारैः–घनसारः कर्पूरः 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः कर्पूरः' इत्यमरः, स सारः प्रधानो येषु तैः सुगन्धिद्रव्यैः । भगवतां–तीर्थ-कृतां । पूजां विधापय–कारय ॥८८॥

पुनः प्रकारान्तमाह—जैनागममिति—

जैनागमं सुभग! लेखय पुस्तकेषु, दत्त्वा वसून्यगणितानि च लेखकेभ्यः ।
पक्वान्नखण्डघृतपायसमुख्यभोज्यैः, साधर्मिकानविरतं प्रिय! भोजय त्वम् ॥८९

व्याख्या—सुभग !—सौम्य ! लेखकेभ्यः—लिपिकारेभ्यः । अगणितानि—अपरिमेयानि । वसूनि—धनानि । दत्वा, पुस्तकेषु, जैनागमं लेखय—तथा प्रिय !, त्वं पक्कान्नखण्डघृतपायसमुख्यभोज्यैः—पक्कान्नं घृतपूरादि खण्डं गुड़ादि, घृतं, पायसं क्षीरान्नं, तानि मुख्यानि येषु तादृशैः भोज्यैः खाद्यपदार्थैः । साधर्मिकान् अविरतं—सततं । भोजय ॥८९॥

साधून् महाव्रतधरान् प्रतिलाभयस्व, वस्त्रान्नपानवरमोदकखादिमाद्यैः ।
साध्वीश्च निर्मितविधापितकल्पितादि-दोषान् विधूय शुचिमानसवृत्तिसक्तः ॥९०

व्याख्या—निर्मितविधापितकल्पितादिदोषान्—निर्मितं साध्वाद्यर्थं स्वयं कृतम् विधापितं परेणकारितम्, कल्पितम् साधुसाध्वीप्रतिलाभननिमित्तं पृथग् रक्षितमित्येवमादीन् दोषान् । विधूय—त्यक्त्वा । शुचिमानसवृत्तिसक्तः—शुचिः पवित्रा या मानसवृत्तिः भावना तत्र सक्तः कृतालंगः सन् । वस्त्रान्नपानवरमोदकखादिमाद्यैः—वस्त्रमन्नं पानं वरं मोदकम् खादिमञ्च तदाद्यैः । महाव्रतधरान्—साधून् । साध्वीश्च, प्रतिलाभयस्व—सुपात्रदानं ददस्वेति भावः ॥९०॥

अथ सत्यभामोक्तिमुपसंहरति—धर्ममिति—

धर्मं समाचरत एवमचिन्तचिन्ता-रत्नं चिरत्नकृतदुष्कृतभङ्गहेतुम् ।
भावी तवापि तनयस्तदिहापि रम्यं, नो चेदमुत्र सुकृताचरणं सुखाय ॥९१॥

व्याख्या—एवम्—उक्तप्रकारेण । अचिन्तचिन्तारत्नं—नास्ति चिन्ता यत्र तादृशं चिन्तारत्नं चिन्तामणिरत्नं तत्तुल्यं । चिरत्नकृतदुष्कृतभङ्गहेतुं—चिरत्नं चिरात्कृतं यद् दुष्कृतं पापं तस्य भङ्गहेतुं नाशकम् । धर्मं, समाचरत, तत्—तस्माद्धर्मात् । इहापि—अस्मिन् लोकेऽपि । तवापि, तनयः—पुत्रः । भावी—स्याद् । नो चेत्—पुत्रो न भवेच्चेद् । रम्यं—पवित्रं । सुकृताचरणं—धर्माचरणं । अमुत्र—परलोके । सुखाय—श्रेयसे स्याद् । अत्र कदाचिदपत्यफलाभावेऽपि परलोके श्रेयःप्राप्तिः फलमवश्यंभावीति न धर्माचरणस्य कदापि वैफल्यामिति तदवश्यं कार्यमिति भावः ॥९१॥

अथ धनदत्तस्य तदुक्तानुसरणमाह—शिक्षामिमामिति—

शिक्षामिमां तदुदितां विदितां महार्था-मादाय नैगमहापुरुषस्तथेति ।
सर्वं तदाप्रभृति तत्सुगुरूपदेश-देशीयमारचयति स्म यथावदेष ॥९२॥

व्याख्या—**तदुदितां**—तया सत्यभामया उदितां कथिताम्। **इमां**—सद्योवर्णितां। **महार्थां**—महान् इतरातिशायी अर्थोऽभिधेयः यस्यास्तां सारवतीम्, अत एव **विदितां**—ख्यातां। **शिक्षां**—सन्मतिम्। **तथेति**—तथास्त्विति। **आदाय**—स्वीकृत्य। **एषः**—प्रस्तुतः। **नैगममहापुरुषः**—नैगमेषु वाणिजेषु महापुरुषः पुरुषश्रेष्ठः "नैगमो वाणिजो वणिक्" इत्यमरः। **तदाप्रभृति**—तदारभ्य। **सुगुरुपदेशदेशीयम्**—सुविहितगुरूपदेशतुल्यम्। **तत्**—पूर्वोक्तं। **सर्वं, यथावत्**—तात्विकेन रूपेण। **आरचयति स्म**—करोति स्म। सदुपदेशानुसारयथार्थवर्त्तनशीलो महापुरुष इति भावः ॥९२॥

अथ तदुक्त्यनुकूलक्रियाप्रकारमेवाह—**आहूयेति**—

आहूय मालिकमसौ द्रविणं व्यतारी-दिच्छातिरिक्तमविलम्बपरो महेच्छः।
पुष्पाणि मे प्रतिदिनं दिवसोदयेऽप्या-नीयार्पयेरिति पुनर्धनवानुवाच ॥९३

व्याख्या—**अविलम्बपरः**—क्षिप्रकारी। **असौ, महेच्छः**—महाभिलाषः श्रेष्ठी। **मालिकं**—मालाकारम्। **आहूय, इच्छातिरिक्तम्**—इच्छायाः अतिरिक्तमधिकं। **द्रविणं**—धनम्। **व्यतारीत्**—अदात्, पुनः। **धनवान्**—इभ्यः सः। **दिवसोदये**—प्रभाते। **प्रतिदिनमपि पुष्पाणि आनीय मे**—मह्यम्। **अर्पयेः**—देहीत्युवाच—आदिष्टवान् ॥९३॥

उत्सूरमारचयिता कुसुमावचाय-मारामिकः स विदधन्निदधत् फलानि।
ध्यात्वेति धार्मिकशिरोमणिरेष शय्यो-त्थायं वनीं स्वयमियाय सलीलगत्या ॥९४

व्याख्या—**सः, आरामिकः**—मालिकः। **फलानि**—रात्रौ तरोः पतितानि। **निदधत्**—संगृह्णन्। **कुसुमावचायं**—पुष्पचयनं। **विदधन्**—कुर्वन्। **उत्सूरं**—सायंकालं 'दिनावसानमुत्सूरः' इति हैमः। यद्वा उद्गतः सूरः सूर्यः यथास्यात्तथा। **आरचयिता**—कर्त्ता, प्रभातकालं व्यतिक्राम्येदित्यर्थः। **इति**—इत्थं। **ध्यात्वा एषः, धार्मिकशिरोमणिः**—धार्मिकेषु शिरोमणिः श्रेष्ठः। **स्वयम्**—आत्मनैव। **शय्योत्थायं**—शय्यात उत्थानं कृत्वा उत्थायैव, प्रभातकाल एव, एतेन पुष्पानयने अत्याऽऽदरः पूजायाश्चा पूर्णभक्तिभावसूचितः। **सलीलगत्या**—सलीलया सविलासया हर्षसंभिन्नया गत्या। **वनीम्**—उद्यानम्। **इयाय**—जगाम। नहि देवसेवा मानसौत्सुक्यं भृत्यकृत्यमप्यपेक्षते, तत्र स्वस्यैव दासत्वेनार्पणादिति भावः ॥९४॥

श्रेष्ठिगमनेन मालिकप्रवृत्तिमाह—**धन्योऽहमिति**—

धन्योऽहमस्मि यदुपागमदेष वेष-संस्कारशोभितसदाकृतिरत्र हर्मी ।
इत्यात्मशंसनपरेण वनावनेन, तस्मै फलानि ददिरे कुसुमानि चापि ॥९५॥

व्याख्या—अहं, धन्यः—भाग्यवान्। अस्मि—तत्र हेतुमाह। यत्—यस्मात्। अत्र—उद्याने। वेष-संस्कारशोभितसदाकृतिः—वेषस्य नेपथ्यस्य यः संस्कारः मार्जनं तेन अथवा वेषः संस्कारश्च ताभ्यां शोभिता सदाकृतिर्यस्य स तादृशः। एष हर्मी—श्रेष्ठी। उपागमत्—आगतवान्। इति—इत्थम्। आत्मसंशनपरेण—आत्मनः स्वस्य शंसने प्रशंसने परेणाभिमुखेन। वनावनेन—वनस्योद्यानस्यावनेन पालकेन, मालाकारेणेत्यर्थः। तस्मै—श्रेष्ठिने। फलानि कुसुमानि चापि ददिरे—दत्तानि ॥९५॥

लात्वा फलानि विपुलानि स मंजुलानि, पुष्पाणि गन्धकलितानि धनेश्वरोऽपि।
हर्म्यं समेत्य सकलं विनिवेष्य पात्रे, स्नात्वा जलैः शुचिरुपाक्रमतार्हदर्चाम् ॥९६॥

व्याख्या—सः—धनेश्वरः धनदत्तः। अपि विपुलानि—महान्ति प्रचुराणि च। फलानि, मञ्जुलानि—मनोहराणि, गन्धेनामोदेन कलितानि समन्वितानि, सुगन्धीनि इत्यर्थः। पुष्पाणि, लात्वा—आदाय। हर्म्यं—गृहं। समेत्य—आगत्य। सकलं—सर्वं, तत्पुष्पं फलञ्च। पात्रे—स्थालादिरूपे भाजने। विनिवेश्य—कृत्वा। जलैः स्नात्वा—अत एव शुचिः—पवित्रः सन्। अर्हताम्—जिनेश्वराणाम्। अर्चाम्—पूजाम्। उपाक्रमत—प्रारभत ॥९६॥

सद्मस्थिताऽर्हतमहाप्रतिमासपर्यां, कृत्वा यथावदथ संघजिनालयेऽगात्।
नैषेधिकीत्रयपुरस्सरमात्मनैव, दक्षः प्रदक्षिणविधिं त्रिविधं विधाय ॥९७॥

व्याख्या—सद्मस्थिताऽर्हतमहाप्रतिमासपर्यां—सद्मनि स्वगृहे स्थिता स्थापिता या आर्हती अर्हतां जिनेश्वराणां महाप्रतिमा तस्याः सपर्यां पूजां। यथावत्—यथाविधि। कृत्वा, अथ—अनन्तरं। संघजिनालये—संघस्य जिनालये चैत्ये। अगात्—गतवान्। तत्र दक्षः—कुशलः सः। नैषेधिकीत्रयपुरस्सरम्—नैषेधिकीनां स्वगृहजिनमन्दिरजिनद्रव्यपूजासावद्यव्यापारनिषेधैर्निर्वृत्तानां त्रयं पुरस्सरं यथास्यात्तथा तत्पूर्वकमित्यर्थः। आत्मना—स्वयमेव। त्रिविधं—त्रिवारमित्यर्थः। प्रदक्षिणविधिं—प्रभुप्रतिमादक्षिणभागादारभ्य प्रदक्षिणां। विधाय—कृत्वा। अस्याग्रे देवानवन्दतेत्यनेनान्वयः।

पूजां त्रिधापि विरचय्य विचित्रभक्ति-र्भूमिप्रमार्जनमपि त्रिविधं प्रकुर्वन्।
तिस्रो वितत्य विनयी प्रणतीर्नयज्ञो-ऽवस्थात्रयं निजमनो विषयं वितन्वन् ॥९८

व्याख्या—**विचित्रभक्तिः**—विचित्रा इतरविलक्षणा भक्तिर्यस्य स तथा। **नयज्ञः**—नीतिनिपुणः। **विनयी**—नम्रतासम्पन्नः, स श्रेष्ठी। **त्रिधाऽपि**—अङ्गाग्रभावात्मकभेदतस्त्रिप्रकारामपि। **पूजाम्**—अर्चाम्। **विरचय्य**—जिनागमोक्तविधिना विधाय। **त्रिविधं**—त्रिवारमित्यर्थः। **भूमिप्रमार्जनमपि**—वस्त्राञ्चलेन क्षिति-तलविशोधनमपि। **प्रकुर्वन्**—विदधानः। **तिस्रः**—त्रिसङ्ख्याकाः। **प्रणतीः**—प्रणामान्। **वितत्य**—कृत्वा। **अवस्थात्रयं**—छद्मस्थ-केवलित्व-सिद्धत्वाख्यावस्थात्रयम्। **निजमनोविषयं**—सौवस्वान्तगोचरम्। **वितन्वन्**—कुर्वन्। अस्यापि देवानवन्दतेत्यनेनान्वयः ॥९८॥

आशात्रयेक्षणविवर्जनमादधानो, विन्यस्तदृष्टियुगलो जिनराजबिम्बे।
वर्णादिकत्रितयभावनया प्रसक्तो, मुद्रात्रयं प्रकटयन् प्रतिपत्तिपूर्वम्॥९९॥

व्याख्या—**आशात्रयेक्षणविवर्जनम्**—पृष्ठं पार्श्वद्वयञ्च, ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् चेति आशात्रयं तस्य ईक्षण-मवलोकनं तद्विवर्जनम्, **आदधानः**—कुर्वन्, जिनराजबिम्बाभिमुखमेवैकाग्रचित्तपूर्वकं पश्यन्नित्यर्थः। एतेनैक-तानता सूचिता, अत एव। **जिनराजबिम्बे, विन्यस्तदृष्टियुगलः**—स्थिरीकृतन्यनद्वितयः। **वर्णादिकत्रितय-भावनया**—पठ्यमानस्तुत्यक्षरार्थप्रतिमादिस्वरूपविचारणया। **प्रसक्तः**—समन्वितः, एतेन चित्तवृत्तिशुद्धिरुक्ता; 'वन्नतियं वण्णत्थालंबणमालंबणं तु पडिमाइ' इति भाष्यम्। **प्रतिपत्तिपूर्वम्**—ज्ञानश्रद्धानपूर्वकम्। **मुद्रात्रयम्**—योगमुद्रा-जिनमुद्रा-मुक्ताशुक्तिमुद्रारूपमुद्रात्रयम्। **प्रकटयन्**—प्रदर्शयन्। अस्यापि देवानवन्दतेत्यनेनान्वयः ॥९९॥

अत्युत्तमप्रणिहितित्रितयप्रणेता, देवानवन्दत जिनाधिपतीन् सुचेताः।
कस्यानवद्यतमतां न सतां क्रमोऽयं, सम्पादयत्यविरतं हि विधीयमानः॥१००॥

व्याख्या—**अत्युत्तमप्रणिहितित्रितयप्रणेता**—परमोत्कृष्टप्रणिधानत्रयविधाता, अकुशलानां मनोवा-क्कायानां निरोधः कुशलानाञ्च तेषां करणमितिप्रणिधानत्रिकम्। सः **सुचेताः**—सुमनाः सन्। **जिनाधिपतीन् देवान् अवन्दत**—देववन्दनं विदध इति। **हि**—यतः। **विधीयमानः**—क्रियमाणः। **सताम्**—सत्पुरुषाणाम्। **अयं**—प्रदर्शितः। **क्रमः**—रीतिः। **कस्य**—कस्य जनस्य। **अनवद्यतमताम्**—निष्कलुषताम्। **अविरतम्**—सततम्। **न सम्पादयति**—न करोति? अपि त्ववश्यमेव करोति। अर्हदुपासनया पापप्रणाश इति भावः ॥१००॥

अथ तस्य साधुभक्तिमाह चैत्येति—

चैत्यालयादथ निरीय सवेगमिभ्यो, वव्राज धामवसतिर्वसतिं गुरूणाम्।
तत्र प्रणम्य गुरुपादपयोजयुग्मं, साधून् यथाक्रममवन्दत वन्द्यवन्द्यान् ॥१०१॥

व्याख्या—अथ—अनन्तरम् । धामवसतिः—तेजस आस्पदम् तेजस्वीतियावत् । इभ्यः—स श्रेष्ठी । चैत्यालयात्—जिनमन्दिरतः । निरीय—निर्गत्य । सवेगम्—सरभसम् । गुरूणां वसतिम्—साधूनां स्थानम्, उपाश्रयमितियावत् । वव्राज—जगाम । तत्र—उपाश्रये । गुरुपादपयोजयुग्मम्—आचार्यचरणकमलयमलम् । प्रणम्य—अभिवन्द्य । यथाक्रमम्—कममनतिक्रम्य । वन्द्यवन्द्यान्—नरेन्द्रादिवन्द्यानामिन्द्रादीनामपि वन्द्यान् परमपूज्यानितिभावः । साधून—मुनीन् । अवन्दत—प्रणमत ॥१०१॥

अथ मुनिवन्दनोत्तरकृत्यमाह युग्मेन व्याख्यामिति दत्वेति च—

व्याख्यां निशम्य समभावविधानधुर्या—माचार्यवर्यसुगुरोरमृतायमानाम् ।
कार्यः स्फुरत्सुकृतबुद्धिभिरेषणीया—हारग्रहाय भगवद्भिरनुग्रहो मे ॥१०२॥
दत्त्वा क्षमाश्रमणमित्यवधानपूर्वं, श्रेष्ठी निकेतनमुपेत्य कृतार्हदर्चः ।
साधून् विहार्य परिहार्यविपर्ययेण, भोक्तुं समारभत स स्वजनैः समेतः॥१०३॥

(युग्मम्)

व्याख्या—आचार्यवर्यसुगुरोः—गुरुगुणगणसमन्वितस्य सूरिप्रवरस्य । अमृतायमानाम्—अमृतसमानाम् । समभावविधानधुर्याम्—सामायिकादिविशिष्टसमताभावज्ञापनसमर्थाम् । व्याख्याम्—व्याख्यानम् । निशम्य—श्रुत्वा । स्फुरत्सुकृतबुद्धिभिः—स्फुरन्ती प्रकाशमाना सुकृते सत्कार्ये बुद्धिर्येषां तैः जाग्रत्पुण्यमतिभिः । भगवद्भिः—श्रीमद्भिर्भवद्भिः । एषणीयाहारग्रहाय—द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जितशुद्धाशनादिग्रहणाय । मे—मम, मयीत्यर्थः । अनुग्रहः—कृपा । कार्यः—विधेयः । इति—इत्थम् । अवधानपूर्वम्—सावधानम् । क्षमाश्रमणम्—वन्दनम्, 'इच्छामि खमासमणो' इतिसूत्रप्रसिद्धम् । दत्त्वा—कृत्वा । निकेतनम्—निजगृहम् । उपेत्य—उपागत्य । कृतार्हदर्चः—विहितवीतरागपूजनः । स श्रेष्ठी, साधून् विहार्य—प्रतिलाभ्य । परिहार्यविपर्ययेण—अभक्ष्यादित्यागेन । स्वजनैः समेतः—परिजनपरिवृतः । भोक्तुं समारभत—उपाक्रमत ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

प्रथमं साध्वादिभ्यो वितरणे हेतुमाह—साधर्मिकेति—

साधर्मिकानमृतसंनिभभोज्यपेयैः, संमानितान् प्रथममभ्यवहार्य मान्यान् ।
यद् भुज्यते स्वरुचिभिः प्रतिलाभ्य साधूँ-स्तद्भोजनं जठरपूरणमन्यदाहुः॥१०४॥

व्याख्या—**प्रथमम्**—पुरा । **मान्यान्**—पूज्यान् । **साधून्**—मुनीन् । **प्रतिलाभ्य**—समर्प्य । **संमानितान् साधर्मिकान्**—सत्कारितान् समानधर्मिणः । **अमृतसन्निभभोज्यपेयैः**—सुधास्वादुखाद्यपानैः । **अभ्यवहार्य**—भोजयित्वा । **स्वरुचिभिः**—इच्छानुकूलम् । **यत्, भुज्यते, तत्**—तदेव । **भोजनम्, अन्यत्**—एतत्प्रतिकूलम् । **जठरपूरणम्**—उदरपूर्तिमात्रम् । **आहुः**—स्वोदरभरणमात्रमधममितिभावः ॥१०४॥

अथ तस्य दीनेभ्यो दानमाह—**दौर्विध्येति**—

दौर्विध्यसङ्कुचितमानसवृत्तिदीना-नामन्त्र्य भोज्यनिचयैरुपभोज्य सम्यक्।
वासांसि निःश्वसितहार्यतमाञ्चलानि,दत्त्वा विसर्जयति स स्म निरीश्वराँश्च॥१०५॥

व्याख्या—**सः**—धनदत्तः । **दौर्विध्यसङ्कुचितमानसवृत्तिदीनान्**—दौर्विध्येन दुर्भाग्यतया सङ्कुचिता—अनुदारा मानसवृत्तिः मनोभावो येषां ते तादृशाः ये दीनास्तान् कृपणानितियावत् । **निरीश्वरांश्च**—दीनानपि । **आमन्त्र्य**—समाकार्य । **भोज्यनिचयैः**—पक्वान्नादिखाद्यसमूहैः । **सम्यक्**—सुष्ठु, यथेच्छमितिभावः **उपभोज्य, निश्वसितहार्यतमाञ्चलानि**—निश्वसितेन तत्तुल्येनातिसूक्ष्मेणापि वातेन हार्यतमानि कम्पनीयानि अतिशयसूक्ष्माणि अञ्चलानि प्रान्तभागा येषां तानि तादृशानि । **वासांसि**—वस्त्राणि । **दत्त्वा**—वितीर्य । **विसर्जयति स्म**—प्रत्यावर्तयत् । एतेन अनुकम्पादानेऽस्यादरः सूचितः ॥१०५॥

अथागमलेखनोद्योगमाह—**आह्वाप्येति**—

आह्वाय्य मङ्क्षु लिपिकर्मविधानदक्षान्, स स्थूललक्षकुललक्षणलक्षणीयः।
द्रव्यं वितीर्य जिननायकसंप्रणीतसिद्धान्तशास्त्रलिखनानि समादिदेश ॥१०६॥

व्याख्या—**स्थूललक्षकुललक्षणलक्षणीयः**—'स्थूललक्षदानशौण्डौ बहुप्रदे'इति हैमवचनात् स्थूलं लक्षयति आलोचयति महद्दानं ददातीतियावत् स्थूललक्षः, स्थूललक्षं दानशौण्डं यत्कुलं तस्य लक्षणेनौदार्यादिना लक्षणीयः स धनदत्तः । **मङ्क्षु**—द्रुतमेव, द्राङ् मंक्षु सपदि द्रुतमित्यमरः । **लिपिकर्मविधानदक्षान्**—लिपिकर्मणः लेखस्य यद्विधानं करणं तत्र दक्षान् निपुणान्, अतिशुद्धसुन्दराक्षरलेखकान् । **आह्वाय्य**—आकार्य । **द्रव्यं**—वेतनरूपं धनं । **वितीर्य**—दत्त्वा । **जिननायकसंप्रणीतसिद्धान्तशास्त्रलिखनानि**—जिननायकसम्प्रणीतस्य सिद्धान्तशास्त्रस्य लिखनानि लेखनानि । कुटादिरयमित्येके । **लिखनीयम्, लिखनम्, लिखितव्यम्** इतिक्रियारत्नसमुच्चयवचनाल्लिखनशब्दस्यापशब्दत्वं नाशङ्कनीयमिति । **समादिदेश**—आज्ञातवान् ॥१०६॥

अथैवंकृतसुकृतफलप्राप्तिमाह—इत्याग्रहेणेति—

इत्याग्रहेण महता निहतान्तरायं, धर्मं सदा विदधतोऽस्य धनेश्वरस्य ।
तुष्टा कथञ्चिदपि शासनदेवताऽसौ, पुत्रो भविष्यति तवेति मुदा शशंस ॥१०७॥

व्याख्या—इति—पूर्वोक्तप्रकारेण । महता—अधिकेन । आग्रहेण—उत्साहेन । निहतान्तरायं—निहतः विनष्टः अन्तरायः विघ्नः यस्य तादृशं, निर्विघ्नं यथास्यात्तथा । सदा—सर्वदा । धर्मं, विदधतः—कुर्वतः । अस्य धनेश्वरस्य—श्रेष्ठिनः धनदत्तस्य । कथंचिदपि—भक्त्या । तुष्टा—प्रसन्ना । असौ—प्रसिद्धा । शासनदेवता तव पुत्रो भविष्यति इति—इत्थं । मुदा—प्रीत्या । शशंस—वरं ददौ ॥१०७॥

अथ तत्कृतशासनदेवताप्रणतिमाह—देवीवरे इति—

देवीवरे भवति तुष्टिमुपागतायां, नो दुर्लभं भवति किञ्चन वस्तुवृत्त्या ।
इत्युद्धतस्वरमुदीर्य कृताञ्जलिः स, साधर्मिकप्रणयतः प्रणतिं चकार ॥१०८॥

व्याख्या—भवति देवीवरे !—महादेवि ! तुष्टिं—प्रसादम् । उपागतायां—प्राप्तायां, त्वयि । वस्तुवृत्त्या—यथार्थतः । किञ्चन—किमपि । दुर्लभम्—अलभ्यं । नो—नैव । भवति, त्वयि प्रसन्नायां सत्यां सर्वमेव सुलभमित्यर्थः । इतीत्थम् । उद्धतस्वरम्—तारस्वरं यथास्यात्तथा । उदीर्य—उच्चार्य । कृताञ्जलिः सः—धनदत्तः । साधर्मिकप्रणयतः—साधर्मिकप्रीत्या । प्रणतिं—प्रणामं । चकार ॥१०८॥

अथ पत्न्यै तत्कृतवरनिवेदनमाह—पत्न्यै इति—

पत्न्यै न्यवेदयत शासनदेवतायाः, पश्चात्स वाक्यमथनिर्भरतोषितायाः ।
प्रागेव वक्त्रकमलं प्रभवत्प्रसादमानन्दतुन्दिलमिदं प्रकटीचकार ॥१०९॥

व्याख्या—अथ—वरप्राप्त्यनन्तरम् । निर्भरतोषितायाः—निर्भरमत्यन्तं तोषितायाः प्रसादितायाः । शासनदेवतायाः, वाक्यं—तव पुत्रो भविष्यति इत्येवं रूपं । सः—धनदत्तः । पश्चात्, पत्न्यै, न्यवेदयत—कथितवान् । प्रभवत्प्रसादं—प्रभवन् प्रसादः स्फातिर्यस्य तत्, अत एव । आनन्दतुन्दिलम्—आनन्देन तुन्दिलं विकस्वरम् । वक्त्रकमलं—वक्त्रं मुखं कमलमिव तत् । प्रागेव—पूर्वमेव । इदं—देवतावाक्यं । प्रकटीचकार—प्रसन्नमुखमेव दर्शनेनैव वरप्राप्तिमसूचयदित्यर्थः ॥१०९॥

तस्याः स्वप्नसूचितगर्भधारणमाह—गर्भमिति—

गर्भं बभार धनदत्तधनेशभार्या, सा तत्प्रभृत्यपि भृता सुकृतप्रभावैः ।
स्वप्ने च पूर्णकलसं सलिलैः प्रपूर्णमाम्रच्छदैरपिहितं कलयाम्बभूव ॥११०॥

व्याख्या—सुकृतप्रभावैः—सुकृतस्य पुण्यस्य प्रभावैः । भृता—पूर्णा, पुण्यवती । सा धनदत्तधनेश-भार्या—धनदत्तनाम्नः धनेशस्येभ्यस्य भार्या, सत्यभामा । तत्प्रभृत्यपि—तदारभ्यैव । गर्भं बभार—दधौ । स्वप्ने च, सलिलैः—जलैः । प्रपूर्णं—भरितम् । आम्रच्छदैः—आम्रस्य छदैः पत्रैः । अपिहितम्—आच्छादितं । पूर्णकलसं कलयाम्बभूव—ददर्श ॥११०॥

अथ स्वप्नदर्शनानन्तरं तत्कृत्यमाह—स्वप्नोपेति—

स्वप्नोपलब्धिसमनन्तरमेवगन्धपुष्पाणि पाणिकमले विनिवेश्य धन्या ।
प्राणप्रियं मृदुवचोभिरुदारबुद्धिरुत्थाप्य सा प्रवदति स्म यथार्थमेवम् ॥१११॥

व्याख्या—स्वप्नोपलब्धिसमनन्तरमेव—स्वप्नस्योपलब्धिः सन्दर्शनं तत्समनन्तरमेव । उदारबुद्धिः—दाने कुशलबुद्धिशालिनी महाशयबुद्धिमती । धन्या—भाग्यवती । सा—सत्यभामा । गन्धपुष्पाणि—सुरभिसुमानि । "गन्धो जनमनोहारी सुरभिर्घ्राणतर्पणः" इति हैमः । पाणिकमले—करकमले । विनिवेश्य—कृत्वा । प्राणप्रियं—कान्तं । मृदुवचोभिः—कोमलवाग्भिः । उत्थाप्य—जागरयित्वा । यथार्थं—यथावृत्तम् । एवम्—वक्ष्यमाण-प्रकारेण । प्रवदति स्म ॥१११॥

स्वप्ने निरैक्षिषि विशेषविदां वराद्य-कल्याणपूर्णकलसं जलसंभृतं च ।
कीदृक् फलं मम भविष्यति चास्य नाथ! तत्त्वं निवेदय मदग्रत एव तत्त्वम्॥११२॥

व्याख्या—विशेषविदांवर !—विज्ञानां वर ! श्रेष्ठ ! अद्य स्वप्ने जलसम्भृतं—जलपूर्णञ्च । कल्याण-पूर्णकलशं—कल्याणं मंगलं "कल्याणं मंगलं शुभमि"त्यमरः । कल्याणस्य सुवर्णस्य वा 'कल्याणं कनकमिति' हैमः । पूर्णकलशं । निरैक्षिषि—व्यलोकयमहम् । नाथ !—स्वामिन् ! त्वमस्य—स्वप्नस्य । मम कीदृक्—किं । फलं भविष्यति तत्तत्त्वं—तद्रहस्यं । मदग्रत एव—न तु सङ्कोचादिना परोक्षे, अन्यथा मदुत्कण्ठा न विवर्धेत इति भावः । निवेदय—कथय, येन मज्जिज्ञासापूर्त्तिः स्यादितिभावः ॥११२॥

तदुत्तरमाह—एतत्तदुक्तमिति—

एतत्तदुक्तमवधार्य विचार्य बुद्धया, प्राह स्म विस्मितमनाः प्रमनाः स चाढ्यः ।
जानेऽस्मि पूर्णकलसप्रविलोकनेन, सूनुस्तवेन्दुमुखि ! संभवितावचिरेण ॥११३॥

व्याख्या—स च आढ्यः—इभ्यः धनदत्तः । तदुक्तं—तया सत्यभामया उक्तं कथितम् । एतत्—स्वप्नम् । अवधार्य—श्रुत्वा । बुद्धया विचार्य विस्मितमनाः—विस्मितं मनश्चित्तं यस्य स विस्मितमनाः । प्रमनाः—प्रष्टं मनो यस्य स प्रमनाः प्रसन्नः । प्राह स्म—उवाच । किमित्याह । इन्दुमुखि ! पूर्णकलस-प्रविलोकनेन तवाचिरेण-शीघ्रमेव, सूनुः पुत्रः । सम्भविता-भविष्यति इति । जानेऽस्मि—अहमवैमि ॥११३॥

वाचं प्रियस्य परमार्थत एव सत्यां, मत्वा समुत्थितवती फलसंयुतानि ।
सा बिभ्रती प्रियतमप्रतिपादितानि, पुष्पाणि वासवसतिं स्ववशा विवेश॥११४

व्याख्या—प्रियस्य—पत्युः । वाचं, परमार्थतः—निश्चयेन । सत्यां—यथार्थां । मत्वा एव—खलु । समुत्थितवती—तत उत्थिता सती । प्रियतमप्रतिपादितानि—प्रियतमेन कान्तेन प्रतिपादितानि दत्तानि । फलसंयुतानि पुष्पाणि बिभ्रती—धारयन्ती । स्ववशा—स्थिरस्वभावा । सा वासवसतिं—वासगृहं । विवेश—ययौ ॥११४॥

अथ तस्याः दोहदपूर्तिमाह—यान् दोहदानिति—

यान् दोहदान् स्वहृदये बिभराम्बभूव, सा श्रेष्ठिराजदयिता कलिता गुणौघैः ।
पृच्छत्पुरन्ध्रिवदनेरितवाक्यभङ्ग्या, तान् वल्लभः सपदि पूरयति स्म तस्याः।११५

व्याख्या—गुणौघैः—गुणानामोघैः समूहैः । कलिता—समन्विता । सा श्रेष्ठिराजदयिता—श्रेष्ठिराजस्य दयिता प्रिया, सत्यभामा । स्वहृदये यान्—यत्प्रकारान् । दोहदान्—गर्भकालिकमनोरथान् । बिभराम्बभूव—धारयामास । वल्लभः—प्रियः । तस्याः—सत्यभामायाः । तान्—दोहदान् । पृच्छत्पुरन्ध्रिवदनेरितवाक्य-भङ्ग्या—पृच्छन्तीनां जिज्ञासमानानाम् पुरन्ध्रीणां कुटुम्बिनारीणाम् "पुरन्ध्री तु कुटुम्बिनी" इतिहैमः । वदनैः मुखैः ईरितस्य कथितस्य वाक्यस्य भङ्ग्या आशयेन रचनया ज्ञात्वेतिशेषः । सपदि—तत्कालमेव । पूरयति स्म । एतेन तस्य सर्ववस्तुसौलभ्यमुक्तम् ॥११५॥

अथ तस्याः पुत्रप्रसवमाह—प्रासूत सेति—

प्रासूत सा तनयमद्भुतरूपसम्पत्सन्तर्जितामरकुमाररूपम् ।
विद्योतयन्तमभितस्तदरिष्टदीपतेजांसि केन्द्रपतितोच्चशुभग्रहेषु ॥११६॥

व्याख्या—सा—सत्यभामा । केन्द्रपतितोच्चशुभग्रहेषु—केन्द्रे प्रथमचतुर्थसप्तमदशमस्थाने पतिताः स्थिताः उच्चाः स्वोच्चगृहस्थाः शुभग्रहाः तेषु सत्सु । तदरिष्टदीपतेजांसि—तस्यारिष्टस्य सूतिकागृहस्य 'अरिष्टं सूतिकागृहमिति' हैमः । दीपस्य तेजांसि । अभितः—सर्वतः, तदभिभूयेत्यर्थः । विद्योतयन्तं—प्रकाशयन्तम् । अद्भुतरूपसम्पत्सन्तर्जितामरकुमारकुमाररूपम्—अद्भुतस्य विलक्षणस्य रूपस्य सौन्दर्यस्य सम्पदा आधिक्येन सन्तर्जितं तिरस्कृतम् अमरकुमाराणां देवपुत्राणां कुमारस्य कार्तिकेयस्य च रूपं येन तादृशं । तनयं—पुत्रं । प्रासूत—सुषुवे ॥११६॥

अथ तच्छ्रवणेन श्रेष्ठिनो हर्षातिरेकमाह—दासीजनैरिति—

दासीजनैर्द्रुतमुपेत्य सुतप्रभूत्या, श्रेष्ठी प्रहृष्टहृदयैरभिवर्द्धितोऽयम् ।
देयं न किंचन विवेद न चाप्यदेयं, नादेयमेव परिपूर्णमनाः प्रमोदैः ॥११७॥

व्याख्या—दासीजनैः—परिचारिकाजनैः । प्रहृष्टहृदयैः—प्रसन्नैः । द्रुतमुपेत्य—त्वरितमागत्य । सुतप्रभूत्या—(प्रसूत्या) सुतस्य पुत्रस्य प्रभूत्या जन्मना । अभिवर्धितः—वर्धापितः । अयं, श्रेष्ठी—धनदत्तः । प्रमोदैः—प्रहर्षैः । परिपूर्णमनाः—सन् । किञ्चन—किमपि । देयं—दासीजनाय वितरणीयमिति । न विवेद । तथा अदेयम्—एतन्न देयमित्यपि न च—विवेद । तथा आदेयम्—एतन्मया ग्राह्यमित्यपि । न—विवेद । हर्षातिरेकेण किं कर्त्तव्यताविमूढो जातः इति भावः ॥११७॥

अथ तस्य जन्मोत्सवकरणमाह—पुत्रेति—

पुत्रा भवन्ति भवने बहवोऽपि यस्य, जाते सुते वितनुतेऽपि महामहं सः ।
प्रापोपयाचितशतैस्तनयं तथा यः, किं नोत्सवं स तनुतां तनुताण्डवेन ॥११८॥

व्याख्या—यस्य-जनस्य । भवने—गृहे । बहवोऽपि, पुत्राः भवन्ति सोऽपि, सुते-पुत्रे । जाते—सति । महामहं—महोत्सवम् । वितनुते—विदधाति । तथा यः उपयाचितशतैः—उपयाचितानि पुत्रार्थप्रार्थनानि तेषां शतैः । तनयं—पुत्रं । प्राप स—जनः । नोत्सवम्—न अविद्यमानः उत्सवः यतः तं तादृशम् महोत्सवम् ।

तनुताण्डवेन-तनुना अल्पेन ताण्डवेन नाट्येन । तनुताम्-कुरुताम् । किम्-अर्थात् न, अपि तु महाताण्डवाडम्बरेणैव, महाडम्बरपुरस्सरम् पुत्रजन्मोत्सवम् कृतवानित्यर्थः । यद्वा तनुताण्डवेन शरीरनर्तनपुरस्सरम्, उत्सवम् जन्ममहोत्सवम्, किं न तनुताम्, अपि तु तनुतामेवेत्यर्थः ॥११८॥

अथ पुत्रजन्मप्रयुक्तहर्षेण कृत्यान्तरमाह—विज्ञप्येति—

विज्ञप्य विज्ञतमताऽवमताग्रयजीवं, सर्वंसहाधिपतिमेष महोपदाभिः ।
कारागृहस्थितिमतः पुरुषान्समस्तान्, सत्कृत्य कृत्यविदरं व्यमुचन्महेच्छः ॥११९

व्याख्या—महेच्छः-उदारः । कृत्यविद्-विधिज्ञः । एष-धनदत्तः । विज्ञतमताऽवमताग्रयजीवं-विज्ञतमतया बुद्धिमत्तया अवमतः निर्जितः अग्रयः विद्वदग्रणीः जीवः बृहस्पतिः येन तं तादृशं 'धिषणो गुरुः जीवः' इत्यमरः । सर्वंसहाधिपतिं-पृथिव्याः 'सर्वंसहा वसुमती वसुधोर्वी' इत्यमरः, अधिपतिं प्रभुं राजानम् । महोपदाभिः-उत्कृष्टोपायनदानपुरस्सरम् । विज्ञप्य-प्रार्थनया अनुकूलं कृत्वा । कारागृहस्थितिमतः-कारागृहे दण्ड्यबन्धनगृहे स्थितिमतः स्थितान्, अपराधिनः बन्दिनः । समस्तान् पुरुषान्-जनान् । सत्कृत्य-सादरम् । अरं-शीघ्रं । व्यमुचत्-व्यमोचयदित्यर्थः ॥११९॥

अथ तदा दानाऽऽदानार्थमध्यापकागमनमाह—अध्यापकैरिति—

अध्यापकैर्मुकरमण्डलमग्रदेशे, वंशस्य शस्यमतिभिस्त्वरितं निधाय ।
छात्रैः समं समुपगत्य पठद्भिरुच्चैर्द्वारं समाश्रितममुष्य निकेतनस्य ॥१२०॥

व्याख्या—वंशस्य-वेणुदण्डस्य । अग्रदेशे-शिखरे । मुकुरमण्डलं-मुकुरस्य दर्पणस्य मण्डलं समूहं । निधाय-कृत्वा, तथाऽऽचारादितिभावः । उच्चैः-तारस्वरेण । पठद्भिः-स्तुतिं कुर्वद्भिः । छात्रैः-शिष्यैः, "छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये" इत्यमरः । समं-सह । शस्यमतिभिः-सुबुद्धिभिः । अध्यापकैः-शिक्षकैः । त्वरितं-शीघ्रं । समुपगत्य-समागम्य । अमुष्य-धनदत्तस्य । निकेतनस्य-गृहस्य । द्वारं समाश्रितम्-दानादानेच्छयेति भावः ॥१२०॥

अथ तेभ्यस्तद्दानमाह—भालानीति—

भालानि कुङ्कुमविशेषकभूषितानि, तेषां विधाप्य विधिवत् स सुवासिनीभ्यः ।
ताम्बूलमात्मशयतामरसेन दत्त्वा, द्रव्यं मदाप्य बहुलं विससर्ज धीमान् ॥१२१॥

व्याख्या—स धीमान्—धनदत्तः । तेषां—सच्छात्राध्यापकानां । भालानि—कपालस्थलानि । सुवासिनीभ्यः—वधूभ्यः । विधिवत्—विधिपूर्वकं । कुङ्कुमविशेषकभूषितानि—कुङ्कुमस्य विशेषकैः तिलकैः भूषितानि । विधाप्य—कारयित्वा 'तिलकचित्रकाणि विशेषकं' इत्यमरः । आत्मशयतामरसेन—आत्मनः स्वस्य शयः करः 'शयः पाणिः' इत्यमरः । तामरसं कमलमिव तेन । ताम्बूलं—नागवल्लीदलं । दत्वा, बहुलं—प्रचुरं । द्रव्यं—धनं । प्रदाप्य—दापयित्वा । विससर्ज ॥१२१॥

अथ मङ्गलतिलकार्थं पौरस्त्रीणामागमनमाह—स्थालानीति—

स्थालानि काञ्चनमयानि निवेश्य पाणौ, कुन्दोज्ज्वलाक्षतभृतानि समन्ततोऽपि ।
पौरस्त्रियो घुसृणचन्दनपात्रहस्ताः,कर्तुं विशेषकमुपास्थिषताऽस्य पस्त्यम् ॥१२२

व्याख्या—कुन्दोज्ज्वलाक्षतभृतानि—कुन्दैः माघ्यपुष्पैरिव' माघ्यं कुन्दमि' त्यमरः । उज्ज्वलैः विशदैः अक्षतैः ताण्डुलैः भृतानि पूर्णानि । काञ्चनमयानि—स्वर्णनिर्मितानि । स्थालानि, पाणौ-करे । निवेश्य—कृत्वा । समन्ततः—सर्वतः । अपि, एतेन तस्य पौरप्रियत्वं सूचितम् । घुसृणचन्दनपात्रहस्ताः—घुसृणं कुङ्कुमं चन्दनं च येषु तादृशानि पात्राणि हस्ते यासां ताः तादृश्यः । पौरस्त्रियः, अस्य—धनदत्तस्य । विशेषकं—तिलकं । कर्तुं, पस्त्यम्—गृहम् । उपास्थिषत—समागमन् ॥१२२॥

अथ तिलककरणप्रकारमाह—ताः श्रेष्ठिनमिति —

ताः श्रेष्ठिनं समुपवेश्य चतुष्किकायां, भाले विधाय तिलकं विततार्द्रतं च ।
विश्राण्य वानपरिपाकिमनालिकेरं, त्वं जीव नन्द भव पुत्रवतामधीशः ॥१२३॥

व्याख्या—ताः—समागताः पौरस्त्रियः । श्रेष्ठिनं—धनदत्तं । चतुष्किकायां—चतुष्पादविस्तीर्णयुक्तकाष्ठपीठे । समुपवेश्य, भाले—श्रेष्ठिनः कपाले । तिलकं विततार्द्रतं—विस्तृततण्डुलं । च, विधाय—कृत्वा तथैव तिलककरणाचारादिति भावः । वानपरिपाकिमनालिकेरं—वानं शुष्कं 'तच्छुष्कं वानमिति'हैमः । परिपाकिमं पक्वं च नालिकेरम् । विश्राण्य—दत्वा, तस्य शुभफलत्वादिति भावः । त्वं जीव नन्द, पुत्रवतां—पुत्रिणाम् । अधीशः—श्रेष्ठः । भव—इति आशिषो ददुरिति शेषः ॥१२३॥

अथ ताभ्यस्तत्कृतपुरस्कारप्रदानमाह—इत्याशिष इति —

इत्याशिषः स हृदये बहुधाभिनन्द्य, प्रोद्यत्प्रमोदनिवहः पुरसुन्दरीणाम् ।
दत्वांशुकानि शरदिन्दुमयूखजालव्यूतिभ्रमं विरचयन्ति विसृष्टवांस्ताः ॥१२४॥

व्याख्या—प्रोद्यत्प्रमोदनिवहः—प्रोद्यन् आविर्भवन् प्रमोदस्य प्रहर्षस्य निवहः भरः यस्य सः। सः—धनदत्तः। पुरसुन्दरीणां—पुरन्ध्रीणाम्। इति—पूर्वोक्तप्रकाराः। आशिषः—शुभवचनानि। हृदये, बहुधा—वारंवारम्। अभिनन्द्य—प्रशस्य। शरदिन्दुमयूखजालव्यूतिभ्रमं—शरदः तदाख्यर्तोः यः इन्दुश्चन्द्रः तस्य मयूखजालैः चन्द्रिकावृन्दैरेव तन्तुरूपैः व्यूतिः वानम् "वाणिर्व्यूतिः द्वे तन्तुवानस्ये"त्यमरः, तस्य भ्रमं भ्रान्तिं। विरचयन्ति—कुर्वन्ति। अंशुकानि—क्षौमवस्त्राणि। दत्त्वा, ताः—पुरस्त्री। विसृष्टवान्—गमयामास विसर्जयति स्म ॥१२४॥

अथ पुत्रस्य शुभाय लोकानां भावमाह—द्रव्याणीति—

द्रव्याणि यानि स धनी विचिकाय षष्ठी-जागर्यिकामहमवाप्य सुतस्य तस्य।
नो तानि कश्चिदपि च व्ययसात्करोति, पाणिग्रहेऽपि तनयस्य महर्द्धिकोऽपि॥१२५

व्याख्या—स धनी—इभ्यः धनदत्तः। तस्य—जातस्य। सुतस्य—पुत्रस्य। षष्ठीजागर्यिकामहं—षष्ठ्यां षष्ठे दिने यः जागर्यिकायाः जागरणस्य महः उत्सवः तम् 'उद्धर्षो मह उद्ध्व उत्सवः,' इत्यमरः। जातकस्य षष्ठ्यां रात्रौ अर्चादिना जागरणं कुर्वन्तीति भावः। अवाप्य—प्राप्य। यानि, द्रव्याणि—धनानि। विचिकाय—ददौ, संगृहीतवांश्च। तानि—द्रव्याणि। कश्चिदपि—अन्योऽपि। महर्द्धिकोऽपि च, तनयस्य—पुत्रस्य। पाणिग्रहे—विवाहाऽवसरेऽपि, व्ययसात्—व्ययितानि। नो—नैव। करोति—एतेन तदानीमनल्पानि द्रव्याणि तस्य पुत्रस्यामङ्गलं मा भूत् सर्वेषां च पुत्रोपरि शुभभावना सर्वदाऽस्त्वितिहेतोर्व्ययितानीति सूचितम् ॥१२५॥

अथ जातकस्य नामकरणमाह-श्लोकयुग्मेन—जाते इत्यादि—

जाते महोत्सवभरे सकलेऽपि लोके, सम्मानिते वसनचीनदुकूलदानैः।
स्वप्नानुसारि तनयस्य ततान नाम, श्रेष्ठी महेन दशमेऽहनि सम्मदेन ॥१२६

व्याख्या—महोत्सवभरे—महोत्सवस्य भरोऽतिशयः तस्मिन्। जाते—सम्पन्ने। सकले—सर्वस्मिन्नपि, लोके—जने। वसनचीनदुकूलदानैः—वसनं कार्पासकं चीनदुकूलं चीनदेशोद्भवक्षौमवस्त्रं तस्य दानैः वितरणैः कृत्वा। सम्मानिते—पुरस्कृते सति च। श्रेष्ठी—धनदत्तः। महेन—उत्सवपूर्वकं। दशमे, अहनि—दिने। सम्मदेन—हर्षेण। तनयस्य—पुत्रस्य। स्वप्नानुसारि—पूर्वदृष्टस्वप्नानुकूलं। नाम—नामधेयं। ततान—चकार ॥ १२६ ॥

किन्तन्नामेत्याह—ज्योतिर्विदोऽपीति—

ज्योतिर्विदोऽपि विनिवार्य सुवासिनीश्च, नैमित्तिकानपि कलाकुशलानशेषान् ।
सन्मङ्गलश्रुति च मङ्गलकुम्भ इत्याब्रह्माण्डमाकलितशारदचन्द्रकीर्त्ति

व्याख्या—ज्योतिर्विदः—दैवज्ञान् । सुवासिनीः—वधूश्च, नैमित्तिकान्—निमित्तं शकुनं तज्जानन्तीति तान् शाकुनिकानपि, अशेषान्—सकलानन्यान् । कलाकुशलान्—कलासु विद्यासु कुशलान् निपुणान् । अपि, विनिवार्य—तत्तत्कथितनामधेयमस्वीकृत्य स्वप्नसूचनेन पुत्रो जात इति तदनुसार्येव नाम भवतु इति श्रद्धयेति भावः । आब्रह्माण्डम्—ब्रह्माण्डं यावत्, विश्वस्मिन् । आकलितशारदचन्द्रकीर्तिः—आकलिता व्याप्ता शरच्चन्द्रतुल्या कीर्त्तिः यस्य सः तादृश श्रेष्ठी । सन्मङ्गलश्रुति—सतो विद्यमानस्य समीचीनस्य वा मङ्गलस्य तच्छब्दस्य श्रुतिः श्रवणं यस्मिन् तादृशं स्वप्नानुसारी इत्यनुषज्यते । मङ्गलकुम्भ इति—इत्याकारकम् । नाम—नामधेयं । ततान—चकारेति पूर्वश्लोकेनान्वयः ॥१२७॥

अथ धात्रीभिर्लालितः सोऽष्टाब्दो जात इत्याह—धात्रीभिरिति—

धात्रीभिरुज्ज्वलरसोदयसृत्वरीभिर्विश्वम्भरारुह इवाचल सारिणीभिः ।
संवर्द्धमानसुभगः परिपाल्यमानो, जज्ञे जनप्रमददोऽष्टसमः क्रमात्सः ॥१२८॥

व्याख्या—धात्रीभिः—पञ्चभिरुपमातृभिः "धात्री तु स्यादुपमाता" इति हैमः । उज्ज्वलरसोदय-सृत्वरीभिः—उज्ज्वलः विशदः निर्मलश्च यः रसः अनुरागः जलञ्च तस्योदयेनाविर्भावेन सृत्वरीभिः गति-शीलाभिः । अचलसारिणीभिः—अचलस्य पर्वतस्य सारिणीभिः लघुनदीभिः अचलाभिर्वा सारिणीभिः कुल्याभिः 'प्रसारण्यां स्वल्पनद्यां च सारणीति' मेदिनी, 'कुल्या च सारणी' इति हैमः । विश्वम्भरारुहः—महीरुहः । स इव, परिपाल्यमानः—लाल्यमानः । अथ च संवर्धमानः, अतएव सुभगः—सुन्दरः । तथा जनप्रमददः—जनानां प्रमददः हर्षदः । सः—मङ्गलकुम्भः । क्रमात् अष्टसमः—अष्टवर्षो । जज्ञे—जातः ॥१२८॥

अथ शैशवेऽपि तस्योत्तमप्रवृत्तिमाह—दृष्ट्वेति—

दृष्ट्वा प्रयान्तमपरेद्युरुदारचित्तं, तातं वनीं प्रति स मङ्गलकुम्भ एतत् ।
व्याचष्ट मंगलमुखो ननु तातपादाः, सिद्ध्यै प्रयात मयि सत्यपि किं स्वयं वा।१२९

व्याख्या—अपरेद्युः—एकदा । उदारचित्तं—विशालमनस्कं । तातं—पितरं । वनीम्—उद्यानम् । प्रति, प्रयान्तं—गच्छन्तम् । दृष्ट्वा, मङ्गलमुखः—शुभवदनः । सः, मंगलकुम्भः, एतत् व्याचष्ट—कथितवान्,

किमित्याह । **तनु**—भोः । **तातपादाः**—पूज्याः पितरः ! **मयि, सत्यपि**—वर्तमानेऽपि । **सिद्धयै**—कार्यार्थं । **किं**—कस्मात् । **स्वयम्**—आत्मना । **वा**—एव । **प्रयात**—गच्छत । मामेव तदाज्ञापयेति भावः ॥१२९॥

अथ जनककृतोत्तरमाह—स्मित्वा जगादेति—

स्मित्वा जगाद जनकः प्रियपुत्र! याम्यानेतुं सुमानि जगदीश्वरपूजनार्थम् ।
आराममुद्गतफलाभ्युदयाभिराममामोदमाशु जनयन्तमुपागतानाम् ॥१३०॥

व्याख्या—**जनकः**—पिता धनदत्तः । **स्मित्वा**—ईषद्विहस्य, पुत्रविनयदर्शनेन हर्ष इति भावः । **जगाद**—उवाच, किमित्याह । **प्रियपुत्र ! जगदीश्वरपूजनार्थं**—जगदीश्वरस्य जिनेश्वरस्य पूजनार्थं । **सुमानि**—पुष्पाणि । **आनेतुम्, उद्गतफलाभ्युदयाभिरामम्**—उद्गतैरुत्पन्नैः फलैरभ्युदयो विकसनं तेन अथवा उद्गतानि जातानि फलितानीत्यर्थः, फलान्येवाभ्युदयः सौभाग्यसम्पत् तेनाभिरामं मनोहरम् । अत एव **उपागतानाम्**—समागतानाम् जनानाम् । **आशु**—सद्य एव । **आमोदं**—सुरभिम् संहर्षं 'प्रमोदामोदसंमदाः' इत्यमरः । **जनयन्तं**—कुर्वन्तम् । **आरामम्**—उपवनं । **यामि** ॥१३०॥

अथ पुत्रभावमाह—पित्राभ्युदीरितमिदमिति—

पित्राभ्युदीरितमिदं विनिशम्य पुत्रः, प्रोवाच वाचमतिमात्रविनीतधुर्यः ।
आज्ञाप्यते यदि भवद्भिरनुग्रहेणारामं तमप्यहमुपैमि समं भवद्भिः ॥१३१॥

व्याख्या—**पित्रा**—जनकेन । **अभ्युदीरितम्**—कथितम् । **इदं**—पूर्वोक्तं । **विनिशम्य**—श्रुत्वा । **अतिमात्रविनीतधुर्यः**—अतिमात्रमत्यन्तं विनीतानां नम्राणां धुर्योऽग्रेसरः, **पुत्रः, वाचं प्रोवाच** । किमित्याह—**यदि भवद्भिः** अनुग्रहेण कृपया । **आज्ञाप्यते**-आज्ञा क्रियते तदा **भवद्भिः समं**—सह । **अहमपि तं**—भवद्भिर्वर्णितम् । **आरामम्-उपैमि**—आगच्छामि । विनयी हि पुत्रः न पितुराज्ञां विना किमपि करोतीति भावः ॥१३१॥

अथ पितुः निषेधविध्योऽप्रतिपत्तिमाह-अत्यन्तेति—

अत्यन्तवल्लभतया न निवर्त्तितुं तं, पुण्यच्छिरीषसुकुमारतया न नेतुम् ।
शक्तोऽभवत् स भुवनाद्भुतभागधेयः, कूलङ्कषारयमिवायनवर्त्तिशैलः ॥१३२॥

व्याख्या—**भुवनाद्भुतभागधेयः**—भुवनेषु लोकेषु अद्भुतमसाधारणं भागधेयं भाग्यं "दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री निवर्तिर्विधिः" इत्यमरः, यस्य सः, धनदत्तः । **अत्यन्तवल्लभतया**—अतिप्रियतया । **तं**—बालं ।

निषेद्धुं । न—[illegible] भावः । पुष्पच्छरीसुकुमारतया-पुष्पत्पुष्टिं-गच्छत् अचिरविकसमानमित्यर्थः, यच्छरीषं तदाख्यकुसमं तदिव सुकुमारतया मृदुतया, गमनादिना श्रम-सम्भवभयादितिभावः । नेतुं—सह आगन्तुं । न च शक्तः—समर्थः । अमवत्—एतेन पितुः लोकादद्भुता दया प्रीतिश्च सूचिता । अयनवर्तिशैलः—अयने मार्गे वर्त्तते इत्येवं शीलो अयनवर्त्ती स तादृशः शैलः । कूलङ्कषारयमिव—कूलङ्कषायाः नद्याः रयं वेगं प्रवाहमिव । यथा नदीप्रवाहं मार्गस्थः शैलः न निषेद्धुं नापि अग्रे गमयितुं समर्थो भवति तथेत्यर्थः ॥१३२॥

अथ तस्य सहनयनमाह—तस्याग्रहमिति—

तस्याग्रहं शिशुतयाऽविनिवार्यमार्यश्चित्ते विधार्य सममेव समाप तं तम् ।
जाम्बूनदाभरणभूषितपाणिकण्ठं, मञ्जुस्वरावजितकोकिलकण्ठनालम् ॥१३३॥

व्याख्या—आर्यः—उत्तमाचरणः स श्रेष्ठी । चित्ते,तस्य—बालकस्य । आग्रहं—हठम् । शिशुतया—बाल्येन हेतुना । अविनिवार्यम्—अपरावर्त्तनीयम् । विधार्य—बालहठो हि दुर्निवारो भवतीति भावः । समं-सह । एवं मञ्जुस्वरावजितकोकिलकण्ठनालं—मञ्जुस्वरेण मधुरस्वरेण अवजितमधरीकृतं कोकिलस्य कण्ठनालं येन तं तादृशं कोकिलस्वरजेतृस्वरम् । जाम्बूनदाभरणभूषितपाणिकण्ठं—जाम्बूनदानां सुवर्णानामाभरणैः भूषितः पाणिः कण्ठश्च यस्य तं तादृशं । तं—बालं । तमारामम् । समाप—निनाये । समापतं तं—आगच्छतं, निनायेति शेषः ॥१३३॥

अथोभयोः वनगमनकालिकशोभां वर्णयति—साक्षादिति—

साक्षात् षडानन इवैष महेश्वरेण, श्रीमाञ्जयन्त इव जम्भनिषूदनेन ।
पद्मालयाप्रणयिनेव सुमेषुवीरो, गच्छन् समं स जनकेन विराजते स्म ॥१३४॥

व्याख्या—महेश्वरेण—शिवेन सह । साक्षात् षडाननः—कार्त्तिकेयः, । इव,जम्भनिषूदनेन-जम्भद्विषा जम्भस्यासुरस्य रिपुणा इन्द्रेण, सह । श्रीमान् जयन्त इव, पद्मालयाप्रणयिना—पद्मालया लक्ष्मी, 'लक्ष्मी पद्मालया पद्मा,' इत्यमरः, तस्याः प्रणयी कृष्णः तेन, सह । सुमेषुवीरः-सुमानि पुष्पाणि इषवः बाणाः यस्य सः चासौ वीरश्च स कामदेवः । इव, जनकेन—पित्रा । समं गच्छन्—एव । स—बालः । विराजते—स्म शोभते स्म, अत्र मालोपमाऽलङ्कारः ॥१३४॥

अथ शिशुत्वात्तस्य तत्तद्विषयोत्सुकतामाह चतुर्भिः श्लोकैः—पृच्छनित्यादि —

पृच्छन् क्वचिद्विटपिनां विटपानतानां, नामानि लोकविदितान्यपि नश्रुतानि ।
वल्लीदलानि विपुलानि सविस्मयः सन्, गृह्णन् क्वचिच्छिशुतयाऽतिचलाचलत्वात् ॥

व्याख्या—सविस्मयः—साश्चर्यः । सन्—नवनववस्तुदर्शनादितिभावः । क्वचित्, विटपानतानां—विटपैः पल्लवैः शाखाभिश्च आनतानां नम्राणां । विटपिनां—तरूणां । लोकविदितानि—लोके प्रसिद्धान्यपि, नश्रुतानि नामानि पृच्छन् क्वचिच्च, शिशुतया—बाल्याद्धेतोः । अतिचलाचलत्वाद्—अतिचञ्चलत्वात् । विपुलानि—बहूनि । वल्लीदलानि—वल्लीनां लतानां दलानि पत्राणि । गृह्णन्—बालकानामेष स्वभाव एवेति भावः ॥१३५॥

उद्यद्दिनाधिपतिमण्डलसन्निभानि, कुत्रापि पाककलकोलफलानि चिन्वन् ।
गोपाङ्गनाः क्वचन लोचनगोचरेऽपि, कुर्वन् पयोदधिघटीः शिरसाऽऽदधानाः॥१३६

व्याख्या—कुत्रापि, उद्यद्दिनाधिपतिमण्डलसन्निभानि—उद्यतः उदयं गच्छत. दिनाधिपतेः सूर्यस्य मण्डलेन बिम्बेन सन्निभानि तुल्यानि, एतच्चौत्सुक्यहेतुः । पाककलकोलफलानि—पाकेन कलानि मधुराणि कोलाख्यफलानि । चिन्वन्—संगृह्णन् । क्वचन, पयोदधिघटीः—पयांसि क्षीराणि दधीनि च तेषां घटीः गर्गरीः । शिरसा—मस्तकेन । आदधानाः—नीयमानाः । गोपाङ्गनाः—गोपीः । अपि लोचनगोचरे,कुर्वन्—पश्यन्नित्यर्थः ॥१३६॥

दूर्वाप्रवालशकलानि सुकोमलानि, भास्वत्तुरङ्गमतनूरुहसोदराणि ।
मत्तं पुरीपरिसरे परितश्चरन्तं, कुत्रापि तर्णककुलं समवेक्षमाणः ॥१३७॥

व्याख्या—कुत्रापि,पुरीपरिसरे—नगरपर्यन्तभुवि 'पर्यन्तभूः परिसरः, इति हैमः ।' भास्वत्तुरङ्गमतनूरुहसोदराणि—भास्वतः सूर्यस्य 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वे'त्यमरः । तुरङ्गमाणां हयानां तनूरुहाणां रोमाणां सोदराणि तुल्यानि हरितानीत्यर्थः । सूर्यतुरङ्गाणां हरितवर्णत्वादितिभवः । अत एव सुकोमलानि, दूर्वाप्रवालशकलानि—दूर्वाणां हरितालीनां "दूर्वा त्वनन्ता शतपर्विका हरितालो" इति हैमः । प्रवालानां नवपल्लवानां, किसलं पल्लवोऽत्र तु नवे प्रवालः इति हैमः । शकलानि खण्डान् । परितः—समन्तात् । चरन्तम्—अत एव सुधास-

लाभेन मत्तमेकत्रानवस्थितम्, इतस्ततो धावमानमित्यर्थः। तर्णककुलं—तर्णकाणां वत्सानां 'वत्सः शकृत्करिस्तर्णः' इतिहैमः कुलं समूहं। ममवेक्षमाणः—अवलोकमानः ॥१३७॥

छायां भजन् क्वचिदपि श्रमघर्मतोयै-राप्लावितः समुदयत्सुकुमारभावः।
अभ्रंलिहावनिरुहावलिलक्ष्यमाणां, दूरादवैक्षत वनीमवनः श्रियां सः ॥१३८॥

व्याख्या—क्वचिदपि, समुदयत्सुकुमारभावः—समुदयन् वृद्धिं गच्छन् सुकुमारभावः सुकोमलता यस्य स तादृशः, अत एव। श्रमघर्मतोयैः—श्रमेण अध्वखेदेन यः घर्मः उष्णताजन्यः स्वेदः तद्रूपैः तोयैः जलैः। आप्लावितः—स्नात इव। छायाम्—अनातपम्, शैत्यार्थमिति भावः। भजन्—सेवमानः। श्रियाम्—शोभानाम्। अवनः—आवासः। सः—बालः मङ्गलकुम्भः। अभ्रंलिहावनिरुहावलिलक्ष्यमाणाम्—अभ्रंलिहाः गगनचुम्बिनः अत्युच्चा इत्यर्थः, ये अवनिरुहाः वृक्षाः तेषाम् आवल्या श्रेण्या लक्ष्यमाणाम् अवलोकनीयाम् परिचेयाञ्च। वनीम्—आरामं। दूरादवैक्षत—ददर्श ॥१३८॥

अथ तस्यारामप्राप्तिं त्रिभिराह-पुंस्कोकिलानिति—

पुंस्कोकिलान् क्वचन दर्शयता रसालशाखाप्रदेशमवलम्ब्य सुखं निविष्टान्।
पीयूषपारणविधिं श्रवसां जनानामातन्वतः सुमधुरस्वरगीतभङ्ग्या ॥१३९॥

व्याख्या—क्वचन, रसालशाखाप्रदेशं—रसालानामाम्राणां शाखानां प्रदेशं भागम्। अवलम्ब्य—आश्रित्य। सुखं—यथा स्यात्तथा, अनुपद्रवमित्यर्थः। निविष्टान्—कृतनिवासान्, उपविष्टानित्यर्थः। सुमधुरस्वरगीतभङ्ग्या—सुमधुरेण श्रवणमनोहरेण स्वरेण यद्गीतं तस्य भङ्ग्या रचनया। जनानां श्रवसां—कर्णानाम्। पीयूषपारणविधिं—पीयूषेण सुधया यः पारणविधिः व्रतान्तभोजनं तम्। आतन्वतः—सम्पादयतः। पुंस्कोकिलान्—पुरुषजातिकान् पिकान् 'कोकिलः पिकः कलकण्ठ' इत्यमरः। दर्शयता—अवलोकयता, अस्य जनकेनेत्यनेन अन्वयः ॥१३९॥

व्याकोशकिंशुकसुमायतचारुचञ्चून्, लीलाचलच्चरणचङ्क्रमणैकचुञ्चून्।
क्षीरोदसागरतरङ्गसदृक्षपक्षान्, पद्माङ्कुरादनपरान् क्वचनाऽपि हंसान् ॥१४०॥

व्याख्या—क्वचनाऽपि, व्याकोशकिंशुकसुमायतचारुचञ्चून्—व्याकोशानि विकचानि विकस्वराणीत्यर्थः, "व्याकोशं विकचम्" इति हैमः। यानि किंशुकानि पलाशानि "पलाशः स्यात् किंशुकः" इति हैमः, तेषां सुमानि

पुष्पाणीव आयता दीर्घा चारी च चंचुकोटिः 'चंचुकोटिरुभौ तिर्यौ,' इत्यमरः, तेषां तान् तादृशान्, तथा। लीलाचलच्चरणचंक्रमणैकचुञ्चून् – लीलया चलतां चलनव्यापारवतां चरणनाम् चंक्रमणे विक्षेपे एकसाधारणं चुञ्चून् प्रसिद्धान्, हंसगमनप्राशस्त्यम् प्रसिद्धमिति भावः। तथा क्षीरोदसागरतरङ्गसदृक्षपक्षान्– क्षीरोदः तदाख्यसागरः तस्य तरङ्गैः सदृक्षाः तुल्याः पक्षाः गरुतः येषां तान् तादृशान् श्वेतपक्षान्, 'पक्षो गरुच्छदश्चापि' इति हैमः। पद्माङ्कुरादनपरान्–पद्माङ्कुराणाम् अदने भक्षणे परान् आसक्तान्। हंसान्–दर्शयतेत्यनुषज्यते ॥१४०॥

चक्रीं प्रियां बिशलताशकलार्पणेन, प्रेमप्रकाशमनुरञ्जयतो यथेच्छम्।
कुत्राप्यगाधसरसीं निकषैव चक्रानारामामासददयं जनकेन साकम् ॥१४१॥

व्याख्या—कुत्रापि, अगाधसरसीं–ह्रदं। निकषा–समीपे। एव, चक्रीं–चक्रवाकीं। प्रियां–कान्ताम्। बिशलताशकलार्पणेन–बिशलतायाः बिशं मृणालम् 'मृणाले तु बिशं बिसमिति द्विरूपकोशः तस्य लतायाः शकलानां खण्डानां "खण्डेऽर्धशकले" इति हैमः अर्पणेन प्रदानेन। यथेच्छम्–इच्छामनुसृत्य। प्रेमप्रकाशं–प्रेम्णः प्रकाशः प्रकटनं यथा स्यात्तथा। अनुरञ्जयतोः–अनुकूलयतः। चक्रान्–कोकान्, 'कोकश्चक्रश्चक्रवाक, इत्यमरः', दर्शयतेत्यनुषज्यते। जनकेन, साकं–सह। अयं–मंगलकुम्भः। आरामम्-उद्यानम्, आसदत्–प्राप। ॥१४१॥

अथ तयोरुपवनप्रवेशमाह—भास्वदिति—

भास्वत्करप्रसरवारणमाऽऽदधानं, छायाभरेण विततोद्गतभूरुहाणाम्।
सान्द्रीभवत्किसलयच्छदनाञ्चितानां, स श्रेष्ठिसूरुपवनं प्रविवेश तच्च ॥१४२॥

व्याख्या—सः, श्रेष्ठिसूः–मङ्गलकुम्भः। सान्द्रीभवत्किसलयच्छदनाञ्चितानां–सान्द्रीभवन्ति यानि किसलयानि पल्लवाः "किसलयं किसलं पल्लवोऽऽत्र तु" इति हैमः, तेषां छदनैः पत्रैः अञ्चितानां समन्वितानाम् 'पत्रं पलाशं छिदनमि'त्यमरः। विततोद्गतभूरुहाणां–विततानां विस्तृतानामुद्गतानामुन्नतानाञ्च भूरुहाणां तरूणाम्। छायाभरेण–छायायाः भरेणातिशयेन। भास्वत्करप्रसरवारणं–भास्वतः सूर्यस्य कराणां किरणानां प्रसरस्य प्रवेशस्य वारणम्। आदधानं–कुर्वाणम्। तच्च उपवनम्–आरामं। प्रविवेश ॥ १४२ ॥

अथ मालिकोत्सुक्यमाह- तं बालकमिति—

तं बालकं समवलोक्य समाव्रजन्तं, पीयूषवर्षमिव लोचनयोः सृजन्तम् ।
प्रपच्छ मालिकवरो धनदत्तमिभ्यं,कोऽयं नवोऽत्र भवता समुपैति चेति ॥१४३॥

व्याख्या—**लोचनयोः**-नयनयोः । **पीयूषवर्षं**-पीयूषस्यामृतस्य वर्षं वृष्टिम् । **इव**-'वृष्टिर्वर्षमि'-त्यमरः । **सृजन्तं**-कुर्वन्तम् । **तं बालकं समाव्रजन्तं**-समायान्तं । **समवलोक्य**-दृष्ट्वा । **मालिकवरः, इभ्यं**-श्रेष्ठिनं । **धनदत्तं प्रपच्छ**--किमित्याह । **अत्र**-उद्याने । **कः अयम्**-पूर्वमदृष्टः अत एव । **नवः**-नूतनः । **भवता समं**-सह । **एति**-आगच्छति । **चेति**-पप्रच्छेत्यन्वयः । समुपैति, इतिपाठे तु, सहायातीत्यर्थः ॥१४४॥

अथ परिचित्य तस्य तत्सत्कारमाह—सूनुरिति—

सूनुर्ममायमतिजातकुतूहलः सन्नारामामागमदवेक्षितुमेव तेऽद्य ।
इभ्यप्रभूदितमिदं विनिशम्य सम्यक्, जम्बीरदाडिमफलानि ददौ स तस्मै ॥१४४॥

व्याख्या—**अद्य, अयं**-त्वया पृष्टः । **मम सूनुः**-पुत्रः । **अतिजातकुतूहलः**-अति अत्यन्तं जातं कुतूहलं वनावलोकनौत्सुक्यं यस्य स तादृशः । **सन् ते**-तव । **आरामम्**-उपवनम् । **अवेक्षितुम्**-अवलोकितुम् । **एव**-नतु तत्र प्रयोजनान्तरमिति भावः । **आगमत्, इदम्**-एतत् । **इभ्यप्रभूदितम्**-इभ्यप्रभुणा श्रेष्ठिवरेण उदितं कथितं । **सम्यग् विनिशम्य**-यथार्थं श्रुत्वा । **सः**-मालिकवरः । **तस्मै**-मंगलकुम्भाय । **जम्बीरदाडिमफलानि**-जम्बीरदाडिमानाम् उपलक्षणतया अन्येषामपि फलानि । **ददौ**-अर्पयामास ॥१४४॥

तस्मै फलान्तरदानमप्याह—रम्भाफलानीति—

रम्भाफलानि विपुलानि मनोरमाणि, सल्लाङ्गलीतनुमहाफललुम्बियुञ्जि ।
आरामिको व्यतरदाशु निवारितोऽपि,त्यागोद्धतेन किल तज्जनकेन मेति॥१४५॥

व्याख्या—**त्यागोद्धतेन**-त्यागे दाने "दानमुत्सर्जनं त्यागः" इति हैमः, उद्धतेन उत्कटेन वदान्येनेत्यर्थः । **तज्जनकेन**-तस्य बालस्य जनकेन पित्रा श्रेष्ठिना । **मा**-न ददस्व । **इत्येवं, किलेत्यलीके** । **निवारितः**-निषिद्धः । **अपि आरामिकः**-मालिकः अतिस्नेहभावाद्धेतोः । **सल्लाङ्गलीतनुमहाफललुम्बियुञ्जि**-

मनोहरा वा लाङ्गली-नालिकेरवृक्षस्तस्यास्तनूनि यानि महाफलानि तेषां लुम्बि-गुच्छं तेन युञ्जि-युक्तानि, यद्वा सल्लाङ्गली-शोभननालिकेरफलं च तनुमहाफलानि च तेषां लुम्बि तेन युञ्जि। 'नालिकेरस्तु लाङ्गली' इति हैमः, 'गुलुंछुलुम्बी अपि' इति हैमशेषः। मनोरमाणि, विपुलानि-प्रचुराणि। रम्भाफलानि—कदलीफलानि,'कदली वारणबुसा रम्भा मोचांऽशुमत्फला,' इत्यमरः। आशु,व्यतरद्-ददौ ॥१४५॥

अथ तयोः स्वभवनं प्रति परावृत्तिमाह—प्रोत्फुल्लेति—

प्रोत्फुल्लचम्पकसुमानि सकेतकानि, जाम्बूनदोपपदजातिसुमानि लात्वा।
व्यावर्तत स्वभवनं प्रति वाणिजेशः,प्रीतिं परां कलयता तनयेन सार्द्धम्॥१४६॥

व्याख्या—सकेतनानि-पुन्नागनागकेसरकुसुमकलितानि, 'केतनं···पुन्नागे नागकेसरसिंहयो' रिति हैमानेकार्थः। प्रोत्फुल्लचम्पकसुमानि-प्रोत्फुल्लानि विकस्वराणि चम्पकानां सुमानि पुष्पाणि। जाम्बूनदोपपदजातिसुमानि-जाम्बूनदमुपपदम् येषां जातिसुमानां पीतवर्णजातिपुष्पाणां तानि तथा, स्वर्णमालतीपुष्पाणीत्यर्थः। 'जातिस्तु मालती'ति हैमः। लात्वा-आदाय। वाणिजेशः-श्रेष्ठिवरः धनदत्तः। पराम्-उत्कृष्टां। प्रीतिं-मोदं। कलयता-धारयता, अभिनवोपवनदर्शनेनेति भावः। तनयेन-पुत्रेण। सार्द्धम्-सह। स्वभवनं प्रति व्यावर्त्तत-न्यवर्त्तत ॥१४६॥

अथ गृहसमागतस्य तस्य चरितमाह श्लोकद्वयेन—आनन्द्येत्यादि—

आनन्द्यमानमनसां जननीं प्रकुर्वन्नालिङ्गनेन वचनेन च सम्मतेन।
यच्छन् फलानि वनपालसमर्पितानि, तानि स्वयं परिजनाय यथाक्रमेण ॥१४७॥

व्याख्या—आलिङ्गनेन-आश्लेषेण। संमतेन-इष्टेन। वचनेन च जननीं-मातरम्। आनन्द्यमानमनसाम्-आनन्दं प्राप्नुवन् आनन्द्यमानं-प्रमोदं गच्छत् मनः यस्यास्सा तादृशी ताम्। प्रकुर्वन्, वनपालसमर्पितानि-वनपालेन मालिकेन समर्पितानि दत्तानि। तानि-पूर्वोक्तानि। फलानि, स्वयम्-आत्मनैव, न तु प्रेरणया, एतेन बाल्यादेवोदारबुद्धिः सूचिता। परिजनाय-परिवाराय। यथाक्रमम्, यच्छन्-ददत्। अस्य प्रमदमापदित्यग्रेणान्वयः ॥१४७॥

पश्यन् जिनाधिपतिपूजनमेकतानस्तं कञ्चनप्रमदमापदयं स्वतोऽपि।
आराधयद्विरसमं परमेश्वरं यः, सम्प्राप्यते नियमिभिर्नियतं कथञ्चित् ॥१४८॥

व्याख्या—जिनाधिपतिपूजनं-जिनाधिपतेः पूजनम्। एकतानः-एकाग्रः सन्। पश्यन् अयं-बालः। स्वतः-स्वयमपि। तं कञ्चन-अनिर्वचनीयं। प्रमदं-हर्षम्। आपत्-प्रापत्। यः-प्रमदः।

असमम्–इतरविलक्षणम् । नियतं-निरन्तरं । परमेश्वरम्–जिनेशम् । आराधयद्भिः-सेवमानैः । नियमिभिः–नियमबद्धिः । कथञ्चित्–महता प्रयासेन । सम्प्राप्यते ॥१४८॥

अथ तस्य सन्धिवयोऽवस्थानमाह–विज्ञाप्येति—

विज्ञाप्य स्वमुखेन तातचरणान्, कल्याणरुक् प्रीणितान् ।
गत्वाऽऽराममुपानयत् स सततं, पुष्पाणि मालाकृतः ।
अभ्यस्यत् सकलः कलाश्च वयसोर्मध्यं जगाहे द्वयोः,
कुम्भाख्यो बहुशावभावयुवता-प्रख्यातनाम्नोरयम् ॥१४९॥

व्याख्या—कल्याणरुक्प्रीणितान्–कल्याणया मङ्गलया रुचा कान्त्या, यद्वा कल्याणकारिणी रुग्-द्युतिस्तया प्रीणितान् प्रसादितान् । तातचरणान्–पितॄन् । स्वमुखेन–स्वयमेव । विज्ञाप्य–निवेद्य । सः-मङ्गलकुम्भः । सततं–प्रतिदिनम् । आरामं, गत्वा, मालाकृतः–मालिकाद । पुष्पाणि, उपानयत्–आनयति स्म । तथा सकलाः–समग्राः । कलाः–विद्याश्च अभ्यस्यत्–अधीयानः । अयं कुम्भाख्यः–बालः । बहुशावभावयुवताप्रख्यातनाम्नो–बहुशावस्य बालस्य भावः युवता यौवनञ्च, ताभ्यां प्रख्याते नामनी ययोस्तयोः द्वयोः बाल्ययुवत्वयोः । वयसोः–अवस्थयोः । मध्यं–सन्धिं । जगाहे–प्रविवेश, षोडशवर्षो जातः, इत्यर्थः ॥१४९॥

आसीत् श्रीगुरुगच्छमौलिमुकुटश्रीमान् भद्रप्रभो,
पट्टे श्रीगुणभद्रसूरिसुगुरुर्विद्यावतां सद्गुरुः ।
तच्छिष्येण कृतेऽत्र षोडशजिनाधीशस्य वृत्ते महा-
काव्ये श्रीमुनिभद्रसूरिकविना सर्गस्तृतीयोऽगमत् ॥१५०॥

व्याख्या—आसीदित्यादिश्लोकः पूर्वमेव व्याख्यात इति, व्याख्यातपूर्व एवेति बोध्यम् ॥१५०॥

या भक्तिर्गुरुनेमिसूरिचरणे, शक्तिस्तु या भाविकी,
नैपुण्यं बहुलोकशास्त्ररचना–द्यालोचनातोऽपि यत् ।
अभ्यासो बुधशिक्षया समभवद्, योऽसौ समस्तैस्तु तै-
र्व्याख्यापूर्तिमियं च दर्शनभवा, सर्गे तृतीये गता ॥३॥

卐

॥ समाप्तोऽयं तव्याख्यस्तृतीयः सर्गः ॥

❀ अथ चतुर्थः सर्गः ❀

शान्तिं यस्तनुतेऽमितां जिनवर–श्चैत्ये विचित्रप्रभे ।
शास्त्रालङ्कृतिशून्यभव्यमुकुटा-द्यच्छात्मबिम्बार्चके ॥
लोके भक्तिभराञ्चिते तमभित–श्श्रीशान्तिनाथं प्रभुं ।
नत्वा सर्गमिमां करोति सुकृती, व्याख्यां तुरीये वराम् ॥१॥

卐

अथ चतुर्थसर्गनिर्विघ्नसमाप्त्यर्थं प्रथमं मङ्गलमाचरति—उपास्येति—

उपास्य यस्याङ्कमनाप्यमन्यैर्विलोचनानामबलाजनानाम् ।
मृगो बभाराप्युपमानभावं, शान्तिप्रभुर्वस्तनुतां स शर्म ॥१॥

व्याख्या—यस्य–प्रभोः । अन्यैः–इतरप्राणिभिः । अनाप्यम्–अलभ्यम् । अङ्कं–चिह्नम् । उपास्य–परिषेव्य, श्रीशान्तिनाथस्य मृगाङ्कत्वादितिभावः । मृगः– हरिणोऽपि, अबलाजनानां–नारीणां । विलोचनानां–नेत्राणाम् । उपमानभावम्–उपमानत्वम् । बभार–प्राप, नारीणां 'अलसेक्षणा मृगाक्षी मत्तेभगमनापि च' इति हैमोक्तेः, मृगाक्ष्यादि पदवाच्यत्वादिति भावः । सः–प्रसिद्धः । शान्तिप्रभुः–श्रीशान्तिनाथाख्यषोडशतीर्थङ्करः । वः–अध्येत्रध्यापकानां । शर्म–सुखम्, 'शर्मशातसुखानि चे' त्यमरः । तनुतां–विस्तारयतु ॥१॥

अथ मङ्गलकुम्भविवाहाङ्गभूततत्पत्नीकुलादि वर्ण्यति—इतश्च चम्पानगरीति—

इतश्च चम्पानगरी प्रसिद्धा, कलिङ्गदेशे विषयावतंसे ।
भोगीशिता यामवलोक्य रम्यां, भोगावतीं स्वामध एव चक्रे॥२॥

व्याख्या—इतश्च–पक्षान्तरे । विषयावतंसे–विषयानां देशानाम् अवंतसे भूषणस्वरूपे । कलिंगदेशे–चम्पानगरी प्रसिद्धा, याम्–चम्पानगरीम् । अवलोक्य, भोगीशिता–नागाधिपः । रम्यां–मनोहरां । स्वां–निजां । भोगावतीं– तदाख्यनगरीम्, 'तेषां भोगवती पुरी' इति हैमः । अधः–नीचैः पाताले ।

एव, चक्रे—उपरि तु तदधिकायाः चम्पानगर्याः सत्त्वात् तद्रम्यता लुप्तैव स्यादिति भावः । अत्र चम्पानगरीमवलोक्य स्वनगर्याः अधःकरणाभावेऽप्युक्तेः असम्बन्धे सम्बन्धरूपा अतिशयोक्तिरलङ्कारः । तेन च भोगावत्यपेक्षयापि चम्पानगरी अधिकरम्येति व्यतिरेको ध्वन्यते ॥२॥

अत्रत्यं राजानं वर्णयति—न्यायक्रियासुन्दरेति—

न्यायक्रियासुन्दर एव तस्यां, पृथ्वीपतिः सुन्दरनामधेयः ।
बभूव यस्याग्रत एव लक्ष्म्याः, पुरन्दरः किङ्कर इत्यमानि ॥३॥

व्याख्या—तस्यां-चम्पानगर्यां । न्यायक्रियासुन्दरः—न्याये नीतौ धर्मादिकार्येषु च सुन्दरः परायणः । एव—अत एव । सुन्दरनामधेयः—एतेनान्वर्था संज्ञाइति सूचितम् । पृथ्वीपतिः बभूव। यस्य—राज्ञः। लक्ष्म्याः—समृद्धेः । अग्रतः—पुरतः । पुरन्दरः—इन्द्रः । किङ्करः—दास एव । इति अमानि—मन्यते स्म लोकैरिति शेषः । अत्रोपमाने पुरन्दरे किङ्करत्वेन हीनत्वे वर्णनाद् व्यतिरेकः ॥३॥

अथ राज्ञीमाह—गुणावली तस्येति—

गुणावली तस्य नृपस्य देवी, देवीव सौन्दर्य्यगुणेन याऽऽसीत् ।
त्रैलोक्यसुन्दर्य्यभिधा तदीया, त्रैलोक्यसुन्दर्य्यभवत्तनूजा ॥ ४ ॥

व्याख्या—तस्य—सुन्दरनाम्नो नृपस्य । गुणावली—तन्नाम्नी । देवी—पट्टमहिषी । या—राज्ञी । सौन्दर्यगुणेन—सौन्दर्येण गुणेन च । देवी—सुरस्त्री । इवासीत् तदीया—राज्ञोः । त्रैलोक्यसुन्दरी—त्रैलोक्ये सुन्दरी, सुन्दररूपवती । तनूजा—पुत्री । त्रैलोक्यसुन्दर्यभिधा—त्रैलोक्यसुन्दरी अभिधा यस्याः सा । त्रैलोक्यसुन्दरीनाम्नी । अभवत् ॥४॥

अथ त्रैलोक्यसुन्दर्याः यौवनं श्लोकद्वयेनाह—उत्सङ्गसंसङ्गिफलोपशोभामित्यादि—

उत्सङ्गसंसङ्गिफलोपशोभां, स्वप्ने समालोकत वीरुधं यत् ।
तमीतुरीयप्रहरेऽवशिष्टे, तस्यां प्रसूर्गर्भमधिश्रयन्त्याम् ॥५॥
अन्योऽन्यमास्फालयता तदस्या, विजृम्भमाणेन कुचद्वयेन ।
कन्दर्पलीलोपवने कृशाङ्ग्या, तद्यौवने किं फलितं न चापि ? ॥६॥

व्याख्या—प्रसूः—माता । तस्यां—त्रैलोक्यसुन्दर्यां । गर्भम् अधिश्रयन्त्याम्—आश्रयन्त्याम्, गर्भावस्थितायां सत्यामित्यर्थः । तमीतुरीयप्रहरे—तम्याः रजन्याः 'रजनी यामिनी तमी' इत्यमरः । तुरीये चतुर्थे प्रहरे यामे, 'द्वौ यामप्रहरौ समा' वित्यमरः । अवशिष्टे—सति, तत्कालदृष्टस्वप्नस्य सफलत्वादितिभावः । स्वप्ने उत्सङ्गसंसक्तिफलोपशोभाम्—उत्सङ्गे अङ्के 'अङ्कः क्रोड उत्सङ्गः' इति हैमः, संसक्तिभिः लग्नैः फलैः उपशोभा यस्यास्ताम्, फलसमन्वितां । वीरुधं—लताम् 'लता प्रतानिनी, वीरुद्गुल्मिन्युलप' इत्यमरः । यत्—यस्माद्धेतोः । समालोकत, तत्—तस्माद्धेतोः, तत्सा लता । अस्याः कुशाङ्गथाः—त्रैलोक्यसुन्दर्याः । कन्दर्पलीलोपवने—कन्दर्पस्य कामस्य लीलायै विलासाय यदुपवनमुद्यानं तद्रूपे । तद्यौवने—तस्याः तारुण्ये । विजृम्भमाणेन—वृद्धिं गच्छता, अत एव । अन्योऽन्यम्—परस्परम् । आस्फालयता—सङ्घर्षमाप्नुवता, अतिवनेन पीवरेण चेत्यर्थः । कुचद्वयेन—स्तनद्वयेन कृत्वा । किं न चापि ना फलितम् ? अपितु सैव फलितमेवेत्यर्थः । फलयुक्तलतेव तदानीं सेति भावः । अत्र किं फलितं न चापीत्युक्त्या स्पष्टैवोत्प्रेक्षा ॥५-६॥

अथ तां तादृशीं दृष्ट्वा मातुर्मोदमाह—तां यौवनेति—

ता यौवनोद्भेदविशेषरम्यां, माता समालोक्य मुदं बभार ।
विचिन्तयन्तीति सुधा किमेषा, मत्कुक्षिरत्नाकरतो विजज्ञे ॥७॥

व्याख्या—तां—त्रैलोक्यसुन्दरीम् । यौवनोद्भेदविशेषरम्यां—यौवनस्य उद्भेदेनाविर्भावेन विशेषेण पूर्वतोऽप्याधिक्येन रम्यां शोभासम्पन्नाम् । समालोक्य, माता, मत्कुक्षिरत्नाकरतः—मत्कुक्षिर्ममोदरमेव रत्नाकरः सागरः, ततः । एषा—पुत्री । सुधा—अमृततुल्या । विजज्ञे—जाता । किम् ? इति—इत्थं । विचिन्तयन्ती—उत्प्रेक्षमाणा । मुदं—हर्षं । बभार—दधौ ॥७॥

अथ तामलङ्कृत्य पितुः समीपे प्रस्थापनं त्रिभिराह अन्येद्युरभ्यज्येत्यादि—

अन्येद्युरभ्यज्य सहस्रपाकतैलेन कर्पूरसुगन्धिनैनाम् ।
श्रीखण्डवासैर्मसृणैः समन्तादुद्वर्त्य कोष्णैरभिषेच्य वार्भिः ॥ ८ ॥

व्याख्या—अन्येद्युः—एकदा । एनां—त्रैलोक्यसुन्दरीम् । कर्पूरसुगन्धिना—कर्पूरेण सामोदेन । सहस्रपाकतैलेन अभ्यज्य—कृताभ्यङ्गां कृत्वा । मसृणैः—स्निग्धैः । श्रीखण्डवासैः—श्रीखण्डस्य चन्दनस्य वासैः क्षोदैः । उद्वर्त्य—कृतोद्वर्त्तनां कृत्वा । कोष्णैः—ईषदुष्णैः । वार्भिः—जलैः । अभिषेच्य—स्नपयित्वा । अस्याग्रे प्रस्थापयामासेत्यनेनान्वयः ॥८॥

सुवर्णरत्नाभरणैर्विचित्रै – राचूलमापादनखं विभूष्य ।
दिव्यं दुकूलं परिधाप्य भव्यं, शिरीषकोषभ्रदिमाऽपघाति ॥९॥

व्याख्या—विचित्रैः—नानाविधैः । सुवर्णरत्नाभरणैः—सुवर्णानां रत्नानाञ्चाभरणैः भूषणैः । आचूलम्—आकेशपाशि, 'शिखा चूडाकेशपाशी'त्यमरः । आपादनखं—पादनखपर्यन्तमित्यर्थः, सर्वाङ्गेष्विति यावत् । विभूष्य—अलङ्कृत्य । भव्यं—मनोहरं । शिरीषकोषभ्रदिमाऽपघाति—शिरीषकोषस्य भ्रदिम्नः कोमलतायाः अपघाति अधःकारकम् । अत एव दिव्यं दुकूलं—सूक्ष्मवस्त्रं, क्षौमाख्यं पट्टवस्त्रं 'क्षौमं दुकूलं स्यात्' इत्यमरः परिधाप्य ॥९॥

गुणावली तां प्रसरत्समग्र-गुणावलीमालिजनेन सार्द्धम् ।
आस्थानमास्थायकृतासनस्य, प्रस्थापयामास नृपस्य पार्श्वम् ॥१०॥

व्याख्या—प्रसरत्समग्रगुणावलीं—प्रसरन्ती समासजन्ती समग्राणां गुणानामावली श्रेणी यस्यां ताम् । तां—त्रैलोक्यसुन्दरीम् । गुणावली—राज्ञी । आलिजनेन—सखीलोकेन । सार्द्धम्—'आलिः सखी वयस्या' इत्यमरः । आस्थानं—सभामण्डपम् । आस्थाय—अधिश्रित्य । कृतासनस्य—कृतमासनमुववेशनं येन तस्य, सभायामुपविष्टस्य । नृपस्य, पार्श्वं—समीपे । प्रस्थापयामास ॥१०॥

भूपालदोःस्तम्भमवाप्य बाला, सा शालभञ्जीव परं रराज ।
विलोचनेन्दीवरसन्ततीनां, ज्योत्स्नेव यूनां ददती विकाशम् ॥११॥

व्याख्या—यूनां—तरुणानाम् । विलोचनेन्दीवरसन्ततीनां—विलोचनान्येवेन्दीवराणि नीलोत्पलानि 'नीले तु स्यादिन्दीवरम्' इति हैमः । तेषां सन्ततीनामावलीनां । ज्योत्स्ना—चन्द्रिका । इव—नीलोत्पलं रात्रौ विकसतीति कविसमयः । विकाशम्—उल्लासं । ददती—अर्पयन्ती, यूनां लोचनानि विस्फारयन्तीत्यर्थः । युवभिः सोत्सुकमवलोकनादिति भावः । सा, बाला—त्रैलोक्यसुन्दरी । भूपालदोःस्तम्भं—भूपालस्य पितुः राज्ञः दोर्बाहुरेव स्तम्भः तम् । अवाप्य—प्राप्य, भूपेन वात्सल्येनाश्लिष्टा सती । शालभञ्जी—पुत्तलिकेव । परम्—अत्यन्तं । रराज—शुशुभे । (उपमा) ॥११॥

अथ तां दृष्ट्वा नृपस्य वरचिन्तामाह युग्मेन—विलोक्यबालामित्यादि—

विलोक्य बालां सुरसुन्दरस्तां, रूपस्वरूपेण जगज्जयन्तीम् ।
गुणैरशेषानपि रञ्जयन्तीं, मनोभुवः शासनवैजयन्तीम् ॥१२॥

दध्यौ नृपस्त्वेवमहो ! किमस्या, वरो विधात्रा प्रवरो न सृष्टः ।
सृष्टो यदि स्यादवलोक्यतेऽत्र, श्रोत्रातिथित्वं प्रतिपद्यते वा ॥१३॥

व्याख्या—**गुणैः**—कृत्वा । **अशेषान्**—सर्वानपि, **रञ्जयन्तीं**—मोदयन्तीम् । **रूपस्वरूपेण**—रूपस्य आकृत्याः स्वरूपेण शोभया । **जगत्**—लोकम् । **जयन्तीम्**—अधः कुर्वतीम् । अत एव, **मनोभुवः**—कामस्य । **शासनवैजयन्तीं**—शासनस्य साम्राज्यस्य वैजयन्तीं विजयपताकातुल्यां । **तां बालां**—त्रैलोक्यसुन्दरीम् । **विलोक्य, सुरसुन्दरः नृपः एवं**—वक्ष्यमाणप्रकारेण । **दध्यौ**—चिन्तितवान्, किमित्याह । **अहो**—इति खेदे । **विधात्रा**—ब्रह्मणा । **अस्याः**—बालिकायाः । **प्रवरः**—श्रेष्ठः अनुगुणो वा । **वरः**—पतिः । **न सृष्टः**—निर्मितो न। **किम्** ? ननु कुत एष प्रश्न इत्याह—**यदि सृष्टः स्याद् अत्रावलोक्यते**—अवलोकितः स्यात् । **वा**—अथवा । **श्रोत्रातिथित्वं**—श्रोत्रयोः कर्णयोः अतिथित्वं प्राघुर्णकत्वं । **प्रतिपद्यते**—प्रतिपन्नः स्यात्, श्रुतः स्यादित्यर्थः । न च दृष्टः न च श्रुतः, तस्माद् सृष्टो नवेति सन्देहः ॥१२—१३॥

अथ वरविषये चिन्तान्तरमाह—**अतादृशायेति**—

अतादृशाय प्रतिपाद्यते चेत्, संपद्यते तद्वचनीयता मे ।
अस्यां हि सृष्टिः सुकृतैरियं तत्, संपादयिष्यन्ति तमेव तानि ॥१४॥

व्याख्या—**अतादृशाय**—अनीदृशाय । **चेत्**—यदि । **प्रतिपाद्यते**—इयं कन्या दीयते । **तत्**—तर्हि । **मे**—मम । **वचनीयता**—निन्दनीयता । **सम्पद्यते**—जायते । कथमेतादृशाय तादृशी कन्या समर्पितेत्य-विवेक्ययमित्येवमिति भावः । ननु तर्हि किं कर्त्तव्यं तत्राह—**हि**—यतः । **अस्यां**—कन्यकायां । **सुकृतैः**—पुण्यैः । **इयम्**—ईदृशी गुणरूपादिसम्पद्रूपा । **सृष्टिः**—निर्मितिः विधानम्, तत् तस्मात् । **तानि**—सुकृत्यान्येव । **तं**—वरं । **सम्पादयिष्यन्ति**—प्रापयिष्यन्ति । नहि सुकृतकार्यमेकत्र पक्षपातीति भावः ॥१४॥

अथ राज्ञोऽन्तःपुरगमनमाह—**निश्चित्येति**—

निश्चित्य चित्ते स्वयमित्यधीशः, सभां पुनस्तां सहसा विसृज्य ।
अन्तःपुरं बालिकया तयाऽमा, समागमद्वेत्रिनिरुद्धलोकम् ॥१५॥

व्याख्या—इति—पूर्वोक्तप्रकारं । स्वयम्—आत्मना । चित्ते, निश्चित्य पुनः—अनन्तरम् । तां, सभां, सहसा, विसृज्य—त्यक्त्वा । अधीशः—भूपः । तया, बालिकया—त्रैलोक्यसुन्दर्या । समा—सह । वेत्रिनिरुद्धलोकम्—वेत्रिणा, वेत्रधारिणा द्वारपालेन निरुद्धः निषिद्धः लोकः सहागतः इतरो जनः यत्र तत्तादृशम् । अन्तःपुरम्—अवरोधम् । समागमत् ॥१५॥

प्रत्युज्जगामाऽथ गुणावली तं नृपावलीवन्द्यपदारविन्दम् ।
भद्रासने भद्रतया निविष्टं, सा संनिविष्टा तमिदं बभाषे ॥१६॥

व्याख्या—अथ—राज्ञि समागते । गुणावली—राज्ञी । नृपावलीवन्द्यपदारविन्दं—नृपावल्या राजसमूहेन वन्द्ये पदौ एव अरविन्दे यस्य तं तादृशम् । तं—भूपम् । प्रत्युज्जगाम—सम्मुखं ययौ, स्वागतार्थमिति भावः । तथा भद्रासने—नृपासने 'भद्रासनं नृपासनम्' इति हैमः । भद्रतया—कुशलेन । निविष्टम्—उपविष्टं । तं—भूपं । सन्निविष्टा—स्वयमुपविष्टा । सा—गुणावली । इदं—वक्ष्यमाणप्रकारं । बभाषे ॥१६॥

अथ तदुक्तिमेव प्रपञ्चयति—विवाहयोग्येति—

विवाहयोग्या भवतोऽस्ति पुत्री, यशःपवित्रीकृतविश्वविश्व !
दिगीश्वरांशाश्रितमूर्तिरद्धा, सर्वं स्वतो वेद महीमहेन्द्रः ॥१७॥

व्याख्या—यशःपवित्रीकृतविश्वविश्व!—यशोभिः पवित्रीकृतं विश्वं समस्तं विश्वं भुवनं येन स तादृश ! भवतः, पुत्री, विवाहयोग्या, अस्ति, दिगीश्वरांशाश्रितमूर्तिः—दिगीश्वराणां दिक्पालानामंशैः तेजोभिः आश्रिता मूर्त्तिः शरीरं यस्य स तादृशः । राज्ञो दिक्पालांशसंभवत्वादिति भावः । महीमहेन्द्रः—मह्यां महेन्द्र इव स भवान् । अद्धा—निश्चयेन 'निश्चयेऽद्धाऽञ्जसा द्वयम्' इतिशेषनाममाला । स्वतः—स्वयमेव । सर्वं—पुत्र्याः विवाहयोग्यतादि । वेद—जानाति । एवञ्च मदुत्थनम् नातीवोपयुज्यते, अलं विशेषु विज्ञप्त्येति भावः ॥ १७ ॥

अथ विशेषतो वक्तव्यमाह—विज्ञापनेति—

विज्ञापना यत् क्रियते तदत्राऽवधारय त्वं परमार्थमीश !
अस्माकमस्यां मनसा प्रवृद्धः, प्रेमा समुज्जृम्भत एव कोऽपि ॥१८॥

व्याख्या—ईश !—स्वामिन् ! अत्र—अस्याः विवाहविषये । यद्, विज्ञापना—निवेदनं । क्रियते—मयेति शेषः । तत्, परमार्थं—मम विशेषतो वक्तव्यम् । अवधारय—निश्चितं कुरु जानीहि । किन्तदित्याह । अस्यां—कन्यकायाम् । अस्माकं, मनसा प्रवृद्धः—वृद्धिं गतः पुष्टः इत्यर्थः । कोऽपि—विलक्षणः । प्रेमा—प्रीतिः । समुज्जृम्भत एव—प्रतिदिनं वर्धत एव ॥१८॥

ततो महाराज ! मयि प्रसादं, विधाय पुत्रीं प्रतिपादयेताम् ।
वराय कस्मैचिदिदंपुरीय - वास्तव्यचूडामणये महेच्छ ! ॥१९॥

व्याख्या—महाराज ! महेच्छ !—मनस्विन् ! ततः—प्रेमवृद्धेर्हेतोः । मयि प्रसादं—प्रसन्नतां । विधाय, —अनुग्रहं कृत्वेत्यर्थः । इदंपुरीयवास्तव्यचूडामणये—इदंपुरीया ये वास्तव्याः एतन्नगरनिवासिनः तेषु चूडामणये चूडामणिवत्सर्वोच्चस्थानस्थिताय, पुरुषोत्तमायेत्यर्थः । वराय, कस्मैचित्,इमां पुत्रीं, प्रतिपादय—ददस्व ॥१९॥

ननु तेन तव को लाभ इत्याह—संगच्छतेऽसौ इति—

सङ्गच्छतेऽसौ श्वशुरस्य गेहा-दागत्य चागत्य यथाऽनिशं नः ।
अस्या वियोगं न वयं विसोढुं, क्षमाः क्षमाखण्डल ! किञ्चिदेव ॥ २०॥

व्याख्या—यथा—येन । श्वशुरस्य, गेहाद् आगत्यागत्य च, असौ—पुत्री । नः अनिशं—प्रतिदिनं सङ्गच्छते—मिलेत् । ननु प्रतिदिनं मिलनं नात्यावश्यकमिति चेत्तत्राह । क्षमाखण्डल !—क्षमायाम् आखण्डल इन्द्र इव ! महीमहेन्द्र ! अस्याः—पुत्र्याः । किञ्चिदेव—ईषदपि, अल्पकालमपीत्यर्थः । वियोगं—विरहं । विसोढुं, वयं न क्षमाः—शक्ताः । पुरान्तरगमने तु वियोगोऽवश्यंभावी स चासह्य इति ॥२०॥

अस्य पत्न्यन्तरसमर्थनमप्याह—राज्ञीभिरिति--

राज्ञीभिरन्याभिरियं निजेच्छा, राज्ञः पुरो विज्ञपयाम्बभूवे ।
को वा प्रभूणां न मनीषितं स्वं, लब्धावकाशः प्रविकाशयेत ॥२१॥

व्याख्या—राज्ञः पुरः—अग्रे । अन्याभिः राज्ञीभिः—अपि । इयं—पट्टमहिष्युक्ता । निजेच्छा—स्वाभिलाषः, एवमेव ममाप्यभिलाष इत्येवमिति भावः । विज्ञापयाम्बभूवे—व्यज्ञापि । ननु सर्वाभिरेव किमिति स्वाशयः प्रकटितः इति चेत्तत्राह—प्रभूणां—स्वामिनाम् अग्रे । लब्धावकाशः—प्राप्तावसरः । कः, वा

स्वम्–आत्मीयं । मनीषितं–समीहितं । न, प्रविकाशयेत–प्रकटयेत ? अपि तु सर्वं एवेत्यर्थः । अत्र विशेषस्य, राज्ञीकृताशयप्रकटनस्य, सामान्याशयप्रकटनेन समर्थनाद्विशेषस्य सामान्येन समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २१ ॥

अथ राज्ञः सभागमनमाह–विज्ञप्तिमासामिति—

विज्ञप्तिमासां हृदये निधाय, क्ष्मावासवः संसदमध्युवास ।
पूषेव पूर्वाचलसानुदेशं, सिंहासनं च श्रितवानतन्द्रः ॥ २२ ॥

व्याख्या—क्ष्मावासवः–महीमहेन्द्रः । आसाम्–राज्ञीनाम् । विज्ञप्तिं–निवेदनम् । हृदये, निधाय–मनसि कृत्वा । संसदं–सभाम् । अध्युवास–अध्यशिश्रियत् । पूर्वाचलसानुदेशं–पूर्वः पूर्वदिक्स्थः यः अचल पर्वतः उदयाचलपर्वतः, तस्य सानुदेशं प्रस्थप्रदेशं 'स्नुः प्रस्थः सानुरि' त्यमरः । पूषा–सूर्यः । इव, सिंहासनम्, अतन्द्रः–प्रसन्नः । श्रितवान्–अधिष्ठितवाँश्च ॥२२॥

सुबुद्धिनामानमथो सुबुद्धिं, मन्त्रीशमूचे वसुधासुधांशुः ।
सुतां मदीयां स्वसुतेन सार्द्धं, विवाहयाऽस्मद्विनियोगतस्त्वम् ॥२३॥

व्याख्या – अथो–अनन्तरम् । वसुधासुधांशुः–पृथिवीचन्द्रः,स राजा । सुबुद्धिं–बुद्धिमन्तं । सुबुद्धिनामानं, मन्त्रीशम्, ऊचे–किमित्याह । त्वम्, अस्मद्विनियोगतः–अस्मत्प्रेरणया । स्वसुतेन–निजपुत्रेण । सार्द्धं, मदीयां, सुतां–पुत्रीं । विवाहय ॥२३॥

अथ मन्त्रिकृतोत्तरमाह—त्वग्दोषदुष्टमिति—

त्वग्दोषदुष्टं तनयं विभाव्य, प्रोवाच मन्त्री नृपतिं प्रतीदम् ।
स्वामिन्ननौचित्यविपश्चितं किं, वचस्त्वयाऽवाचि विपश्चिताऽपि ॥२४॥

व्याख्या—मन्त्री, तनयं–पुत्रं । त्वग्दोषदुष्टं–त्वग्दोषेण चर्मरोगेण श्वित्रादिना दुष्टम् दूषितं । विभाव्य–विचिन्त्य, मम पुत्रः त्वग्दोषदुष्ट इत्येवं विचार्य । नृपतिं,प्रति, इदं–वक्ष्यमाणं । प्रोवाच । इदमिति किमित्याह –स्वामिन् ! विपश्चिताऽपि–विदुषाऽपि । त्वया, अनौचित्यविपश्चितम्–अनौचित्येन विपश्चितं समन्वितमनुचितमित्यर्थः । वचः–वचनं । किमवाचि–जगदे, नैतद्वचनं तव युज्यते इत्यर्थः ॥२४॥

कुतोऽनौचित्यमित्याह— **क्व स्वर्णकायः** इति –

क्व स्वर्णकायः क्व च राजिलोऽयं, क्वैरावणः क्वैडकडिम्भ एषः ।
राजेन्द्रसंसेव्यपदः क्व देवस्त्वत्पादपद्मप्रणयी क्व चाऽहम् ॥२५॥

व्याख्या – **स्वर्णकायः**—कनकाङ्गः गरुडो वा । **क्व**—'स्वर्णकायस्तार्क्ष्यः' इति हैमः । **अयं**-लोकनिकृष्टः । **राजिलः**—मलिनवर्णः डुण्डुभः सर्पविशेषः । **क्व च**-'समौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यमरः । **ऐरावणः**—सुरगजः । **क्व एषः**—नीचतरः । **एडकडिम्भः**—मेषबालः । **क्व**—अनयोर्महदन्तरमितिभावः । **राजेन्द्रसंसेव्यपदः**—राजेन्द्रसंसेव्यौ पदौ पादौ यस्य स तादृशः । **देवः**—भवान् । **क्व, त्वत्पादपद्मप्रणयी, अहं च क्व**—आवयोः स्वर्णकायराजिलयोः ऐरावणैडकडिम्भयोरिव महदन्तरमिति भावः ॥२५॥

ननु भवत्येवम् तथापि विवाहसम्बन्धे का हानिरिति चेत्तत्राह **वित्तं ययोरेवेति**—

वित्तं ययोरेव समं जगत्यां, कुलं ययोरेव समं प्रतीतम् ।
मैत्री तयोरेव तयोर्विवाहस्तयोर्विवादश्च निरूपितोऽस्ति ॥२६॥

व्याख्या—**जगत्यां**—लोके । **ययोः**—द्वयोः । **समं**—तुल्यमेव, **वित्तम् ययोरेव, कुलं**—वंशः । **समं, प्रतीतम्**—ज्ञातम् । **तयोरेव, मैत्री, तयोर्विवाहः, तयोः विवादः**—व्यवहारश्च । **निरूपितः** – नीत्यादिशास्त्रे 'ययोरेव समं वित्तं,ययोरेव समं कुलम् । तयोर्विवाहः सख्यं च,न तु पुष्टविपुष्टयोः'इत्यादि वचनात् । **अस्ति** । "व्यवहारो विवादः स्यात्" इति हैमः । आवयोश्च न किञ्चिदपि सममतोऽनौचित्यमिति भावः ॥२६॥

नन्वेवमपि द्वयोरिच्छायां सत्यां विवाहसम्बन्धे न कोऽपि दोषः इति चेत्तत्राह— **स एवेति**—

स एव सम्बन्धविधिर्विधेयः, सम्बन्धिता येन भवेत् प्रशस्या ।
निर्बन्धमापाद्य विधीयमानः, सम्बन्ध एव प्रकरोति हास्यम् ॥२७॥

व्याख्या—**स एव, सम्बन्धविधिः**—सम्बन्धस्य विधिरनुष्ठानं । **विधेयः**—कर्त्तव्यः । **येन**—सम्बन्धविधानेन । **सम्बन्धिता प्रशस्या**—अवचनीया । **भवेत्**—विपक्षे बाधकमाह-**निर्बन्धम्**—आग्रहम्, । **आपाद्य**—प्राप्य । **विधीयमानः सम्बन्धः, हास्यमेव प्रकरोति**—एतादृशस्य श्रेष्ठस्यैतादृशो निकृष्टः सम्बन्धीत्येवं लोकहास्यं जायते इति भावः ॥२७॥

अथ मन्युक्तिमुपसंहरति—**ततो महाराज !** इति—

ततो महाराज ! मनागपीदं, न युक्तमेतद्भवताऽभ्यधायि ।
महीयसामातनुते महत्त्वं, युक्त्यानुयुक्तं हि निरूप्यमाणम् ॥२८॥

व्याख्या—**महाराज ! ततः**—तत्स्माद्धेतोः । **भवता एतत्**—कथितम् । **इदं**—वचनं । **मनागपि**—ईषदपि । **युक्तं**—सम्यक् । **न अभ्यधायि**—उक्तम् । **हिः**—यतः । **महीयसां**—महत्तराणां । **युक्त्या**—तर्केण । **अनुयुक्तं**—समन्वितं । **निरूप्यमाणं**—कथ्यमानं । **महत्त्वं**—सारवत्त्वम् । **आतनुते**—विस्तारयति, अतः एतद्वचनं भवतो महत्त्वं न पुष्यति इति भावः ॥२८॥

ननु मत्तः सम्बन्धे तव लाभ एवेति त्वया किं निषिध्यते इति चेत्तत्राह—**अपेक्षणीयेति**—

अपेक्षणीया न भवन्ति जातु, क्षोणीश्वराणामपि सेवकास्ते ।
ये लोभमालम्ब्य समुत्सहन्ते, कीर्तिं प्रभो ! च्छेत्तुमिह प्रसिद्धाम् ॥२९॥

व्याख्या—**इह**—जगति । **ये लोभं**—धनादिलाभजनिताधिकप्रत्यभिलाषम् । **आलम्ब्य**—आश्रित्य । **प्रभोः**—स्वामिनः । **प्रसिद्धां कीर्तिं**—विश्वविश्रुतं विमलं यशः । **छेत्तुं**—मलिनयितुं । **समुत्सहन्ते**—सज्जा भवन्ति । **ते सेवकाः**—क्षोणीश्वराणमपि राज्ञामपि । **जातु**—कदाचिदपि । **अपेक्षणीयाः**—आदरपात्रं । **न भवन्ति**—नहि जायन्ते । सेवकैस्तथा नाचरणीयं कदाचिदपि, येन प्रभुकीर्त्तिहानिः सम्भाव्यते, इति भावः ॥२९॥

अथ भूपकृतोत्तरमाह—**तदुक्तमाधायेति**—

तदुक्तमाधाय हृदीति राजा, विराजमानः सहजेन धाम्ना ।
जगाद मन्त्रिन् ! कथमस्मदीयं, वाक्यं विसम्बन्धमुदाहरस्त्वम् ॥३०॥

व्याख्या—**इति**—पूर्वोक्तप्रकारं । **तदुक्तं**—तेन मन्त्रिणा उक्तं कथितं वचनं । **हृदि आधाय**—कृत्वा श्रुत्वेत्यर्थः । **सहजेन**—स्वाभाविकेन । **धाम्ना**—प्रतापेन । **विराजमानः**—शोभमानः । **राजा जगाद**—किमित्याह **मन्त्रिन् ! त्वं कथं**—केन प्रकारेण । **अस्मदीयं वाक्यम्**—अस्मदुक्तं वचनं । **विसम्बन्धं**—विगतः सम्बन्धः यतः तत्तादृशमनुचितम् । **उदाहरः**—अकथयः, अनौचित्ये तव तर्को न सङ्गत इति भावः ॥३०॥

ननु केन तर्केण तवौचित्यमित्याह—**स्वस्वामीति**—

स्वस्वामिसम्बन्धमभाषताऽयं, दाक्षीसुतो व्याकरणं प्रकुर्वन् ।
आबालगोपालमहो ! प्रसिद्धः, संस्मर्यतेऽमात्य ! स किं त्वया न ? ॥३१॥

व्याख्या—**अयं**—स प्रसिद्धः । **दाक्षीसुतः**—पाणिनिः 'दाक्षीपुत्रोऽपि पाणिनौ' इति शिलोञ्छः ।

व्याकरणं—तदाख्यशास्त्रं । प्रकुर्वन्—विदधत् । स्वस्वामिसम्बन्धम्, अभाषत—स्वस्वामिभावसम्बन्धे शेषे षष्ठीविधानादिति भावः । अहो ! आश्चर्यम् ! अमात्य ! मन्त्रिन् ! त्वया, आबालगोपालम्—बालपर्यन्तं गोपालपर्यन्तं, च । प्रसिद्धः—ख्यातः । सः—सम्बन्धः । किं न संस्मर्यते ? विस्मृतोऽसि ? स्मर्त्तव्यं तिदिति भावः ॥३१॥

ननु पाणिनिना स्वस्वामिभावः सम्बन्धः उक्तः, तत्स्मर्यते च, तेन प्रकृते किमायातम् इति चेत्तत्राह—सम्बन्धमिति—

सम्बन्धमुद्द्योतयितुं पटिष्ठा, षष्ठीविभक्तिः सुधियां मतास्ति ।
त्वं सेवकोऽहं प्रभुरस्मि तेऽपि, प्रतीतमेवं तमुरीकुरुष्व ॥३२॥

व्याख्या—सुधियां—विदुषां । सम्बन्धम्—स्वस्वामिभावाद्याख्यं संसर्गम् । उद्योतयितुं—ध्वनयितुं, विभक्तीनां द्योतकत्वस्यैव स्वीकारादिति भावः । षष्ठीविभक्तिः—षष्ठीपदवाच्यत्वेन व्याकरणे प्रसिद्धा "ङसोसामि"ति विभक्तिः । पटिष्ठा—समर्था । मता—सम्मता । अस्ति । ननु तेन किमित्यव आह—त्वं सेवकः, अहं प्रभुः—स्वामी । अस्मि—इति । ते—तवापि, एवं प्रतीतम्—इष्टमेव, स्वस्वामिभावसम्बन्धः तवापीष्ट एवेत्यर्थः एवञ्च । तं—सम्बन्धम् । उरीकुरुष्व—स्वीकुरुष्व । एतेन त्वया मम सम्बन्धो वर्त्तते एव, न तु नवीनः कश्चित्कर्त्तव्यः, केवलं स एव सम्बन्धः प्रकारान्तरेणाऽपि दृढ़ीकर्त्तव्यः, एवञ्च नानौचित्यमिति भावः ॥३२॥

यद्यप्युक्तं 'वित्तं ययोरेवे'त्यादि, तदपि न युक्तमित्याह—धनं ययोरेवेति—

धनं ययोरेव समानमित्याद्यवाचि यत्तन्न विचारचारु ।
सहस्रपादस्य दिनेश्वरस्य, किं पङ्गुना काश्यपिना न योगः ? ॥३३॥

व्याख्या—धनं ययोरेव समानमित्यादि । यत्—पुरा । त्वया अवाचि तत्—तद्वचनं । विचारचारु—विचारेण चारु युक्तिर्युक्तं । न—कुत इत्याह । सहस्रपादस्य—सहस्रं पादाः किरणाः यस्य सः सहस्रपादः । तस्य दिनेश्वरस्य—सूर्यस्य । पंगुना—चरणविकलेन । काश्यपिना—अरुणेन "सुरसूतोऽरुणोऽनूरूः काश्यपिर्गरुडाग्रजः" इत्यमरः । स च चरणविकल इति पुराणम् । योगः—सम्बन्धः । किं न ? अपि त्ववश्यमेव सम्बन्धः । सूर्यरथस्य सारथिः स एव प्रसिद्धः, एवञ्चासमयोरपि सम्बन्धो नायुक्त इति भावः । अत्रासमसम्बन्धे दृष्टान्तप्रदर्शनाद्दृष्टान्तोऽलङ्कारः ॥३३॥

कुलं ययोरेवेत्यपि न युक्तमित्याह – न किमिति—

न किं विभिन्नान्वययोर्भवेयुः, प्रीतिश्रियः स्फीततमाः सुबुद्धे !
तथाहि रामः प्रमनाः स्म दत्ते, लङ्काधिपत्यं स विभीषणाय ॥३४॥

व्याख्या – **सुबुद्धे**–तदाख्यमन्त्रिन् ! **विभिन्नान्वययोः**–विभिन्नः अन्वयः कुलं ययोस्तयोः भिन्नकुलयोः 'वंशोऽन्ववायः सन्तानः कुलान्यभिजनान्वया' वित्यमरः । **स्फीततमाः**–विशुद्धाः । **प्रीतिश्रियः**–प्रेमसम्पदः, मैत्रीत्यर्थः । **न भवेयुः किम् ?**–न संभाविताः किम् ? अपि त्ववश्यं संभाविताः । ननु कुतो दृश्यते इति चेत्तत्राह—**तथाहि प्रमनाः**–हृष्टमानसः 'हर्षमाणस्तु प्रमना हृष्टमानस' इति हैमः । **सः रामः**–दाशरथिः रामचन्द्रः । **विभीषणाय**–असुरकुलोत्पन्नायापि । **लङ्काधिपत्यं**–लङ्कायाः तदाख्यनगर्याः आधिपत्यं स्वामित्वं **दत्ते स्म**–अदात् । एवञ्च विभिन्नकुलयोरपि मैत्री प्रसिद्धैवेति भावः ॥३४॥

यदप्युक्तं विवादश्चेति तदपि न युक्तमित्याह—**श्रीरामलङ्केश्वरयोर्गरीयानिति**—

श्रीरामलङ्केश्वरयोर्गरीयान्, कुले विभिन्नेऽपि रणो बभूव ।
न मन्वते मानधनास्तु यद्वा, किञ्चित् परित्यक्तविवेकभावाः ॥३५॥

व्याख्या – **विभिन्नेऽपि कुले**–सति । **श्रीरामलङ्केश्वरयोः**–श्रीरामः दाशरथिः लङ्केश्वरो रावणः तयोः। **गरीयान्**–महान् । **रणः**–युद्धं । **बभूव**–एवञ्च समे कुले एव विवादः इत्यप्ययुक्तमेवेति भावः । नन्वेवमेतत्, किन्तु ययोरेव समं वित्तमित्यादि प्रतिपादिका नीतिस्तु विरुद्धयत एवेति चेत्तत्राह—**यद्वा परित्यक्तविवेकभावाः**–परित्यक्तः विवेकस्य कुलादिकृतभेदस्य भावः यैः तादृशाः, उदाराशयाः 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्' इत्युक्तेरिति भावः । **मानधनाः**–मानमेव धनं येषां ते तादृशाः मानरक्षणाः **तु**–वित्ताद्यसाम्येऽपि सति सम्भवे मैत्र्यादिना मानरक्षणपरायणा इति यावत् । **किञ्चित्**–वित्ताद्यसाम्यं । **न मन्वते**–गणयन्ति । एवञ्च वित्तादिविवेकः क्षुद्रहृदयकृत एवेति भावः । अत्र न मन्वते इत्यादिना साम्यान्येनार्थेन वित्ताद्यसाम्येऽपि रणादेर्विशेषस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥३५॥

ननु वित्ताद्यसाम्ये मैत्र्यादिप्रतिषेधिका नीतिः, मैत्र्यादिसमर्थकश्च दृष्टान्तः, तर्हि कतरः पक्षो न्याय्यः, इत्याशङ्कायामाह—**प्रीतौ विरोधे चेति**—

प्रीतौ विरोधे च ततश्च पुण्याऽपुण्यप्रवृती प्रथमं निदानम् ।
विचिन्त्य सम्बन्धविधानतो मे, सम्बन्धिनां शेखरतां श्रय त्वम् ॥३६॥

व्याख्या - ततः–तस्मात् कारणाच्च–उभयपक्षयोर्युक्त्यवगमादित्यर्थः । प्रीतौ विरोधे च प्रथमं–प्राधान्येन । पुण्यापुण्यप्रवृत्तौ–पुण्यस्य अपुण्यस्य च प्रवृत्तौ प्रेरणे एव । निदानं–हेतुं । विचिन्त्य–मत्वा । त्वम्, सम्बन्धविधानतः–सम्बन्धस्य तव मम च सुतयोः वैवाहिकाख्यस्य विधानतः करणात् । मे–मम । सम्बन्धिनां–कुटुम्बानां । श्रेखरतां–महत्त्वं । श्रय–आश्रय । एतेन सम्बन्धविधानेन मम सम्बन्धिषु त्वमेव श्रेष्ठः स्या इति भावः । पूर्वोक्तनीतिदृष्टान्तौ तु पुण्यापुण्यप्रवृत्त्यविरोधेन सङ्गमनीयौ इति ।।३६।।

अथ मन्त्रिणः स्वगृहागमनमाह—इत्याग्रहमिति—

इत्याग्रहं भूमिपुरन्दरस्य, सञ्चित्य चित्ते सचिवः स्वचित्ते ।
समागमन्मन्दिरमिद्धऋद्धि–प्रधानमाधानमयं सुखस्य ॥३७॥

व्याख्या—सचिवः–मन्त्री सुबुद्धिः । स्वचित्ते, भूमिपुरन्दरस्य–राज्ञः । चित्ते, इति–पूर्वोक्तप्रकारम् । आग्रहम्–अभिसन्धिं । सञ्चित्य–विचार्य, अस्मिन् विषये आग्रहवान् राजा दुर्निवार इत्यालोच्य । इद्धऋद्धिप्रधानम्-इद्धाः प्रवृद्धा या ऋद्धिः समृद्धिः सैव प्रधानं यत्र तत्, अत एव । सुखस्य–आधानमयं–खनिरूपं, यद्वा । सुखस्य आधानं–शर्मणो निधानम् । अयं–मन्त्री इत्यर्थः करणीयः । मन्दिरं–गृहं । समागमत् ॥३७॥

अथागतस्य तस्य तद्विषयचिन्तामाह—बुद्धयेति—

बुद्धया न यत्सिद्धयति कार्यमीष–द्वैषम्यमापन्नमनन्तशोऽपि ।
न पौरुषेणाऽपि न भूरिदानै–स्तत्रोचितार्चा कुलदेवतायाः ॥३८॥

व्याख्या—वैषम्यम्–गहनताम् दुष्करतां वा । आपन्नं–गतम् । यत् कार्यम्, ईषत्–किञ्चिदपि, अनन्तशः–शतधा । बुद्धया– बुद्धिप्रयोगेणन । पौरुषेण–पराक्रमादिना न । भूरिदानैः–भूरिभिः प्रचुरैः दानैश्च । न सिद्धयति । तत्र–तादृशे कार्ये । कुलदेवतायाः, अर्चा–पूजा । उचिता–युक्ता, कुलदेवतार्चनेन विषममपि कार्यम् सिद्धयति देवतानामलौकिकसामर्थ्यादिति भावः ॥३८॥

अथ सप्तभिः श्लोकैः तत्कृत्यं वर्णयति—इत्यन्तरुद्धाव्येत्यादि—

इत्यन्तरुद्धाव्य विभावितात्मा, निकेतनाभ्यन्तर एव देव्याः ।
निकेतने केतनराजिराजि, स्नात्वा प्रविश्य प्रयतः स धीरः ॥३९॥

संस्नाप्य नीरैर्घनसारमिश्रैर्मनोभिरच्छैरिव भावनाढ्यैः ।
कस्तूरिकाकुङ्कुमचन्दनैस्तां, विलिप्य मूर्तिं कुलदेवतायाः ॥४०॥

मधुव्रताकर्षणसिद्धविद्या – रूपाणि पुष्पाणि मनोहराणि ।
आरोप्य मूर्तिं परितः पुरस्तान्, निधाय नैवेद्यमनेकधाऽपि ॥४१॥

अदभ्रदर्भैर्मृगचर्विताग्रै – रास्तीर्य संस्तारकमस्तदोषम् ।
भवत्प्रसादादचिरेण वाञ्छा, भवत्वियं मे सफलेत्युदित्वा ॥४२॥

स्तुत्वा महार्थैः स्तवनैरुदग्रैर्नानाप्रकारैर्ललितैः सुवृत्तैः ।
अयं जनो देवि! तव प्रसादे, प्राप्ते समुत्थास्यति चेति जल्पन् ॥४३॥

स्वदेहसामर्थ्यमचिन्तयित्वा, यावद्वरप्राप्तिसमानकालम् ।
आहारभङ्गीपरिहाररूपं, कुर्वन्नखर्वं नियमं विगर्वः ॥४४॥

नवाम्बुदक्षालितशम्भुशैला – वदातवासा विकसन्मुखश्रीः ।
सुष्वाप देवीचरणारविन्द – द्वयाग्रतः शुद्धमनाः प्रशस्यः ॥४५॥

(सप्तभिः कुलकम्)

व्याख्या—इति–पूर्वोक्तप्रकारेण । अन्तः–हृदि । उद्भाव्य–विचार्य । विभावितात्मा–उल्लसितात्मा । सः धीरः–धैर्यवान्, एतेन कार्यसाधकत्वयोग्यतोक्ता, नहि धैर्यं विना विषमं कार्यं सिद्धयतीति भावः । प्रयतः–प्रयत्नशीलः गृहीतनियमः वशी वा सन् । स्नात्वा, निकेतनाभ्यन्तरे–निकेतनस्य स्वगृहस्याभ्यन्तरे मध्ये । एव, केतनराजिराजि–केतनस्य पताकायाः राज्या श्रेण्या राजते शोभते इति तस्मिन् । देव्याः–कुलदेवतायाः । निकेतने, प्रविश्य ॥३९॥

भावनाढ्यैः–भावना भक्तिः तया आढ्यैः सम्पन्नैः । मनोभिरिव, अच्छैः–स्वच्छैः । घनसारमिश्रैः–'कर्पूरमस्त्रियां घनसार' इत्यमरः । घनसारेण कर्पूरेण मिश्रैः संयुक्तैः । नीरैः–सलिलैः । कुलदेवतायाः मूर्तिं–प्रतिमां । संस्नाप्य, कस्तूरिकाकुङ्कुमचन्दनैः, तां–प्रतिमां । विलिप्य–लिप्तां कृत्वा ॥४०॥

मूर्तिं—देवीप्रतिमां । परितः—सर्वतः । मधुव्रताकर्षणसिद्धविद्यारूपाणि—मधुव्रतानां भ्रमराणामाकर्षणे सिद्धविद्या सिद्धमन्त्रः तद्रूपाणि । मनोहराणि, पुष्पाणि, आरोप्य—मूर्धयित्वा । पुरस्तात्—देव्यग्रे । अनेकधाऽपि—नानाप्रकारं । नैवेद्यं—समर्पणीयपक्वान्नादिद्रव्यं । निधाय—उपढौक्य ॥४१॥

मृगचर्वितार्द्रैः—मृगैः चर्वितानि भक्षितानि अग्राणि येषां तैः तादृशैः । अदभ्रदर्भैः—अदभ्रैः पुष्कलैः दर्भैः कुशैः । अस्तदोषम्—अस्त. निरस्तः दोषः यतः तत् विशुद्धं । संस्तारकम्—संस्तरम् । आस्तीर्य—प्रसार्य । भवत्प्रसादात्—भवत्याः प्रसादादनुग्रहेण । मे—मम । इयं—बुद्धिस्था । वाञ्छा—'वांछा लिप्सा मनोरथ' इत्यमरः अचिरेण—शीघ्रम् । सफला—पूर्णा । भवतु इति—इत्थम् । उदित्वा—उक्त्वा ॥४२॥

नाना-प्रकारैः, ललितैः—मधुरैः । सुवृत्तैः—शोभनपद्यैः "वृत्तं पद्ये" इत्यमरः । उदग्रैः—उन्नतैः, प्रसिद्धैः । महार्थैः—सारवद्भिः । स्तवनैः—स्तोत्रैः । स्तुत्वा—सम्प्रार्थ्य । देवि ! अयं जनः, तव प्रसादे, प्राप्ते—सति । समुत्थास्यति—इत उत्थाता नान्यथा । इति च जल्पन्—वदन् ॥४३॥

विगर्वः—अभिमानरहितः, एतेन मनश्शुद्धिरुक्तेति बोध्यम् । स्वदेहसामर्थ्यं—मम शरीरं नियमपरिपालने समर्थं वा नेति । अचिन्तयित्वा—एतेनोत्साहसम्पन्नता सूचिता । वरप्राप्तिसमानकालं—वरप्राप्तेः समानः कालः वरप्राप्तिकालः तं । यावत्—तत्पर्यन्तम् । आहारभङ्गीपरिहाररूपम्—आहारस्य भङ्गी चेष्टा भक्षणम् तस्य परिहारस्त्यागः तद्रूपम् । अखर्वं—महत् । नियमं—व्रतं, प्रतिज्ञां वा । कुर्वन् ॥४४॥

नवाम्बुदक्षालितशम्भुशैलावदातवासाः—नवाम्बुदेन नवजलधरेण क्षालितो धौतो यः शम्भुशैलः कैलासपर्वतः, स इव अवदातम् शुक्लवर्णं वासः वस्त्रं यस्य स तादृशः, परिहितशुक्लवस्त्रः । विकसन्मुखश्रीः—विकसन्ती प्रफुल्ला मुखश्रीः मुखशोभा यस्य सः, विकसिताननः, एतेन कार्यसिद्धौ श्रद्धोक्ता । प्रशस्यः—स्तुत्यः, तादृशव्रताङ्गीकारस्य महत्त्वसम्पादकत्वादिति भावः । नहि क्षुद्रेण महाव्रतं साध्यमिति । शुद्धमनाः—विषयनिवृत्तचेताः, एतेन भक्तिरुक्ता । देवीचरणारविन्दद्वयस्याग्रतः, सुष्वाप—शिश्ये ॥४५॥

(सप्तभिः कुलकम्)

अथ कुलदेवतातुष्टिमाह—अथ प्रभेति—

अथ प्रभापूरहतान्धकारा, तदध्यानकाष्ठाचलितासना सा ।
निशावसाने विदितप्रभावा, तुष्टा बभाषे कुलदेवता तम् ॥४६॥

व्याख्या—अथ—शयनान्तरम् । तद्ध्यानकाष्ठाचलितासना—तस्य मन्त्रिणः या ध्यानस्य काष्ठा परामूमिः तया चलितम् कम्प्रमासनं यस्याः सा तादृशी, तद्ध्यानप्रभावाकृष्टा । प्रभापूरहतान्धकारा—प्रभाणां निजतेजसां पूरेण प्रवाहेण हतं विनाशितमन्धकारं यया सा तादृशी तेजःपूर्णा । विदितप्रभावा—विदितः ख्यातः सामर्थ्यं यस्याः सा तादृशी, सा कुलदेवता, तुष्टा—प्रसन्ना सती । तम्—मन्त्रिणम् । निसावसाने—रात्रिचरमभागे । बभाषे—उवाच ॥४६॥

अथ तदुक्तिमेवाह—त्वया किमर्थमिति—

त्वया किमर्थं विहितं मदीयाऽनुध्यानमेतत् सचिवावतंस !
उत्तिष्ठ वत्स ! स्वमनीषितं द्राङ्, मदग्रतस्त्वं विनिवेदयस्व ॥४७॥

व्याख्या—सचिवावतंस !—मन्त्रिभूषण । वत्स !—त्वम् उत्तिष्ठ, शयनाद्विरम । त्वया, एतत्, मदीयानुध्यानम्—मम ध्यानम् । किमर्थं—कस्मै प्रयोजनाय । विहितं—कृतम् । स्वमनीषितं—निजमनोरथम् । मदग्रतः—मत्पुरतः । द्राक्—झटिति । एतेन शीघ्रवरदानसम्भावना सूचिता । विनिवेदयस्व—कथय ॥४७॥

अथ सचिवप्रवृत्तिमाह—इति प्रसादप्रमुखमिति—

इति प्रसादप्रमुखं मुखोक्तं, निशम्य वाक्यं सचिवः स देव्याः ।
उत्थाय बद्धाञ्जलिसम्पुटः सन्नानन्दसम्पूर्णमना जगाद ॥४८॥

व्याख्या—सचिवः—मन्त्री । इति—पूर्वोक्तप्रकारं । प्रसादप्रमुखं—प्रसादः प्रसन्नता प्रमुखं प्रधानं यत्र तादृशमनुग्रहप्रयुक्तं । देव्याः मुखोक्तम्—मुखनिर्गतं । वाक्यं निशम्य, आनन्दसम्पूर्णमनाः—आनन्देन सम्पूर्णं पूर्णं मनः यस्य स तादृशः, हृष्टः सन् । उत्थाय—उपविश्य । बद्धाञ्जलिसम्पुटः—बद्धं योजितमञ्जलेः सम्पुटं येन तादृशः कृताञ्जलिः सन् । जगाद—उवाच ॥४८॥

अथ सचिववरयाचनमाह—मत्पुत्रकायेति—

मत्पुत्रकायस्थितकुष्ठगन्ध-स्तव प्रसादाद्धनसारसारात् ।
देवि ! प्रयातु क्षयमिष्टसिद्धि-प्रदानसम्पादनसिद्धिरूपे ! ॥४९॥

व्याख्या—देवि !, इष्टसिद्धिप्रदानसम्पादनसिद्धिरूपे !—इष्टस्य अभिलषितस्य सिद्धेः पूर्णतायाः प्रदानस्य सम्पादनस्य करणस्य वा या सिद्धिः सम्पत्तिः, सा एव रूपं यस्या सा तत्संबुद्धौ इष्टसिद्धिप्रदायिनि !

तव प्रसादात्, घनसारसारात्—घनसारः कर्पूर इव सार स्थिरांशः यस्य तादृशात् भेषजात्, यद्वा घनसारस्य कर्पूरस्येव सारात् प्रधानात्, प्रसादादित्यस्य विशेषणम्। मत्पुत्रकायस्थितकुष्ठगन्धः—मम पुत्रस्य काये शरीरे स्थितस्य कुष्ठस्य रोगविशेषस्य गन्धः सम्बन्धः 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे संबंधगर्वयोः,' इति विश्वः। क्षयं—नाशं। प्रयातु—प्राप्नोतु, कुष्ठो विनश्यत्वित्यर्थः ॥४९॥

अथ देवीकृतोत्तरमाह—तदुक्तमाकर्ण्येति—

तदुक्तमाकर्ण्य सकर्णसेव्या, देव्याऽऽह सा स्म स्मितपूर्वमेवम्।
रोगक्षयं कर्त्तुमहं न शक्ता, शक्ताऽपि पुत्रस्य तवादिभक्त! ॥५०॥

व्याख्या—तदुक्तं—तस्य सचिवस्योक्तं वचनम्। आकर्ण्य—श्रुत्वा। सकर्णसेव्या!—सकर्णैः विद्वद्भिः सेव्या। सा,देवी,स्मितपूर्वम्—ईषद् हसितं पूर्वं यस्मिन् कर्मणि तद्यथास्यात्तथा, विहस्येत्यर्थः। एवं—वक्ष्यमाणप्रकारम्। आह स्म—अवोचत्। आदिभक्त!—प्रधानसेवक! शक्ता—सामर्थ्यवती। अपि, अहं,तव पुत्रस्य, रोगक्षयं कर्त्तुं न शक्ता ॥५॥

ननु विरुद्धमेतत्, शक्ता हि अवश्यं रोगक्षयमपि कर्त्तुं शक्तैव, अन्यथा अशक्तेत्येव कथं नेति चेत्तत्राह—सुरासुराधीशनतक्रमोऽपीति—

सुरासुराधीशनतक्रमोऽपि, विज्ञानसम्पत्तिविभूषितोऽपि।
नैवाऽन्यथाकर्त्तुमलम्भविष्णुर्जिनोऽप्यभुक्त्वा निजकर्मजातम् ॥५१॥

व्याख्या—सुरासुराधीशनतक्रमोऽपि—सुराणामसुराणाञ्चाधीशैः इन्द्रैः नतौ प्रणतौ क्रमौ चरणौ यस्य तादृशोऽपि सर्वाधीशोऽपि। एतेन सर्वसामर्थ्यवत्त्वं सूचितम्। विज्ञानसम्पत्तिविभूषितोऽपि—विज्ञानं विशिष्टं सर्वोत्तमं ज्ञानं विज्ञानं केवलज्ञानं तद्रूपसम्पत्या विभूत्या विभूषितः, सर्वज्ञोऽपीत्यर्थः। एतेनोपायज्ञत्वं सूचितम्, नहि सर्वज्ञः कर्मक्षयोपायानभिज्ञो भवितुमर्हति। जिनः—वीतरागोऽपि, निजकर्मजातम्—स्वीयं कर्मजातम् कर्मसमूहम्। अभुक्त्वा—भोगमकृत्वा। अन्यथाकर्त्तुं—नाशितुं। नैव, अलं भविष्णुः—समर्थः,। यत्र तादृशो जिनोऽप्यसमर्थः तत्र का चर्चा, तत्सेविकानामस्मादृशां देवीनामिति भावः ॥५१॥

ननु कर्मणो भोगादेव क्षय इति मन्ये, किन्तु तव सामर्थ्यात् एकेन कृतमन्यो भुनक्त्विति चेत्तन्नेत्याह उपार्जितं येनेति—

उपार्जितं येन यदेव कर्म, शुभाशुभं तेन तदेव भोग्यम् ।
किं नान्यथा पुत्रसुखेन वप्ता, वप्तुः सुखेनैव सुतः सुखी वा ? ॥५२॥

व्याख्या—येनैव—कर्त्रा । यत् शुभाशुभं—शुभम् अशुभं वा । कर्म उपार्जितम्—सञ्चितम् । तेनैव—कर्त्रा । तत्—कर्म । भोग्यम्, विपक्षेऽनुपपत्तिमाह- अन्यथा—अन्येन कृतस्यान्येन भोगे पुत्रसुखेन, वप्ता—पिता । वप्तुः-पितुः । सुखेनैव, सुतः—पुत्रो । वा सुखी, किं न ?—कथं न भवति ? तस्मान्नान्यकृतमन्यभोग्यमिति नाहं तथाकर्त्तुं समर्था, अदृष्टव्यापारस्य सर्वथाऽप्रतिरोध्यत्वादिति भावः ॥५२॥

ननु तर्हि त्वत्तः किं प्रार्थनीयमित्यत आह—एतदिति—

एतत्परित्यज्य ततोऽपरं त्वं, हृदा समालोच्य वरं वृणीष्व ।
नाऽस्वामितां स्वाम्यऽपि विन्दतेऽत्र, प्रसाधयन् साध्यमहो ! स्वसाध्यम् ॥५३॥

व्याख्या—ततः—तस्मादुपरिष्टात् हेतोः । त्वम्, एतत्—पूर्वोक्तं । परित्यज्य, हृदा—मनसा । समालोच्य—विचार्य । अपरम्—अन्यत् । वरं—प्रार्थनीयं । वृणीष्व—याचस्व । साध्यम्—सम्पादनयोग्यं । स्वसाध्यं—निजकार्यं । प्रसाधयन्—सम्पादयन् । स्वामी—समर्थोऽपि । अस्वामिताम्—सामर्थ्यं । न विन्दते—प्राप्नोति । स्वसाध्यकार्यं साधयन्नेव शक्तः शक्तः, अन्यथा तु अशक्त एव स्यात्, तस्मात्, मत्साध्यमेव वरं वृणीष्वेति भावः । अहो इति सहेतुकत्वे । नह्यसाध्ये प्रवर्त्तितव्यमितियावत् ॥५३॥

अथ सचिवस्य वरान्तरयाचनमाह—ऊचे स यद्येवेति—

ऊचे स यद्येव मतं कुमारं, मान्ये ! समानीय समर्पयस्व ।
योऽवक्रयेणापि नरेन्द्रकन्यां, विवाह्य मह्यं ददते प्रसह्य ॥५४॥

व्याख्या—सः—सचिवः । ऊचे—उवाचं । मान्ये !—पूज्ये ! देवि । यदि—एवं रोगक्षयासम्भवस्तर्हि । मतं—विवाहोपयुक्तं । कुमारं—वरान्तरं । समानीय, समर्पयस्व—ददस्व । ननु तेन तव को लाभ इति चेत्तत्राह—यः—कुमारः । अवक्रयेण—विनिमयेन द्रव्यदानेनाऽपि वा भाटकेनेतियावत्, 'मूल्ये वस्नाधवक्रया' इति हैमः, 'अवक्रये भाटकः' इति शेषः । नरेन्द्रकन्यां, विवाह्य प्रसह्य—हठात् । मह्यं, ददते—ददेत ॥५४॥

अथ देव्याः प्रतिवचनमाह—विज्ञापनामिति—

विज्ञापनां तस्य निवेश्य चित्तेऽभिधीयते देवतया तया स्म ।
त्वन्माननावासितमानसाऽहं, सर्वं विधातास्मि तदेतदाशु ॥५५॥

व्याख्या—तस्य—सचिवस्य । विज्ञापनां—निवेदनम् । चित्ते, निवेश्य—विचार्य । तया, देवतया—देव्या । अभिधीयते स्म—कथ्यते स्म । त्वन्माननावासितमानसा—तव या मानना सेवा तया वासितं तृप्तं मनः यस्याः सा तादृशी, त्वत्सेवासन्तुष्टा । अहम्, तदेतत्—त्वदुक्तं । सर्वम् आशु—शीघ्रमेव । विधातास्मि—कर्तास्मि, श्वस्तनोत्तमपुरुषैकवचनम् त्वदुक्तं सर्वं सम्पादयिष्यामीत्यर्थः ॥५५॥

त्वयाऽऽनीतः कुमारः क लभ्यते इत्याशङ्कायामाह श्लोकयुग्मेन—अस्याः पुरोदूरत इत्यादि—

अस्याः पुरो दूरत एव कोऽपि, त्वन्मन्दुरापालतटस्थ एव ।
यो मन्दुरासन्निहितः कुमारः, स्वरूपसन्तर्जितमाररूपः ॥५६॥

अताड्यजाड्यज्वरपीड्यमानः, समेत्य सन्तापयते कृशानौ ।
आप्तेन गुप्तं रभसा तमानाय्योद्वाहये राजसुतां यथेच्छम् ॥५७॥

व्याख्या—अस्याः—वसतेः । पुरः—अग्रे । यद्वा अस्याःपुरः—एतन्नगर्याः । अदूरत एव त्वन्मन्दुरापालतटस्थ एव—तव मन्दुरापालस्य वाजिशालारक्षकस्य तटस्थः समीपस्थ एव । मन्दुरायाः वाजिशालायाः 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः । सन्निहितः निकट एव । स्वरूपसन्तर्जितमाररूपः—स्वरूपेण स्वसौन्दर्येण 'रूपं स्वभावे सौन्दर्ये', इत्यमरः । सन्तर्जितम् तिरस्कृतम् मारस्य कामदेवस्य रूपं सौन्दर्यं येन स तादृशः, कन्दर्पादप्यधिकसुन्दरः । यः—कोऽपि । कुमारः—बालः अताड्यजाड्यज्वरपीड्यमानः—अताड्येन अप्रतिरोध्येन, असह्येन इत्यर्थः, जाड्यस्य शैत्यस्य ज्वरेण रोगेण पीड्यमानः बाध्यमानः, अत एव । समेत्य—आगत्य । कृशानौ—अग्नौ । सन्तापयते—उष्णतां नयति । तं—कुमारं । रभसा—वेगेन, 'रभसो वेगहर्षयो'रित्यमरः । आप्तेन—विश्वस्तेनानुचरेण । गुप्तं—यथा स्यात्तथा । आनाय्य—नाययित्वा । यथेच्छम्—सुखेन । राजसुतां—राजकुमारीम् । उद्वाहयेः—त्वं विवाहयेः ॥५६-५७॥

अथ देव्यन्तर्धानमाह—तमेवमुक्त्वेति—

तमेवमुक्त्वा कुलदेवताऽसौ, तिरोदधे नम्रजनानुकम्प्रा ।
विधित्सवः कार्यमिहार्य्यचित्ता, भृत्यं हि किं नाम न शिक्षयन्ते ॥५८॥

व्याख्या--तं—सचिवम्। एवम्—उक्तप्रकारेण। उक्त्वा—कथयित्वा। नम्रजनानुकम्पा—नम्रे विनयशीले प्रणते भक्ते वा जने अनुकम्पा दयाशीला। असौ—कुलदेवता। तिरोदधे—अन्तर्हिताअभूत। ननु पूर्वोक्तप्रकारेण तु धैर्यमेवोपदिष्टम्, तद्योत्तमानां नोचितमिति चेत्तत्राह—इह—लोके। हि आर्य्यचित्ताः—मनस्विनः। कार्यं, विधित्सवः—चिकीर्षवः, सन्तः। भृत्यं—सेवकम्। किं नाम न शिक्षयन्ते?—उपदिशन्ति?, अपि तु कार्यं साधकमुचितमनुचितं सर्वमेवोपदिशन्ति। स्वकार्यं साधयेद् धीमान्, कार्यध्वंसो हि मूर्खता, इत्युक्तेरिति भावः ॥५८॥

अथ सचिवप्रवृत्तिमाह—ततः प्रभाते इति—

ततः प्रभाते सचिवः प्रहृष्यन्, महाशयः पारणकं विधाय।
आह्वाय्य मौहूर्त्तिकमादरेणान्वयुंक्त लग्नं स्वहिते विलग्नः ॥५९॥

व्याख्या—ततः—अनन्तरम्। प्रभाते—प्रातःकाले। महाशयः—महेच्छः। प्रहृष्यन्—कार्यसिद्धेः मोदमानः। सचिवः पारणकं विधाय—कृत्वा। स्वहिते—निजानुकूले कार्ये। विलग्नः—तत्परः। आदरेण—आदरः पूर्वकम्। आह्वाय्य—आकार्य। मौहूर्त्तिकं—दैवज्ञं। लग्नं—मुहूर्त्तम्। अन्वयुंक्त—कारितवाद् पृच्छतिस्म विवाहार्थमिति शेषः ॥५९॥

ज्योतिर्विदं दत्तविवाहलग्नं, धनानि दत्त्वा वसनानि चापि।
विसर्जयामास नृपस्य शिष्ट्या, विवाहसामग्र्यमपि व्यधत्त ॥६०॥

व्याख्या—दत्तविवाहलग्नं—दत्तं विवाहस्य लग्नं मुहूर्त्तं येन तं। ज्योतिर्विदं, धनानि—हिरण्यादीनि। वसनानि—वस्त्राणि। चापि,दत्त्वा—परितोषार्थमिति भावः। विसर्जयामास—गमयामास। नृपस्य—राज्ञः। शिष्ट्या—आदेशेन। विवाहसामग्र्यं—सामग्रीसञ्चयमपि। व्यधत्त—कृतवान् ॥६०॥

अथ कुमारप्राप्त्यर्थं यत्नं युग्मेनाह--यः कश्चिदिति—

यः कश्चिदागच्छति वाजिशाला-पार्श्वे कुमारः सुकुमारगात्रः।
स्वरूपसारः प्रतिपत्तिसारः - स मे समानीय समर्पणीयः ॥६१॥

व्याख्या—वाजिशालापार्श्वे—मन्दुरासमीपे, सुकुमारं मृदु गात्रं शरीरं यस्य स, सुकुमारगात्रः—स्वरूपेण सौन्दर्येण मारः मन्मथः इव सः, स्वरूपसारः—प्रतिपत्तिः ज्ञानं श्रेष्ठा यस्य स। प्रतिपत्तिसारः—

बुद्धिमान् । यः कश्चित्, कुमारः—बालः । आगच्छति—समेयात् । सः—कुमारः । समानीय, मे—मह्यं । समर्पणीयः—दात्तव्यः ॥६१॥

प्रकुर्वतेदं भवता मदीयं, प्रयोजनं निर्मितमेव सर्वम् ।
एकं समाहूय स वाजिशालाध्यक्षं समादिक्षदिति प्रसन्नम् ॥६२॥

व्याख्या—इदं—कुमारानयनरूपकार्यं । प्रकुर्वता, भवता—त्वया । मदीयं, सर्वमेव, प्रयोजनं—कार्यं । निर्मितं—कृतम्, तदानयनेन च मम सकलेष्टसिद्धिरिति भावः । इति—एवम् । एकं—मुख्यम् । प्रसन्नं—हृष्टं । वाजिशालाध्यक्षं—मन्दुरापालकं । समाहूय, सः—सचिवः । समादिक्षत्—आदिष्टवान् ॥६२॥

अथ देवतायाः कुमारानयनवृत्तमाह—सा देवतेति—

सा देवतापि प्रतिपन्ननिष्ठा, गत्वोज्जयिन्यां सुखराजधान्याम् ।
व्योम्नि स्थिता तद्वनपार्श्वतोऽदः, पुरोऽवदन् मङ्गलकुम्भकस्य ॥६३॥

व्याख्या—प्रतिपन्ननिष्ठा—प्रतिपन्ने शरणगे निष्ठा शुभभावना यस्याः सा भक्तप्रिया । सा, देवताऽपि, सुखा सुखसम्पन्ना या राजधानी तस्याम् सुखराजधान्याम्, उज्जयिन्यां—तदाख्यनगर्यां । गत्वा, व्योम्नि—आकाशे । स्थिता—अन्तर्हिता एवेत्यर्थः । तद्वनपार्श्वतः—तस्य मङ्गलकुम्भपुष्पानयनोद्देश्यस्य वनस्योपवनस्य पार्श्वतः समीपे । मंगलकुम्भकस्य, पुरः—अग्रे । अदः—वक्ष्यमाणम् । अवदत्—जगाद ॥६३॥

किं जगादेत्याह—अवक्रयेणैषेति—

अवक्रयेणैष कुमार एवोद्विक्ष्यते राजसुतां स्वरूपाम् ।
इत्यन्तरिक्षे स वचो निशम्य, व्यचिन्तयद्विस्मित एव चित्ते ॥६४॥

व्याख्या—एषः—विद्यमानः । कुमारः, अवक्रयेण—द्रव्यादिना विनिमयेन । एव—न तु यथाविधि । स्वरूपाम्—सुन्दररूपवतीम् । राजसुतां—राजकुमारीम् । उद्विक्ष्यते—परिणेष्यते । इति—इत्थम् । अन्तरिक्षे—आकाशे । वचः—वचनं । निशम्य—आकर्ण्य । सः—मंगलकुम्भः । चित्ते, विस्मितः—कुतः किमभिप्रायोऽयं शब्दः इत्येवंचकितः । एव व्यचिन्तयत्—दध्यौ ॥६४॥

अथ तस्य चिन्तामाह—देवस्य कस्यापीति—

देवस्य कस्यापि वचः किमेतदैत्यस्य कस्याप्यथवा गभीरम् ।
विद्याधरस्याप्यनवद्यविद्या-विद्योतमानाशयकस्य किं वा ? ॥६५॥

व्याख्या—एतत्—सद्यः श्रुतम् । गभीरम्—उच्चघोषवद् वचः । किमिति—प्रश्ने वितर्के वा । कस्यापि—अलक्षितस्य । देवस्य, अथवा, कस्यापि, दैत्यस्य, किं वा—अथवा, अनवद्यया विशुद्धया विद्यया आकाशगमनादिविद्यया विद्योतमानः प्रकाशमानः आशयः हृदयं यस्य स तस्य । अनवद्यविद्याविद्योतमानाशयकस्य विद्याधरस्य, अपि—एवार्थे, एवं विचिन्तयदिति पूर्वेणान्वयः ॥६५॥

वितर्कान्तरमाह—सिद्धस्य कस्यापीति—

सिद्धस्य कस्यापि किमेतदाहोस्विच्चारणस्य व्रतचारिणः किम् ? ।
कार्यं निरालम्बनमेव न स्यान्नाकारणं किञ्चिदवेक्ष्यते हि ॥६६॥

व्याख्या—एतत्—वचः । कस्यापि सिद्धस्य—सिद्धपुरुषविशेषस्य । किमिति—वितर्के ! आहोस्वित्—अथवा । चारणस्य—विद्याचारणस्य जङ्घाचारणस्य वा । व्रतचारिणः—मुनेः । किम् ?—नन्वेतादृशवितर्कोऽनवसरः इत्यत आह—कार्यम्, निरालम्बनम्—आश्रयं विना । न स्यात्—अत्र तु आकाशे शब्दः, तत्र न किमप्यालम्बनं भवति ऋते देवादेरिति वितर्कः सङ्गत एवेति भावः । एतादृशवचनेऽपि केनाऽपि कारणेनावश्यं भवितव्यम्, कुत इत्याह—हि—यतः । अकारणम्—हेतुं विना । किञ्चित्—किमपि कार्यम् । न, अवेक्ष्यते—अवलोक्यते, अतः व्याप्त्या एतद्वचनेऽपि केनाऽपि कारणेनावश्यं भवितव्यमित्यर्थः ॥६६॥

अथ तस्याप्रतिपत्तिमाह—परं नेति—

परं न युक्तिव्यतिरिक्तभावात्, स्वान्तं प्रतीतिं दधते ममात्र ।
निवेदयिष्यामि विशेषतोऽदस्तथापि पित्रे सदनं गतः सन् ॥६७॥

व्याख्या—परं—किन्तु । अत्र—तादृशोद्वाहविषये । युक्तिव्यतिरिक्तभावात्—युक्तेः व्यतिरिक्तभावात् व्यतिरिक्तत्वात् अभावादित्यर्थः । नहि विवाहविषयिणी वार्त्ताऽप्यद्यापि श्रुतेति कथं विवाहो भवितेति, तत्र युक्त्यभाव इति भावः । मम, स्वान्तं—मनः, 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः । प्रतीतिं—विश्वासं । न, दधते—बिभर्त्ति । तथापि—मम प्रतीत्यभावेऽपि । अदः—सञ्जातवृत्तम् । सदनं—गृहं । गतः सन्, पित्रे, निवेदयिष्यामि—कथयिष्यामि ॥६७॥

अथ तस्य तद्विस्मृतिमाह—आदाय पुष्पाणीति—

आदाय पुष्पाणि स पाणिना द्राक्, समाययौ सद्मनि वाटिकायाः ।
कार्य्यस्य वैयग्र्यवशादमुष्य, स्मृतेर्न तद्गोचरतामयासीत् ॥६८॥

व्याख्या—सः—मङ्गलकुम्भः । पाणिना—करेण । पुष्पाणि, आदाय—गृहीत्वा । वाटिकायाः—उद्यानतः । सद्मनि—गृहे । द्राक्—झटित्येव । समाययौ—किन्तु । कार्यस्य वैयग्र्यवशात्—वैयग्र्यं व्याप्तत्वं कार्ये परायणत्वमिति यावत्, तद्वशात्, प्रवृत्तिपरायणत्वात् । अमुष्य—मङ्गलकुम्भस्य । तत्—वचः । स्मृतेः—स्मरणस्य । गोचरतां—विषयतां । न अयासीत्—तद्वचः विस्मृतमिति भावः ॥६८॥

परन्तिमन् अपि दिवसे तथैव इत्याह—अन्येद्युरिति—

अन्येद्युरुद्यानमगुष्य यातः, श्रुतौ प्रयातं वचनं तदेव ।
अथाप्तसद्मा नियमेन वप्तुः, पुरः प्रवक्ष्येऽद्भुतमेतदुग्रम् ॥ ६९ ॥

व्याख्या—अन्येद्युः—अन्यदिवसे । अमुष्य—मंगलकुम्भस्य । उद्यानं, यातः—गच्छतः सतः । तदेव—पूर्वानुभूतमेव । वचनं श्रुतौ—कर्णे । प्रयातम्—प्राप्तम्, तदेव वचनं पुनरपि श्रुतवानित्यर्थः । अथ आप्तसद्मा—आप्तं प्राप्तं सद्म गृहं येन स तादृशः गृहं गतस्सन्नित्यर्थः । नियमेन—ध्रुवम् । वप्तुः—पितुः । पुरः—अग्रे । अद्भुतम्—अलौकिकम् । उग्रम्—अनिष्टत्वात्, कर्णकटु । एतत्—वचनं । प्रवक्ष्ये—कथयिष्यामि, इत्येवं चिन्तितवान् ॥६९॥

अकस्मादेव भाव्युपतिष्ठते इति कविराह—न यदिति—

न यद्वचोवर्त्मनि मानवानां, महाकवीनामपि किञ्चनापि ।
चेतःपथे नापि कदापि धाता, करोति लीलास्फुरणेन तच्च ॥७०॥

व्याख्या—यत्—वस्तु । मानवानां—जनानां । महाकवीनाम्—अतीतानागतादिवर्णनपटूनामपि सतां । वचोवर्त्मनि—वाग्विषये । किञ्चनापि—लेशतोऽपि । न—यन्महाकवयोऽपि वर्णयितुमसमर्था इत्यर्थः । चेतःपथे—मनोवृत्तावपि । कदापि, न—मनो यत्कल्पितुमपि न शक्नोति । तच्च—तद्वस्तु च । धाता—विधिः । लीलास्फुरणेन—लीलया यत्स्फुरणम् व्यापारः तेन तन्मात्रेण । करोति—सम्पादयतीति अकस्मात्कार्यं विधिकृतं ज्ञेयमिति भावः ॥७०॥

भावी हि दुरतिक्रम इत्याह—शुभोदय इति—

शुभोदयो वाऽप्यशुभोदयो वा स्याद्देहभाजां नियतेर्नियोगात् ।
न कोऽपि शक्नोत्यतिवर्त्तितुं तं, कदाचनाच्छायमिव स्वकीयम् ॥७१॥

व्याख्या—देहभाजाम्—प्राणिनाम् । शुभोदयो वा, अशुभोदयो वा, नियतेः—विधेः । नियोगात्—निदेशात् । स्यात्—नाऽन्यस्य तत्राधिकार इति भावः । कोऽपि—जनः । तं—शुभोदयादिकम् । स्वकीयं—निजं । आछायम्—अनातपमिव, कदाचन—कदापि । अतिवर्त्तितुम्—अतिक्रमितुं न शक्नोति, अवश्यं भाविभावानां प्रतीकारो न विद्यते इति भावः ॥७१॥

अथ भाविनः प्रवृत्तिमेवाह—अत्रान्तरे इति—

अत्रान्तरे प्रादुरभूत्कुतश्चिद्, वात्या हरन्ती विततं प्रकाशम् ।
रजोभिरान्ध्यं दिशती जनानां, विलोचनान्तः पतनप्रगल्भैः ॥७२॥

व्याख्या—अत्रान्तरे—अस्मिन्नेवावसरे । विततं—व्याप्तं । प्रकाशम्—आलोकम् । हरन्ती—नाशयन्ती । जनानां—लोकानाम् । विलोचनान्तः पतनप्रगल्भैः—विलोचनस्य नेत्रस्य अन्तः पतने प्रगल्भैः समर्थैः । रजोभिः—धूलिकणैः । आन्ध्यम्—अन्धताम्, अनवलोकित्वं । दिशती—कुर्वती । वात्या—वातसमूहः । कुतश्चिद्—कुतोऽपि । प्रादुरभूत् ॥७२॥

अथ वात्यायाः कृत्यमाह—स वात्ययोत्पाट्येति—

स वात्ययोत्पाट्य तया कुमारः, सुमार्थमिङ्गन्निजवाटिकायाम् ।
चम्पापुरीसन्निहिताटवीभू-भागे क्षणाद्गन्ध इव व्यमोचि ॥७३॥

व्याख्या—तया—प्रादुर्भूतया । वात्यया—वातसमूहेन, चक्रवातेन । सुमार्थम्—पुष्पार्थम् । निजवाटिकायाम्, इंगन्—गच्छन् । स, कुमारः—मङ्गलकुम्भः । उत्पाट्य—उत्क्षिप्य । गन्धः—आमोद, इव—यथा गन्धः पवनेन नीयते तथा । क्षणात् चम्पापुरीसन्निहिताटवीभूभागे—चम्पापुरीसन्निहितायाः अटव्याः वनस्य भूभागे प्रदेशे । व्यमोचि—मुक्तः, तत उत्पाट्य तत्र तं प्रापयत् ॥७३॥

अथ तद्वनं वर्णयति—विभीषणमिति—

विभीषणं यत्र विनैव लङ्कां, पश्यन्ति रामाकलितं जनौघाः ।
हरीश्वरो यत्कपिभिः परीतः,क्वचित् क्वचित् खेलति निर्विशङ्कम् ॥७४॥

व्याख्या—**यत्र**—वने । **जनौघाः**—लोकसमुदायाः । **लङ्कां**—तदाख्यनगरीम् । **विनैव, रामाकलितं**—रामेण दाशरथिना आकलितं युक्तम्, अथ च रामाभिः स्त्रीभिः युक्तम्, 'रामा रमणी' त्यमरः । **विभीषणम्**—तदाख्यं रावणानुजम्, अथ च विशेषेण भीषणम् घोराकृतिशीलं, किरातादिकं । **पश्यन्ति,यत्**—यत्र च । **क्वचित् क्वचित्, कपिभिः**—वानरैः । **परीतः**—समन्वितः । **हरीश्वरः**—वानराधीशः । **निर्विशङ्कं**—निर्भयम्, जनसञ्चाराभावादिति भावः । **खेलति**—क्रीडति । अत्र लङ्कां विनैव विभीषणादेः वर्णनेन श्लेषानुप्राणितः विभावनाऽलङ्कारः ॥७४॥

भीतिं दधाना इव सूरपादा, विन्दन्ति यत्र प्रसरं न किञ्चित् ।
अभ्रंकषोर्वीरुहसन्ततीनां, छायाच्छलस्थानतमः प्रपञ्चात् ॥७५॥

व्याख्या—**यत्र**—वने । **सूरपादाः**—सूर्यकिरणाः तेजस्विचरणाश्च । **अभ्रङ्कषोर्वीरुहसन्तीनाम्**—अभ्रङ्कषाणाम् गगनोल्लेखिनाम् उर्वीरुहाणाम् क्षितिरुहाणाम् सन्ततीनां पंक्तीनां । **छायाच्छलस्थानतमःप्रपञ्चात्**—छाया एव छलस्थानं वादिनिग्रहस्थानम् तत्कृतस्य तमसः अन्धकारस्य उत्तराप्रतिपत्तिरूपस्याज्ञानस्य च प्रपञ्चादाधिक्यात् । **भीतिं**—भयं । **दधाना इव**—अन्धकारे हि जनाः भयं प्राप्नुवन्ति, अज्ञाने सति च पराजयाशङ्कया प्रतिवादिनोऽपि बिभ्यति, लक्ष्यमाणाः । **किञ्चित् प्रसरं**—प्रवेशम्, अवसरञ्चोत्तरदानार्थम् । **न**—नैव । **विंदति**—लभन्ते । गाढान्धकारपूर्णं तद्वनमिति भावः । अत्र विशेषणगत्या सूरपादेषु प्रतवादिव्यवहारप्रतीतेः रूपकश्लेषोज्जिवितसमासोक्त्यनुप्राणितोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥७५॥

अथ तत्र मङ्गलकुम्भप्रवृत्तिमाह—**तस्मिन्** इति—

तस्मिन्नविज्ञातहरिद्विभागो, बभ्राम पञ्चाननवत् स वीरः ।
विमार्गयन्मार्गमुपैतुकामो, ग्रामं पुरं वा पृथुगोकुलं वा ॥७६॥

व्याख्या—**तस्मिन्**—वने । **अविज्ञातहरिद्विभागः**—अज्ञातः अनवगतः अबोधितः हरितां दिशां विभागः पूर्वादिरूपः येन सः, अन्धकारादिना दिङ्मोहवानित्यर्थः । **सः वीरः**—उत्साही मंगलकुम्भः ।

मार्गम्, उपैतुकामः—प्राप्तुकामः । ग्रामं, पुरं—नगरं । वा, पृथु—विशालं । गोकुलं—व्रजं । वा—'व्रजं स्याद्गोकुलं गोष्ठम्' इत्यमरः । विमार्गयन्—अन्विष्यन् । पञ्चाननवत्—सिंहवत्, निर्भय इत्यर्थः । बभ्राम—अटति स्म ॥७६॥

अथ तस्य तडागदर्शनं त्रिभिराह—अथ व्यलोकिष्टेत्यादि—

अथ व्यलोकिष्ट स पुण्यसारं, कासारमाशाः परिपूरयन्तम् ।
समाव्रजत्पान्थपरम्पराणां, कर्पूरसारैरिव वारिपूरैः ॥७७॥
अस्ताघभावं कलयन्तमुच्चैः, सतां मनोवद्धितं समन्तात् ।
दैत्यारिवक्षःस्थलवद्दधानं, पद्मानुरागं बहुसत्त्वनिष्ठम् ॥७८॥
चक्राचितं जीवनदानवित्तं, राजाधिराजोन्नतपाणिवच्च ।
विष्वग् वृतं चारुविशालशाला-वल्या महापत्तनवत् सहंसम् ॥७९॥

व्याख्या—अथ—अनन्तरं । सः—मङ्गलकुम्भः । समाव्रजत्पान्थपरम्पराणाम्—समाव्रजतां समागच्छतां पान्थानामध्वगानां परम्पराणां सन्ततीनाम् । आशाः—जलपानाद्यभिलाषाः । परिपूरयन्तम्—सम्पादयन्तम् । कर्पूरसारैः—कर्पूरस्य सारैः, स्थिरांशैरिव (कर्पूरेषु सारैरुत्तमैः उत्तमकर्पूरैरिव) स्वच्छैः । वारिपूरैः—जलौघैः । उच्चैः—अतिशयेन । अस्ताघभावम्—अगाधत्वं । कलयन्तं—धारयन्तम् । सतां—सज्जनानाम् मनोवत्—हृदयवत् । समन्तात्—सर्वतः । विततं—विस्तृतम् । दैत्यारिवक्षःस्थलवत्—दैत्यारेः विष्णोः वक्षस उरसः स्थलवद् उरःस्थलमिव, बहुसत्त्वस्य बलाधिक्यस्य प्राणिसमूहस्य मत्स्यादेः निष्ठा स्थितिर्यत्र तत् । बहुसत्त्वनिष्ठम्, पद्मानुरागम्—पद्मायाम् लक्ष्म्याम् अनुरागम् पद्मस्य कमलस्य अनुरागम् मकरन्दस्रावेण रक्ततां च । दधान—धारयन्तम् । राजाधिराजोन्नतपाणिवत्—राजाधिराजस्य भूपतेश्चक्रवर्त्तिनः उन्नतपाणिवच्च । चक्राचितम्—चक्रेण तदाख्यास्त्रेण तदाख्यरेखया वा । अथ च चक्रवाकनामपक्षिसमूहेन आचितम् व्याप्तम् समन्वितम् । जीवनदानवित्तम्=जीवनस्य पयसः जलस्य आजीवनवृत्तेर्वा दानेन वित्तम् प्रसिद्धम् । विष्वक्—समन्तात् । चारुविशालशालावल्या—चारुणां मनोहराणां विशालानां शालानां वृक्षाणाम् आवल्या श्रेण्या । वृतम्—आच्छादितम् । महापत्तनवत्—महानगरीवत् । सहंसम्—हंसयुक्तम् । पक्षांतरे "हंसस्य मानसौकसि निर्लोभनृपविष्ण्वर्कपरमात्मन्यमत्सरे" इति मेदिनी । वचनात् निर्लोभराज्ञा लक्षणया प्रजाजनेन

विष्णुना लक्ष्मणया विष्णुभक्तजनेन च युक्तम्। **पुण्यसारम्**—पुण्यस्य सारं स्थिरांशमिव लक्ष्यमाणम्, पुण्यं पवित्रमत एव सारमुत्तमं। **कासारं**—तडागम्। **अवलोकिष्ट**—ददर्श ॥७७-७८-८९

अथ तस्य मार्गान्वेषणप्रयासमाह—ग्रामीणेत्यादि—

ग्रामीणपौरैः क्रयविक्रयाभ्यां, चलद्भिराकीर्णमऽभीप्सिताभ्याम्।
ग्रामस्य कस्याप्यथवा पुरस्य, पन्थानमन्वेषयितुं प्रतीतम् ॥८०॥

कृत्वा तडागे सवनं श्रमार्त्तः, स्वच्छानि शीतानि जलानि पीत्वा।
आलम्ब्य दोर्भ्यां च वटस्य पादांस्तस्योपरिष्टात् स समारुरोह ॥८१॥

व्याख्य—**ग्रामीणपौरैः**—ग्रामीणैः ग्रामेयकैः "ग्रामेयके तु ग्रामीण ग्राम्यौ" इति हैमः। पौरैः पुरवासिभिश्च। **अभीप्सिताभ्यां**—स्वेष्टाभ्याम्। **क्रयविक्रयाभ्यां**—स्वाभीष्टक्रयविक्रयार्थमित्यर्थः। **चलद्भिः**—गच्छद्भिः। **आकीर्णं**—संकीर्णं। **कस्यापि ग्रामस्य, अथवा पुरस्य, प्रतीतम्**—प्रसिद्धम्। **पन्थानम्**—मार्गम्। **अन्वेषयितुम्**—यस्मिन् मार्गे बहवो जनाः स्वस्वकार्यार्थं चलन्ति तं प्रतीतम् मार्गमन्वेषयितुमित्यर्थः। श्रमेण भ्रमणखेदेन सौकुमार्यात् आर्त्तः पीडितः **श्रमार्तः, सः**—मंगलकुम्भः। **तडागे**—ह्रदे। **सवनम्**—स्नानं। **कृत्वा**—'स्नानं सवनमाप्लवः, इति हैमः। **स्वच्छानि, शीतानि**—शीतलानि। **जलानि च, पीत्वा, वटस्य**—तडागतटस्थस्य वटस्य। **पादान्**—शाखाः। **आलम्ब्य**—आश्रित्य। **तस्य**—वटस्य। **उपरिष्टात्**—उपरि। **समारुरोह**। यथा तादृशमार्गमवलोकयेदिति भावः ॥८०-८१॥

अथच्छलेन सूर्यास्तं वर्णयति—सूरास्तमिति—

सूरस्तमालोक्य तदुग्रदुःखं, करेष्वनेकेष्वपि सत्सु हर्त्तुम्।
अपारयन्न्यस्तमहीध्रचूला-मारुह्य वेगाज्जलधौ ममज्ज ॥८२॥

व्याख्या—**तं**—मंगलकुम्भम्। **आलोक्य**—दृष्ट्वा। **तदुग्रदुःखं**—तस्य मंगलकुम्भस्य उग्रं दुःखम्। **अनेकेषु**—सहस्रसंख्येषु। **करेषु**—किरणेषु, हस्तेषु च। **सत्सु**—विद्यमानेष्वपि, **हर्त्तुं**—दूरीकर्त्तुम्। **अपारयन्**—अशक्नुवानः। **सूरः**—सूर्यः। **अस्तमहीध्रचूलाम्**—अस्तमहीध्रस्य अस्ताचलाख्यपर्वतस्य 'महीध्रे शिखरि क्ष्माभृदऽहार्यधरपर्वता' इत्यमरः। चूलां शिखरम्। **आरुह्य, वेगात्, जलधौ**—समुद्रे। **ममज्ज**—अब्रुडत्।

सत्यपि साधने परदुःखहरणे असमर्थस्य मनस्विनः स्वगोपनमेव श्रेय इति भावः । अत्र दुःखं हर्तुमपारयतः सूर्यस्य जलधिमज्जनाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, सा च करेष्विति श्लेषानुप्राणितामनस्विव्यवहारप्रतीतेः समासोक्त्यनुप्राणितेति द्वयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥८२॥

न बन्धनं यस्य न कर्मपाशः, किञ्चिन्न वा पञ्जरमस्ति यस्य ।
तनूपभोगत्यजनापरस्य, स्थिरः स हंसः प्रतिपद्यते किम् ॥८३॥

व्याख्या—यस्य—हंसस्य । तनूपभोगत्यजनापरस्य—तनोः शरीरसम्बन्धी य उपभोगः विषयसुखम् अथ च तनुः अल्पः य उपभोगः । अनित्यत्वादिदोषदुष्टत्वम्, तस्य त्यजनापरस्य विरक्तस्य, अथ च देवत्वादनल्पसुखभाजः अथवा तनोः तडागादिषु स्वल्पमात्रस्य उपभोगस्य उपभोज्यस्य मृणालादेः त्यजनापरस्य, नहि मानसौकसः तडागादिषु दृष्टिबंधव इति कृत्वा तडागादिलब्धोपभोगत्यजनापरस्य च । बन्धनम्—रज्वादिनियन्त्रणम्, कर्मभोगरूपबन्धनम् वा, प्रतिरोधो वा । न, कर्मपाशः—कार्यसमूहः, कृतकृत्यत्वाद् स्वतन्त्रत्वाद्, भोगयोनितिर्यक्त्वोनित्वाद् चारित्रपालनादिरूपाचारादिकर्मसमूहो वा न । यस्य वा—हंसस्य । किञ्चित्, पञ्जरम्—शरीररूपम्, लौहादिनिर्मितपक्षिवासरूपं वा । न अस्ति, सः हंसः—आत्मा परमात्मा सूर्यः पक्षिविशेषश्च "हंसश्चित्रभानुर्विष्णुत्वाद्" इति हैमः । "भानुर्हंसः सहस्रांशुः, हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राह्वा मानसौकसा" इति चामरः । हंसश्चात्मा योगशास्त्रे प्रसिद्धः । 'हंसश्च परमात्मा' मेदिनीकोशे च । स्थिरः—एकत्र स्थितः । प्रतिपद्यते किम् ?—प्राप्यते किम् ? अपि तु नैव । स्थिरत्वे यथाकथञ्चित्पारतन्त्र्यस्य तन्त्रत्वादिति भावः । अत्र प्रकरणेन हंसशब्दस्य सूर्यार्थत्वे निर्मिते श्लेषेण पक्षिविशेषात्मपरमात्मार्थानां त्रयाणामुपस्थितेः हंस इव हंस इव हंस इवेति मालोपमा ध्वनिः शब्दशक्तिमूलः नतु श्लेष इति समवधानीयम् ॥८३॥

निमित्तमात्रं पतने गुरुत्वं, प्रोक्तं कणादेन मुनीश्वरेण ।
ग्रहेषु सर्वेष्वपि भास्करस्य, व्यक्तं न तत् किं पतनं विधत्ताम् ॥८४॥

व्याख्या—कणादेन—वैशेषिकन्यायकर्त्रा, मुनीश्वरेण । पतने—अधःपतने । निमित्तमात्रम्—निमित्तमेव न तु कदाचिदप्यनिमित्तम् । प्रोक्तं—कथितम् । गुरुत्वम्—गुरुत्वगुणः । सर्वेषु ग्रहेषु—ग्रहेषु मध्ये । भास्करस्य—सूर्यस्य । व्यक्तं—स्पष्टम्, सर्वापेक्षया भास्करोऽधिकगुरुरित्यर्थः । तत्—तस्माद्धेतोः । पतनं—सूर्यस्य विच्युतिः समुद्रादौ पातम् । किं—कुतः । न, विधत्ताम्—कुरुताम् ? अपि त्ववश्यं कुरुताम्, गौरवाधिक्येन सूर्यस्य पतनमुचितमेवेति भावः । अत्र गौरवेण पतनस्य सूर्यपतनस्य च भेदेऽप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिरलंकारः ॥८४॥

सरोजिनीनाथ – दिनाधिनाथ – प्रभाधिनाथ – ग्रहनाथमुख्यैः ।
विवर्णना यस्य बभूव शब्दैः, स हाऽस्तमेति स्थिरमाः परं किम् ॥८५॥

व्याख्या—**सरोजिनीनाथदिनाधिनाथप्रभाधिनाथग्रहनाथमुख्यैः**—सरोजिनी कमलिनी तस्याः नाथः विकाशकत्वादीशः, दिनस्य अधिनाथः तत्करत्वादीशः, प्रभाधिनाथः प्रभाकरत्वात् प्रभाधीशः, ग्रहाधिनाथः भौमादिग्रहेश्वरश्चेत्येते शब्दाः मुख्यं येषु तैः तादृशैः । **शब्दैः**—इतरव्याव्यवहृतैः वचोभिः । **यस्य, विवर्णना**—स्तुतिः । **बभूव, सः**—सूर्यः । **हा**—खेदे "हा शोके विषादे च", "अव्ययो हा स्मृतः शोके तथा दुःख-विषादयोः" एकाक्षरनाममालायां । **अस्तमेति, आः**—वाक्यपूरणे, "आ वाक्ये' इति एकाक्षरकोशे । **परम्**—अन्यत् । **किं, स्थिरम्**—चिरस्थायि भवेत् ? न किमपि । **सुवर्णमुक्तविशेषणयुक्तस्य चेन्न स्थिरत्वम्** तर्हि **अन्यस्य का वार्ता** ? जगति सर्वं विनाशशीलमेवेति भावः । सूर्यस्यास्थिरत्वेनान्यस्य सामान्यस्यास्थिरत्ववर्ण-नाद्विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासनामालङ्कारः ॥८५॥

अथ सूर्यस्यारुणत्वं वर्णयति—इदमिति—

इदं कराणां स्फुरतां सहस्रं, पुरस्कृतं मन्मयका पुरैव ।
उपेक्षतेऽस्मिन्समयेऽपि तन्मामिति क्रुधाऽऽरुण्यमधत्त योऽर्कः ॥८६॥

व्याख्या—**मयका**—मया सूर्येण । **यत्, स्फुरतां, कराणां**—किरणानां हस्तानाञ्च, केषाञ्चित्पुरुषाणाञ्च । **सहस्रं पुरा**—प्रागेव । **पुरस्कृतम्**—अग्रेसरं कृतम् सूर्योदयात्प्रागेव तत्प्रभोदयो जायते, हस्ता अपि पूर्वत एव धृता भवन्ति । अथ च धनदानादिना सत्कृतम्, तदिदं करसहस्रं कश्चित्पुरुषश्चापि । **अस्मिन्, समये**—अस्तमनसमये, विपत्तिसमये च । **मां**—पुरस्कर्त्तारम् । **उपेक्षते**—त्यजति, साहाय्यं नार्पयति । **इति**—हेतोः । **क्रुधा**—कोपेन । **यः, अर्कः**—सूर्यः । **आरुण्यम्**—रक्तत्वम् । **अधत्त**—धृतवान्, सूर्यः अस्तमनकाले रक्तो जायते, कराश्च तस्य संक्षयंतीतिभाव.—संक्षिपयन्ति इति भावः । अत्र पुरस्कृतम् उपेक्षते इत्यादिविशेषणगत्या अकृतज्ञपुरुषव्यवहारस्य करेषु समारोपात् समासोक्तिः, स चाक्रोधकृतारुण्यस्याभावेऽपि सूर्ये तत्सम्बन्धो-क्तिरूपातिशयोक्तेरङ्गम् इति संकरः ॥८६॥

अथ सन्ध्याऽभूदित्याह—प्रवर्त्तमान इति—

प्रवर्त्तमानेऽभ्युदयेऽसमाने, ये स्वामिना केऽपि पुरस्क्रियन्ते ।
तं तेऽनुगच्छन्ति तथा हि यातः, प्रभादिनौ भानुमता सहास्तम् ॥८७॥

व्याख्या—**प्रवर्त्तमाने**—विद्यमाने । **असमाने**—असाधारणे । **अभ्युदये**—सम्पदि उदये च, सति । **ये, के, अपि, स्वामिना पुरस्क्रियन्ते**—सत्क्रियन्ते, अग्रे क्रियन्ते च । **ते**—पुरस्कृताः । **तं**-स्वामिनम् **अनुगच्छन्ति**—अनुसरन्ति, सुखदुःखयोः सहचारिणो भवन्ति, कृतज्ञतयेति भावः । **तथाहि**—अत एव । **प्रभादिनौ**—प्रभा सूर्यस्य कान्तिः दिनञ्च । **भानुमता**—सूर्येण । **सह, अस्तं**—पर्यवसानं । **यातः**—प्राप्तुतः, पालितानां तदेवोचितमिति भावः । अत्र प्रभादिनयोर्नास्तमनं प्रसिद्धम् किन्तु सूर्यस्यैव, प्रभादिनयोश्च तद्वर्णनात् तदनुप्राणिता सहोक्तिः, सहार्थबलाद्धि अत्रास्तशब्दः अन्तार्थस्य अदृष्टस्वार्थस्य च वाचकः, तल्लक्षणं-यथा-"सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः, सा सहोक्तिर्मूलभूताऽतिशयोक्तिर्यदा भवेत्" इति ॥८७॥

जगति न किमपि स्थिरमित्याह - **सुतो यदीय** इति—

सुतो यदीयः स यमः प्रसिद्धः, पद्मापतेर्यः स्वयमेव चक्षुः ।
प्रभुर्ग्रहाणामपि यः समेषां, हन्तास्तमेतीह स चेत्स्थिरं किम् ॥८८॥

व्याख्या - **यदीयः**—यस्य । **सुतः**—पुत्रः "अर्कसूनुर्यमः" इति हैमः । **सः**—लोकान्तकरत्वेन प्रसिद्धः । **यमः**—कृतान्तः, तथा । **यः, स्वयमेव**—स्वतोऽपि । **पद्मापतेः**—विष्णोः, जगत्स्रष्टुः । **चक्षुः**—नेत्रं, प्रसिद्धः । **यः, समेषां**—सर्वेषां । **ग्रहाणामपि, प्रभुः**—स्वामी । **हन्तेति** चित्रे । **इह**—संसारे । **स चेद्, अस्तम् एति**—याति, तर्हि । **स्थिरं**—शाश्वतम् । **किम्** ?—न किमपि नित्यमित्यर्थः । तादृशस्य लोकाद्भुतगुणसम्पन्नस्य चेन्न स्थायिता तर्हि अन्येषाम् अल्पाल्पशक्तिमतां का चर्चेति भावः ॥८८॥

अथ मङ्गलकुम्भस्य भिया वटे एवाऽवस्थानमाह—**तमस्ततावि**ति—

तमस्ततौ विस्तृतिमाश्रितायां – मधःस्थितं श्वापदमेव किञ्चित् ।
व्यापादयिष्यत्यचिरेण मामि – त्यवेत्य सोऽस्थात्स्तिमितस्तथैव ॥८९॥

व्याख्या—**तमस्ततौ**—तमिस्रायाम् 'तमिस्रा तु तमस्तताविति'त्यमरः । **विस्तृतिम्**—विस्तारम् । **आश्रितायाम्**—अवलम्बितायाम् सत्यां, गाढान्धकारे जाते इत्यर्थः । **अधः**—वटमूले । **स्थितं माम्, किञ्चिद्**—व्याघ्राद्यऽन्यतमम् । **श्वापदं**—हिंस्रजन्तुः । **अचिरेण**—शीघ्रमेव । **व्यापादयिष्यति**—मारयिष्यति । **इति**—इत्थम् । **अवेत्य**—विचार्य । **सः**—मंगलकुम्भः । **तथैव**-यथास्थित एव । **स्तिमितः**—सङ्कुचितः । **अस्थात्**—तस्थौ ॥८९॥

अथ तमो वर्णयति—**तथा कथञ्चिदिति**—

तथा कथञ्चित् प्रसृतं तमोऽपि, दृश्यो न हंसोऽपि यथाजनिष्ट ।
भासामभावो हि तमोऽपि युक्तं, प्रोक्तं कणादेन ततः कथञ्चित् ॥९०॥

व्याख्या—तमः-अन्धकारः । अपि, कथञ्चित्—केनापि प्रकारेण । तथा प्रसृतम्—विस्तृतम् । यथा हंसः—प्रभाधीशः, सूर्यः । अपि दृश्यः—अवलोकनीयः । न अजनिष्ट—जातः, गाढ़ेन तमसा प्रभाधीशोऽपि सूर्यः अदृश्यतां गतः, अन्योऽदृश्यतां गतः इति किं वक्तव्यमिति भावः । ततः हि, भासां—तेजसाम् । अभावः तमः—इति । कणादेन—तदाख्यमुनिना । प्रोक्तं—कथितम् । कथञ्चित्—पूर्वोक्तहेतुना । युक्तं—युक्तिसङ्गतम् । यदि हि भासामभावस्तमो न स्यात्तर्हि कथं तमसि सूर्यस्यादृश्यता सङ्गच्छेतेति भावः ॥९०॥

अथ मंगलकुम्भप्रवृत्तिमाह—विलोक्येति—

विलोक्य सोऽथ ज्वलनज्वलन्तं, न्यग्रोधभूमीरुहमुत्तरेण ।
हृष्यत्तनुः शीतविकम्पमानोऽवतीर्य तस्मात्तमियाय देशम् ॥९१॥

व्याख्या—अथ सः—मङ्गलकुम्भः । उत्तरेण—उत्तरभागेन । ज्वलनज्वलन्तं—ज्वलनेन अग्निना 'ज्वलनशिखिनौ' इति हैमः । ज्वलन्तं प्रकाशमानं । न्यग्रोधभूमीरुहं विलोक्य—वटवृक्षमवलोक्य "न्यग्रोधस्तु बहुपात् स्याद् वटः" इति हैमः । हृष्यत्तनुः—वह्निना शीतं निवारयिष्यामीत्येवमानन्दितगात्रः । शीतविकम्पमानः—शीतेन तुषारेण विशेषेण कम्पशीलः । तस्मात्—वटात् । अवतीर्य—नीचैरागत्य । तं—ज्वलनज्वलन्तं । देशं—स्थानम् । इयाय ॥९१॥

स स्थानपालैर्बहु तप्यमानः, शीर्षे प्रहारैरभिताडितश्च ।
एकेन तन्मन्त्रिवचो विचिन्त्याऽपसार्य तेभ्यो विजनेऽथ निन्ये ॥९२॥

व्याख्या—स्थानपालैः—तत्स्थानरक्षकैः । बहु—अत्यन्तम् । तप्यमानः—कदर्थ्यमानः, चौरादिबुद्धया । प्रहारैः—लगुडादिभिः । शीर्षे-मस्तके । अभिताडितः—आहतश्च । सः—मङ्गलकुम्भः । एकेन—अन्यतमेन, केनचित्पुरुषेण । तत्—पूर्वसूचितं । मन्त्रिवचः, विचिन्त्य—स्मृत्वा । तेभ्यः—स्थानपालेभ्यः । अपसार्य—दूरीकृत्य । अथ—पश्चात् । विजने—एकान्ते । निन्ये—नीतः, रहस्यभङ्गो मामूदिति भियेतिभावः ॥९२॥

अथ सचिवाय तस्य समर्पणमाह—क्षणमिति—

क्षणं कृशानावकृशाशयस्तं, स तापयित्वा सचिवाय मङ्क्षु ।
समर्पयामास कुमाररूपं, कुमारमालोक्य मुदेऽदित स्वम् ॥९३॥

व्याख्या—सः, अकृशाशयः—उदारः, स्थानपालः । तं—मंगलकुम्भं । क्षणं, कृशानौ—अग्नौ । तापयित्वा—उष्णतामापाद्य, शीतनिवारणार्थमिति भावः । मङ्क्षु—शीघ्रमेव । सचिवाय, समर्पयामास—

ददौ । सः–सचिवः । कुमारकल्पं–कार्त्तिकेयतुल्यम् । कुमारं–बालं तम् । आलोक्य, स्वम्–आत्मानं । मुदे–हर्षाय, अदित, हृष्टोऽभूदित्यर्थः ॥९३॥

अपूपुषत्तं सचिवोऽप्यजस्रं, स्निग्धान्नपानैः स्वकुमारवच्च ।
प्रच्छन्नमाधाय निधानवत् स, देयार्थवत् प्राहरिकैररक्षत् ॥९४॥

व्याख्या—सः, सचिवः, अपि, तं–मङ्गलकुम्भं । स्वकुमारवत्–स्वबालवत्, एतेन पोषणातिशय उक्तः । स्निग्धान्नपानैः–स्निग्धैः मधुरैः अन्नैः पक्वान्नादिभिर्भोज्यैः पानैः स्वादुरसादिभिश्च । अजस्रम्–सन्ततम् । अपूपुषत्–पोषयति स्म । तथा निधानवत्–निधिवद् कोषमिव वा । प्रच्छन्नम्–गुप्तम् । आधाय–कृत्वा, यथाऽन्यो न विदेदिति भावः । देयार्थवत्–दातव्यधनवत् । प्राहरिकैः–पहरे पहरे रक्षकैः पुरुषैः । अरक्षत्–रक्षति स्म । यथा न पलायेतेति भावः ॥९४॥

अथ मङ्गलकुम्भस्य जिज्ञासामाह—स एकदाइति—

स एकदाऽप्रच्छदमात्यमेवं, वैदेशिकस्यापि विधीयते मे ।
किं गौरवं तात ! पुरी च केयं, किं नामधेयस्त्वमिह प्रसिद्धः ॥९५॥

व्याख्या—सः–मंगलकुम्भः । एकदा, अमात्यमेवमपृच्छत्, तात ! वैदेशिकस्य–देशान्तरभवस्य अपरिचितस्यापि, मे–मम । किं–कुतः । गौरवं–सत्कारादि । विधीयते–क्रियते ? इयं, पुरी–नगरी । का–किं नामधेया ? त्वञ्च, इह किंनामधेयः–किमाख्यः, प्रसिद्धः, तव किं नामेत्यर्थः, इत्यपृच्छदित्यन्वयः ॥९५॥

अथ मन्त्रिकृतोत्तरमाह—मन्त्यप्यभाषिष्टेति—

मन्त्यप्यभाषिष्ट विशिष्टबुद्धिः, स्वार्थं नते गौरवमादधेऽहम् ।
चम्पापुरीयं प्रथिता जगत्यां, तन्नाथमन्त्यऽस्म्यहमत्र वित्तः ॥९६॥

व्याख्या—विशिष्टा विलक्षणा बुद्धिः यस्य स, विशिष्टबुद्धिः–धीमान् । मन्त्री अपि, अभाषिष्ट–जगाद । किमित्याह—अहं, हि, स्वार्थं–स्वकार्यसाधनार्थं । ते–तव । गौरवं–सत्कारम् । आदधे–करोमि । यद्वा नते इति पाठे तु नते नम्रे त्वयीत्यर्थः । इयं–वर्त्तमाना । जगत्यां–लोके । प्रथिता–प्रसिद्धा । चम्पापुरी–नाम नगरी । अत्र–नगर्याम् । अहं, वित्तः–प्रसिद्धः 'ख्याते प्रतीतप्रज्ञातवित्तेर्ति' हैमः । तन्नाथस्य चम्पापुराधीशस्य राज्ञः मन्त्री सचिवः । तन्नाथमन्त्री, अस्मि ॥९६॥

अथ स्वार्थमिति यदुक्तं तत्पृच्छति—स्वार्थोऽपीति—

स्वार्थोऽपि कस्ते सचिवेति पृष्टस्तेन न्यगादीत्पुनरेव मन्त्री ।
निवेदयिष्यामि तवाऽपि मुग्ध !, स्वार्थं कदाचित् स्वमनोऽनुमत्या ॥९७॥

व्याख्या—सचिव ! कः,ते—तव । स्वार्थः—प्रयोजनम् । इति—इत्थं । तेन—मङ्गलकुम्भेन । पृष्टः, मन्त्री पुनः—भूयः । एव न्यगादीत्—अवदत् । मुग्ध—सुन्दर ! बालत्वान्मूर्ख, इति 'मुग्धः सुन्दरमूढयो' रित्यमरः । कदाचित्—अवसरं प्रेक्ष्येत्यर्थः । स्वमनसः अनुमत्या वृत्त्या । स्वमनोऽनुमत्या—स्वेच्छातः इत्यर्थः । तव अपि—स्वार्थम् । निवेदयिष्यामि—कथयिष्यामि, मा त्वरिष्ठा इति भावः ॥९७॥

अथ पुनः तत्कृतस्वार्थजिज्ञासामाह—गतेष्विति —

गतेषु घस्रेषु कियत्स्वमात्यं, प्रस्तावमासाद्य स पृच्छति स्म ।
स्वार्थं तमाख्याहि ममानुवृत्त्ये -त्युक्तः स तेनाभिदधेऽभिसन्धिम् ॥९८॥

व्याख्या—कियत्सु—कतिपयेषु । घस्रेषु—दिनेषु 'घस्रो दिनाहनी', इत्यमरः । गतेषु—व्यतीतेषु । सः—मङ्गलकुम्भः । प्रस्तावम्—अवसरम् । 'प्रस्तावः स्यादवसरः', इत्यमरः । आसाद्य—प्राप्य । अमात्यं, पृच्छति स्म—किमित्याह । मम,तं—त्वया पूर्वसूचितम् । स्वार्थम् अनुवृत्त्या—अनुरोधेन, 'अनुवृत्तिस्त्वनुरोध.' इति हैमः । यथातथामित्यर्थः । आख्याहि—कथय । इति—इत्थं । तेन—मङ्गलकुम्भेन । उक्तः—कथितः । सः—मन्त्री । अभिसन्धिम्—निजाशयम् । अभिदधे ॥९८॥

तच्छ्रुत्वा मङ्गलकुम्भ प्रत्युत्तरमाह—श्रुत्वा तदाकूतेति—

श्रुत्वा तदाकूतमुदारचेताः, स निःश्वसन् दिक्करकोऽप्युवाच ।
आ युक्तिमुक्तं भवता किमुक्तं, वचः कलङ्कं रचयत् कुलस्य ॥९९॥

व्याख्या—तदाकूतं—तस्य सचिवस्य आकूतम् अभिप्रायं । श्रुत्वा, दिक्करकः—युवा सः, "तलुनी-दिक्करी" इति हैमः । पुलिङ्गे तु स्वार्थे के दिक्करकः । उदारचेताः—मनस्वी,अनौचित्यासहनः,असहिष्णुरित्यर्थः । सः, निश्वसन्—अवद्यश्रवणेन क्रोधात् दीर्घनिश्वासं मुञ्चन् । उवाच—किमित्याह—आः—इति भर्त्सने खेदे च । भवता—त्वया । युक्तिमुक्तं—युक्त्या औचित्येन मुक्तं रहितम्, अनुचितमित्यर्थः, अतएव । कुलस्य—

कलङ्कं—लाञ्छनम्, 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनञ्चे' त्यमरः। अनुचितवचनं हि कुलं दूषयतीतिभावः। रचयत्—सम्पादयद्। वचः—वचनं। किमुक्तम्—नैवं वक्तव्यम् सता इत्यर्थः ॥९९॥

तद्वचसः युक्तिमुक्तत्वमेव दर्शयति—को नामेति—

को नाम तत्कर्म विनिर्मिमीते, भूतं न यत् क्वापि न भावि यच्च ।
सचेतनः कः परिणीय कन्यां, प्रदातुमीहां तनुतां परस्मै ॥१००॥

व्याख्या—कः, नाम—जनः। तत्, कर्म—कार्यं। विनिर्मिमीते—करोति, किमित्याह—यत्—कर्म। क्वापि भूतं—वृत्तं। न, यच्च—कर्म। भावि—भविष्यत्। न—किं न तथा इत्याह। कः सचेतनः—बुद्धिमान्। कन्यां, परिणीय—विवाह्य। परस्मै—अन्यस्मै। प्रदातुम्, ईहाम्—अभिलाषाम्। तनुतां—करोतु, न कोऽपि इत्यर्थः। एवञ्च न भूतं नाऽपि भावि न च वर्तमानमिति कालत्रयेऽप्यसम्भवद्वचोऽयुक्तमेवेति मयाऽनादरणीयमेवेतिभावः ॥१००॥

अथ तच्छ्रुत्वा मन्त्रिचेष्टामाह—तद्वाचमिति—

तद्वाचमन्तर्विनिवेश्य मन्त्री, च्छेत्स्यामि मूर्धानमिति ब्रुवाणः ।
पाणौ कृपाणं कलयन् स पापात्, कृपापरैः प्राहरिकैर्न्यवारि ॥१०१॥

व्याख्या—सः, मन्त्री, तस्य—मङ्गलकुम्भस्य। वाचम्—वचनम्। अन्तर्विनिवेश्य—अवधार्य। मूर्द्धानम्—तव मस्तकं। च्छेत्स्यामि, इति—इत्थं। ब्रुवाणः—कथयन्। पाणौ—हस्ते। कृपाणम्—खड्गं। कलयन्—धारयन्। कृपापरैः—दयालुभिः। प्राहरिकैः—रक्षापुरुषैः। पापात्—बालवधरूपापकृत्यात्। न्यवारि—निषिद्धः ॥१०१॥

नन्वत्रैवं भवतीति चेत्तत्राह—देशे त्वदीयेति—

देशे त्वदीये यदि वा कुलेऽस्मिन्, प्रवृत्तिरेषा न तथापि मेऽर्हा ।
आमुष्मिकं वैहिकमीहमानः, समाचरेत् कः प्रतिषिद्धमर्थम् ॥१०२॥

व्याख्या—अस्मिन् देशे यदि वा त्वदीये कुले एषा—विवाह्य परस्मै कन्या प्रदानरूपा। प्रवृत्तिः—व्यवहारः। तथापि—तथा सत्यपि। मे—मम। न अर्हा—युक्ता, मदीये देशे कुले वा तथा व्यवहाराऽभावादिति भावः। आमुष्मिकं—पारलौकिकशुभम्। ऐहिकम्—इहलोकशुभम्। वा ईहमानः—अभिलषन्, एतेन तथा प्रवृत्तिः आयुष्मिकैहिकयोर्दूषिकेति सूच्यते। कः—जनः। प्रतिषिद्धम्—लोकशास्त्रादिगर्हितम्।

अर्थम्—कार्यं । **समाचरेत्**—कुर्यात् ? न कोऽपीत्यर्थः । तस्मादहमपि तथा नैव कर्त्तेति मङ्गलकुम्भोक्तिरिति भावः ॥१०२॥

अथ प्राहरिकाणां सामवचनैः मन्त्रिशमनमाह—**विमुञ्चेति**—

विमुञ्च सन्तापकरं प्रकोपं, कोशे कृपाणं क्षिप मन्त्रिराज ! ।
भवादृशा बालवधाय खड्गं, किमाददाना न खलु त्रपन्ते ? ॥१०३॥

व्याख्या—**मन्त्रिराज !, सन्तापकरम्**—सञ्ज्वरकारकम् 'सन्तापः संज्वरः" इति हैमः । बालवधेन तव सन्ताप एव भविष्यति, न तु कार्यसिद्धिरिति भावः । **प्रकोपं**—क्रोधम् । **विमुञ्च**—त्यज । **कृपाणं**—खड्गं । **कोशे**—खड्गधान्यां । **क्षिप**—निवेशय । न तस्य हस्ते प्रयोजनमिति भाव. । **भवादृशाः**—बुद्धिमन्तः । समर्थाश्च । **बालवधाय, खड्गम्, आददानाः**—गृह्णन्तः । **न, खलु त्रपन्ते**—लज्जन्ते । **किम्** ?—अवश्यं त्रपन्ते इत्यर्थः । बालवधस्य वीराननुरूपत्वात् पातकजनकत्वात् सन्तापकरत्वात् व्रीडाजनकत्वाद्गर्हितत्वाच्चेतिभाव ॥१०३॥

ननु भवत्वेवम्, किन्त्वयं प्रगल्भः ममाज्ञां न मन्यते तस्य किं स्यादितिचेत्तत्राह—**अवोचदिति**—

अवोचदज्ञानवशादबद्धं, बालः प्रवालच्छविदन्तवासाः ।
विदन् प्रभूणां पुरतः क एवं, वदेत्पिधत्ते प्रतिपद्धि दोषान् ॥१०४॥

व्याख्या—**अज्ञानवशात्, प्रवालच्छविदन्तवासाः**—प्रवालो विद्रुमः "विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुन्नपुंसकम्" इत्यमरः । तद्वच्छविः कान्तिः "कान्तिर्द्युतिश्छविः" इत्यमरः । यस्य स तादृशं दन्तवासोऽधरो यस्य स तादृशः रक्ताधर इत्यर्थः । "ओष्ठाऽधरौ तु रदनच्छदौ दसनवाससी" इत्यमरः । अधरो रदच्छदः दन्तवासं चेति हैमः । **बालः**—अत एव अज्ञानीत्यर्थः । **अबद्धम्**—अनर्थकम्, अविचार्यासम्बद्धमुक्तमित्यर्थः, 'अबद्धम् स्यादनर्थकमि',त्यमरः । **अवोचत्, कः, विदन्**—विद्वान्, सन् । **प्रभूणां**—सामर्थ्यवतां । **पुरतः**—अग्रे । **एवं**—कोपोत्पादकं, वाक्यं । **वदेत्, हि**—यतः । **प्रतिपद्**—ज्ञानं । **दोषान्**—अपराधान् । **पिधत्ते**—आच्छादयति, ज्ञानाभावे तु अपराधानपराधयोरविवेकादेवं बाल एव वदतीति, तेन तव कोपो न युज्यते, अज्ञं प्रतिकोपस्याज्ञत्वापादकत्वादिति भावः ॥१०४॥

ननु तथापि मत्कार्यसिद्धेः क उपाय इति चेत्तत्राह—**तावत् प्रतीक्षस्वेति**—

तावत् प्रतीक्षस्व बिबोधयामो, यावद्वयं बालमबालबुद्धिम् ।
इतीरितस्तैः प्रशशाम मन्त्री, सामप्रसाध्या ह्यधिपा भवन्ति ॥१०५॥

व्याख्या—तावत्—तावन्तं कालं । प्रतीक्षस्व—प्रतीक्षां कुरु । यावत्, वयं—प्राहरिकाः । अबालबुद्धिम्—अबालस्तरुणः वृद्धो वा स इव बुद्धिर्यस्य अबालस्य ह्रस्य बुद्धिरिव बुद्धिर्यस्य तं तादृशम् । एतेन बोध्यत्वसम्भावनोक्ता । बालम्—एनं । विबोधयामः—स्वकार्ये अनुकूलयामः । इति—इत्थं । तैः—प्राहरिकैः । ईरितः—कथितः । मन्त्री, प्रशशाम—शान्तोऽभूत् । हि—यतः । अधिपाः, साम्ना—सामवचनेन । प्रसाध्याः—अनुकूलयितव्याः, भवन्ति ॥१०५॥

तस्य तद्वचनस्वीकारमाह—रक्षानियुक्ता इति—

रक्षानियुक्तास्तमबूबुधंस्ते, तथा यथामंस्त स तद्वचस्तत् ।
ऊचे च तन्मे सुमते ! प्रदेयं, प्राप्नोमि यत्पाणिविमोचनेऽहम् ॥१०६॥

व्याख्या—ते, रक्षानियुक्ताः—प्राहरिकाः । तं—मङ्गलकुम्भं । तथा—तेन प्रकारेण । अबूबुधन्—बोधयन्ति स्म । यथा, स—बाल । तत्, तद्वचः—मन्त्रिणः प्राहरिकाणाञ्च वचनं यद्विवाहार्थं तत् । अमंस्त—मन्यते स्म । ऊचे च—कथितवाँश्च, पुनः । सुमते ! तत्—वस्तु । मे—मह्यं । प्रदेयम्, यद्—वस्तु । अहम् पाणिविमोचने—करसम्मेलनानन्तरजायमानकन्यादानकर्मणि प्राप्नोमि, जैतुके इति भावः ॥१०६॥

आमेति तस्य प्रतिपद्य सार-व्याहारमाकारपरार्द्ध्यमूर्त्तेः ।
वैवाहिकं धीसख एव सर्वं, विधापयामास विधिं विधिज्ञः ॥१०७॥

व्याख्या—आकारपरार्ध्यमूर्तेः—आकारेण परार्ध्या अनुपमेया मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य तस्य । तस्य—मङ्गलकुम्भस्य, सारः श्रेष्ठः यः व्याहारः वचनं तम् । सारव्याहारम्—"वचनं तु व्याहारः" इति हैमः । आम—एवमस्त्विति । प्रतिपद्य—स्वीकृत्य । विधिज्ञः—सः । धीसखः—मन्त्री । सर्वमेव, वैवाहिकं—विवाहसम्बन्धिनं । विधिं—क्रियां । विधापयामास—कारयामास ॥१०७॥

अथ वैवाहिकविधिमेव वर्णयति त्रिभिः श्लोकैः प्रवाद्यमानेष्वित्यादि—

प्रवाद्यमानेषु विचित्रभङ्ग्या, महामृदङ्गेषु कलस्वनेषु ।
मार्दङ्गिकैर्द्रव्यमुपाददानै-रुत्तार्यमाणं स्वसुवासिनीभिः ॥१०८॥
योषासु भूषासु मनोहरासु, प्रकुर्वतीषु प्रवरासु गीतम् ।
अभ्यज्य तैलेन सुगन्धिना तं, हारिद्रचूर्णोपचितेन तेन ॥१०९॥

स्ववृत्तसन्तोषितकान्तपुत्र – प्रपूर्यमाणानुपमाभिलाषाः ।
अम्भोभिरुष्णैरवदातरूपै – रसिस्नपंस्तं प्रवरा रमण्यः ॥११०॥

व्याख्या—**स्वसुवासिनीभिः**–ज्ञातिवधूभिः, एकगोत्रीयस्त्रीभिर्वा "स्वज्ञातिःस्वजनो बन्धुः सगोत्रश्च" इति हैमः । **उत्तार्यमाणम्, द्रव्यं उपाददानैः**–गृह्णद्भिः । **मार्दङ्गिकैः**–मृदङ्गवादननिपुणैः । **कलस्वनेषु**–कलाः मधुराः श्रुतिसुखाः स्वनाः निःस्वनाः येषां तेषु । **महामृदङ्गेषु, विचित्रभङ्ग्या**–विचित्रया विलक्षणया विविधया वा भङ्ग्या रीत्या । **प्रवाद्यमानेषु**–सत्सु ॥१०८॥

व्याख्या—**भूषासु मनोहरासु**–"भूषा तु स्यादलंक्रिया" इत्यमरटीकापाठादलंक्रियासु भूषणक्रियासु मनोहरासु, यद्वा भूषणक्रियायां सुमनोहरासु भूषणानां यथास्थानयोजिकासु, यद्वा भूषाभिः भूषणक्रियाभिः सुजनानां सुमनांसि हरन्तीत्येवं स्वभावासु । **प्रवरासु**–गुणादिभिरुत्तमासु । **योषासु**–नारीषु । **गीतं**–गानम् 'गीतं गानमिमे समे' इत्यमरः । **प्रकुर्वतीषु**–गायन्तीषु, सतीषु । **तं**–मङ्गलकुम्भं, हारिद्रं हरिद्रासम्पन्नं यच्चूर्णं तेन उपचितेन मिश्रितेन । **हारिद्रचूर्णोपचितेन, सुगन्धिना, तेन**–प्रसिद्धेन । **तैलेन, अभ्यज्य**–मर्दयित्वा ॥१०९॥

व्याख्या—**स्ववृत्तसन्तोषितकान्तपुत्रप्रपूर्यमाणानुपमाभिलाषाः**–स्ववृत्तेन निजव्यवहारेण निजशुद्धाचरेण सन्तोषितौ प्रीणितौ यौ कान्तपुत्रौ स्वस्वामितनयौ ताभ्यां प्रपूर्यमाणा सम्पाद्यमाना अनुपमा अतुल्याः अभिलाषा यासां ताः । **प्रवराः, रमण्यः**–नार्यः । **अवदातरूपैः**–"अवदातमनाविलं" इत्युक्तेः अवदातमनाविलं रूपं स्वरूपं येषां तै स्वभावनिर्मलैः । **उष्णैः, अम्भोभिः**–पानीयैः, 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीय'मित्यमरः । **तं**–मङ्गलकुम्भम् । **असिस्नपन्**–स्नपयामासुः ॥११०॥

अथ तस्य वेशविरचनमाह—**काश्चनेति**—

विलेपनं काञ्चन चक्रुरङ्गे, कर्पूरसम्भाजितचन्दनेन ।
ललाम काश्चिच्च ललाटपट्टे, गोरोचनारोचितकुंकुमेन ॥१११॥

व्याख्या—**काञ्चन**–नार्यः । **अङ्गे**–मङ्गलकुम्भस्य शरीरे, अवयवे वा । **कर्पूरसम्भाजितचन्दनेन**–कर्पूरेण सम्भाजितेन मिश्रेण चन्दनेन । **विलेपनं, चक्रुः, काश्चिच्च**–नार्यः । **ललाटपट्टे**–भालस्थलं पट्टम् फलकमिव तस्मिन्, गोरोचनया रोचितेन रुचिरेण कुंकुमेन । **गोरोचनारोचितकुङ्कुमेन, ललाम**–तिलकमकार्षीत् ॥१११॥

सदा विवाहव्यवहारविज्ञाः, काश्चिद्बबन्धुर्वलयं प्रकोष्ठे ।
ताम्बूलमाराद्घनसारमिश्रं, व्यश्राणयन् काश्चन भव्यभावाः ॥११२॥

व्याख्या—सदा, विवाहव्यवहारविज्ञाः—विवाहविधिनिपुणाः। काश्चित्—नार्यः । प्रकोष्ठे—मङ्गलकुम्भस्य कर्परावोभागे, "प्रकोष्ठस्तस्य चाग्यधः" इत्यमरः । तत्र 'तस्य' कर्परस्येत्यर्थः । वलयं—कटकं, पोंची इति ख्यातं । 'कटको वलयोऽस्त्रियामि'त्यमरः । बबन्धुः—परिधापयामासुः । भव्यभावाः—प्रशस्ताशयाः । काश्चन—नार्यः । आरात्—सामीप्येन, घनसारेण कर्पूरेण मिश्रं समन्वितम्, घनसारमिश्रं, ताम्बूलं—नागवल्लीदलं । व्यश्राणयन्—ददुः ॥११२॥

कपोलदेशे मृगनाभिपत्र – भङ्गीं व्यधुः काश्चन रागसङ्गात् ।
वासांसि काश्चित् परिधाप्य नव्या-न्यदीदृशन् दर्पणमिद्धदर्पाः ॥११३॥

व्याख्या—काश्चन—नार्यः । रागसंगात्—अनुरागात् । कपोलदेशे—मंगलकुम्भस्य गण्डस्थले, 'गण्डौ कपोलौ' इत्यमरः । मृगनाभिपत्रभङ्गीं—मृगनाभिना कस्तूर्या पत्रभङ्गीं पत्रवल्लिं "पत्रभङ्गि (भङ्गी) वल्लिलताऽङ्कुल्यः" इति हैमः । व्यधुः—अकार्षुः । इद्धदर्पाः—मानिन्यः । काश्चन, नव्यानि—नूतनानि । वासांसि—वस्त्राणि । परिधाप्य, दर्पणं—मुकुरम्, 'दर्पणे मुकुरादर्शा' वित्यमरः । अदीदृशन्—दर्शयन्ति स्म 'पश्य' कीदृशं ते रूपं जातमिति बुद्धया इति भावः ॥११३॥

इत्युग्रसौभाग्यपरप्रभावा — नुमेयभाग्यातिशयस्य तस्य ।
चक्रुः पुरन्ध्रयोऽपि विधिं विवाहे, क्व भाग्यभाजां न भवन्ति भोगाः ॥११४॥

व्याख्या—इति—पूर्वोक्तरीत्या, उग्रेणोत्कटेन सौभाग्येन परणोद्भुतेन प्रभावेण च अनुमेयः उन्नेयः भाग्यातिशयः यस्य तस्य उग्रसौभाग्यपरप्रभावानुमेयभाग्यातिशयस्य, तस्य—मङ्गलकुम्भस्य । विवाहे—विवाहकाले प्राप्ते । पुरन्ध्रयः—कुटुम्बिन्योऽपि स्त्रियः "पुरन्ध्री तु कुटुम्बिनी" इति हैमः । विधिं—क्रियां । चक्रुः—युक्तं चैतत् । तथाहि—भाग्यभाजां—भाग्यवतां । क्व—कुत्र । भोगाः—सुखानि । न भवन्ति ? अपि तु सर्वत्रैव भवन्तीत्यर्थः ॥११४॥

अथ यात्रायै तस्य गजारोहणमाह—आरोपितानिति

आरोपितान् कुङ्कुमपङ्कहस्तान्, सीमन्तिनीभिर्दधतं समन्तात् ।
ततः समारुक्षदरूक्षकायं, स हस्तिनं हस्तिपकात्तहस्तः ॥११५॥

व्याख्या—**ततः**—तत्तद्विध्यनन्तरं । **सः**—मङ्गलकुम्भः । **सीमन्तिनीभिः**—नारीभिः, "नारी सीमन्तिनी वधूः" इत्यमरः । **आरोपितान्**—आलेखितान् । **कुङ्कुमपङ्कहस्तान्**—कुङ्कुमपङ्कस्य हस्तान् हस्तकृतहस्ताकारान् । **समन्तात्**—सर्वतः । **दधतं**—धारयन्तम्, सीमन्तिन्यो हि गजे कुङ्कुमपङ्काक्तान् हस्तान् आरोपयन्ति, तेन च हस्ताकारा गजशरीरे जायन्ते इति भावः । अत एव **अरूक्षः** स्निग्धः **कायः** शरीरं यस्य तम् **अरुक्षकायम्** **हस्तिनं**—गजम् । **हस्तिपकेन** आत्तः उपरि रोहणकाले धृतः हस्तः करः यस्य स **हस्तिपकात्तहस्तः**—सन् **समारुक्षत्**—आरुरोह ॥११५॥

वीणासु भेरीषु च वाद्यमाना—स्वनन्तरामासु च कुर्वतीषु ।
गीतानि तारस्वरमन्यपुष्टा—ध्वनिं जयन्तीषु तमन्वितासु ॥११६॥

व्याख्या—**वीणासु, भेरीषु**—दुन्दुभिषु । **च**—"भेरी दुन्दुभिरानकः" इति हैमः । **वाद्यमानासु**—सतीषु । **अनन्तरामासु**—अनन्ताः असङ्ख्याताः अगणिताः इत्यर्थः, याः रामाः स्त्रियः तासु । **तं**—मङ्गलकुम्भम् । **अन्वितासु**—अनुसृतासु । **अन्यपुष्टाध्वनिम्**—अन्यपुष्टायाः कोकिलायाः "परपुष्टान्यभृतौ च पिके" इति शिलोञ्छः, ध्वनिं रवं । **जयन्तीषु**—अभिभावयन्तीषु । **तारस्वरं**—उच्चैस्वरं यथा स्यात्तथा । **गीतानि, कुर्वतीषु च**—सतीषु, हस्तिनं समारूक्षदिति पूर्वेणान्वयः ॥११६॥

अथ तस्य मण्डपगमनमाह—भट्टेष्विति

भट्टेषु काव्यानि पठत्सु सत्सु, गीतानि गायत्सु च गायनेषु ।
बर्हातपत्रेण विराजमानः, स मण्डपं प्राप निवृत्ततापः ॥११७॥

व्याख्या—**भट्टेषु**—मागधादिषु । **काव्यानि**—स्तुतिकाव्यानि । **पठत्सु**—सत्सु **गायनेषु**—गाथकेषु । **गीतानि, गायत्सु च, बर्हातपत्रेण**—बर्हस्य पिच्छस्य, "पिच्छं बर्हं" इति हैमः, पिच्छयुक्तेन वा आतपत्रेण छत्रेण । **विराजमानः**—शोभमानः, अत एव निवृत्तः अपगतः तापः यस्य स । **निवृत्ततापः**—अथ च निरुद्वेगः । **सः**—मङ्गलकुम्भः । **मण्डपं**—विवाहमण्डपं । **प्राप**—उपययौ ॥११७॥

तन्मण्डपद्वारि मतङ्गजेन्द्र—स्कन्धात्समुत्तीर्य दिशन् वसूनि ।
कुलाङ्गनाभिः कृतमर्घपात्रै—रर्घं गृहीत्वान्तरमाविवेश ॥११८॥

व्याख्या—**तन्मण्डपद्वारि**–तस्य विवाहार्थं निर्मापितस्य मण्डपस्य द्वारि। **मतङ्गजेन्द्रस्कन्धात्**–मतङ्गजेन्द्रस्य महागजस्य स्कन्धात् पृष्ठात्। **समुत्तीर्य**–नीचैरागत्य। **वसूनि**–धनानि। **दिशन्**–याचकेभ्यः ददत्। **कुलाङ्गनाभिः**–कुलस्त्रीभिः अर्घार्थं पात्रं भाजनं तैः **अर्घपात्रैः**। **कृतं**–समर्पितम्। **अर्घं**–पूजाम्, 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। **गृहीत्वा**–स्वीकृत्य। **अन्तरम्**–मण्डपमध्यं। **आविवेश**–प्रविवेश। ॥११८॥

अथ तस्य आसनाधिरोहणमाह—विभूषेति

विभूषयामास विभूषणांशु-प्रद्योतिताशः स कुमारसिंहः।
सिंहासनं श्रीसुरसुन्दरेण, व्यधायि यत्तत्र सुमेरुतुङ्गम् ॥११९॥

व्याख्या—**तत्र**–मण्डपे। **श्री सुरसुन्दरेण**–राज्ञा। **सुमेरुतुङ्गम्**–सुमेरुः मेरुपर्वतः "मेरुः कनकाचलः रत्नसानुः सुमेरुः" इतिहैमः। स इव तुङ्गमुन्नतं यत्। **सिंहासनं, व्यधायि**–निरमायि, तत् सिंहासनं। **विभूषणांशुप्रद्योताशः**–विभूषणानां मण्डनानामंशुभिः किरणैः प्रद्योतिताः प्रकाशिताः आशाः दिशः येन स तादृशः "अलङ्कारस्त्वाभरणं परिष्कारो विभूषणं मण्डनञ्च" इत्यमरः। **सः**–मङ्गलकुम्भाख्यः। **कुमारसिंहः**–कुमारः सिंहः इव कुमारश्रेष्ठः। **विभूषयामास**–अलञ्चकार, तत्रोपविवेशेत्यर्थः ॥११९॥

अथ तत्समीपे त्रैलोकसुन्दर्या अपि उपवेशनमाह - त्रैलोक्येति

त्रैलोक्यसुन्दर्यपि वर्यभूषा-विभूषिताङ्गी विहिताभिषेका।
विलेपनैर्वासितदिक्कदम्बा, दुकूलवासःपिहिताननश्रीः ॥१२०॥
सा मातृकासद्मनि मातृकाणां, वृद्धाङ्गनास्थापनया स्थितानाम्।
विधाय पूजां सुमनोनुरूपां, भद्रासने प्राग्निषसाद भद्रा ॥१२१॥

(युग्मम्)

व्याख्या—**वर्यभूषाविभूषिताङ्गी**–वर्याभिः उत्तमाभिः भूषाभिः अलंक्रियाभिः "भूषा तु स्यादलंक्रिया इतिकोशः, विभूषितमङ्गं यस्याः सा तादृशी। **विलेपनैः**–घृष्टचन्दनादिलेपैः, कृत्वा, वासितमामोदीकृतं दिक्कदम्बं दिक्चक्रं यया सा **वासितदिक्कदम्बा**। तथा विहितः अभिषेकः यस्याः सा **विहिताभिषेका**। तथा दुकूलवाससा क्षौमवस्त्रेण "क्षौमं दुकूलं" इति हैमः। पिहिता आच्छादिता आननस्य मुखस्य श्रीर्यस्याः सा **दुकूलवासःपिहिताननश्रीः**–सती। सा, **त्रैलोक्यसुन्दरी, मातृकासद्मनि**–कुलदेवतागृहे। **वृद्धाङ्गनास्था-**

पनया—वृद्धाङ्गनाभिः कर्त्रीभिः या स्थापना निवेशः तया कृत्वा । स्थितानां, मातृकाणां गौर्यादिषोडशमातृकाशक्तीनां । सुमनोनुरूपां—देव्युचितां निर्मलमनःप्रशस्तां वा । पूजां, विधाय, भद्रा—कल्याणी, सा । भद्रासने—उत्तमासने । प्राक्—पूर्वाभिमुखी । निषसाद—उपविवेश ॥१२०॥१२१॥

अथ तयोः पाणिग्रहणमाह—लग्न इति

लग्ने प्रशस्ते पतिमित्रपूर्ण-दृष्ट्या प्रदृष्टे बलशालमाने ।
षड्वर्गशुद्धे च तयोः पुरोधा, अमीलयन् मङ्क्षु करं करेण ॥१२२॥

व्याख्या—पतिमित्रपूर्णदृष्ट्या—पतिः लग्नस्य मित्रं च तेषां पूर्णदृष्ट्या चातुश्चरणदृष्ट्या । प्रदृष्टे—विलोकिते । बलशालमाने—बलेन अष्टवर्गबलेन शालमाने शोभमाने । षड्वर्गशुद्धे—षड्वर्गैः मित्राधिमित्रादिभिः शुद्धे प्रशस्ते । च—अत एव । प्रशस्ते—शुभे । लग्ने—मुहूर्त्ते । पुरोधाः—पुरोहितः । मङ्क्षु—लग्नकालातिपातो मा भूदिति शीघ्रमेव । तयोः—वरकन्ययोः । करेण, करम्, अमीलयत्—युयोज, पाणिग्रहमकारयदित्यर्थः ॥१२२॥

अथ तस्मै जैतुकदानमाह—सेति

स मङ्गले प्राचि दुकूलभारान्, ददौ द्वितीये वरभूषणानि ।
सुवर्णमाणिक्यभरं तृतीये, तुर्य्ये रथाश्वादि धराधिराजः ॥१२३॥

व्याख्या—सः, धराधिराजः—राजा । प्राचि—प्रथमे । मङ्गले—मङ्गलविधौ । दुकूलभारान्—दुकूलानां सूक्ष्मक्षौमवस्त्राणां भारान् समूहान् । द्वितीये—मङ्गले । वरभूषणानि वराणि उत्तमानि च तानि भूषणानि च तानि । तृतीये—मङ्गले । सुवर्णमाणिक्यभरं—सुवर्णानां माणिक्यानां च भरं समूहम् । तुर्ये—चतुर्थे, मङ्गले । रथाश्वादि—च । ददौ—समर्पयत्, जामात्रे इति शेषः ॥१२३॥

यावत्करं मुञ्चति नैव पुत्र्या, धवः स तावत्तमुवाच भूपः ।
जामातरद्यापि विमृग्यते य-स्तं देशमादत्स्व विना निदेशम् ॥१२४॥

व्याख्या—पुत्र्याः, करं—हस्तं । धवः—वरः । यावत्, नैव, मुञ्चति, तावत्—तदवध्येव । भूपः—राजा । तं—वरं, मङ्गलकुम्भम् । उवाच, जामातः ! अद्यापि—एतावद्बहुवस्तुदानेऽपि । यः—देशः । विमृग्यते—

अन्विष्यते । तं देशं, विना, निदेशम्–आज्ञाम् । आदत्स्व–गृहाण, इष्टस्य वस्तुनः आदाने तव ममाज्ञायाः न प्रयोजनम्, सर्वं तवैव, अतो यथेष्टं गृहाणेत्यर्थः ॥ २४॥

अथ तस्य स्वेष्टयाचनमाह—देशेति

देशान्निदेशानिव ते निदेश--व्यापारभाजः परिपालयन्तु ।
तान्पञ्च पञ्चाञ्चित ! वल्लभस्य, देशस्य वाहान् दिश मे नरेन्द्र ॥१२५॥

व्याख्या—नरेन्द्र ! ते–तव । निदेशव्यापारभाजः–निदेशः आज्ञा तेन व्यापारं भजन्ति इति ते आज्ञाकारिणः पुरुषाः । निदेशान्–आज्ञा । इव, देशान्–जनपदान् । परिपालयन्तु–न मे तेन प्रयोजनमित्यर्थः, तर्हि किं ते प्रयोजनमित्यत आह । पञ्चाञ्चित–पञ्चसु लोकेषु अञ्चित ! पुरुषश्रेष्ठ ! "स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नराः" इत्यमरः । मे–मह्यं । वल्लभस्य–तदाख्यस्य । देशस्य पञ्च–करणसंख्याकान् । वाहान्–अश्वान् । दिश–यच्छ ॥१२५॥

अथ भूपतेस्तदानमाह—

कियत्त्वया याचितमित्युदित्वा, स भूपतिः पञ्च ददौ तुरङ्गान् ।
प्रसादमासेदुषि मानसेऽस्मि--न्नैवास्त्यदेयं महतां हि किञ्चित् ॥१२६॥

व्याख्या—त्वया, कियद्–अत्यल्पमित्यर्थः । याचितम्, इति–इत्थम् । उदित्वा–गदित्वा । स भूपतिः, पञ्च तुरङ्गान्–वल्लभदेशाश्वान् । ददौ । एतं चोचितमेव अत आह । हि–यतः । महताम्–उदाराणाम् । अस्मिन्–जामातरि, विषये । मानसे–चेतसि । प्रसाद–प्रसन्नताम् । आसेदुषि–प्राप्नवति सति । नैव किञ्चिद्वस्तु अदेयम् अस्ति–सर्वं देयमेव भवतीति भावः ॥ २६॥

अथ दासीवचनश्रवणमाह—विवाह्येति

विवाह्य तां मङ्गलकुम्भ एवं, समाश्रयद्वासगृहं स यावत् ।
तावद्भुजिष्याभिरुदीर्यमाणाः, स्वयं समाकर्णयति स्म वाचः ॥१२७॥

व्याख्या—सः, मङ्गलकुम्भः, तां–त्रैलोक्यसुन्दरीं । विवाह्य–परिणीय । यावद्, वासगृहं, समाश्रयत्–अधितस्थौ । तावत्–तदवध्येव । भुजिष्याभिः–दासीभिः । उदीर्यमाणाः–उच्चार्यमाणाः । एवं–वक्ष्यमाणप्रकाराः । वाचः–वचांसि । स्वयम्–आत्मनैव । समाकर्णयति स्म–अश्रौषीत् ॥१२७॥

अथ किमशृणोदित्याह—

निर्गम्यतां साम्प्रतमेष गेहात्, प्रयोजनं नः परिपूर्णमेव ।
सख्यः क्षणं तिष्ठतु स प्रतिष्ठः, प्रवर्त्तते यावदिदं तमोऽपि ॥१२८॥

व्याख्या—**एषः**—कुमारः । **गेहात्, साम्प्रतम्**—अधुना । **निर्गम्यतां**—निःसार्यताम्, यतः । **नः**—अस्माकं । **प्रयोजन**—विवाह्य कन्याग्रहणरूपं, कार्यम् । **परिपूर्णं**—सिद्धमेव, अतोऽधुनानेन न प्रयोजनं किञ्चिदिति, किमर्थं, **सः तिष्ठतु** ? अथपरा आह । **सख्यः** !—सहचर्यः । **सः**—कुमारः । **प्रतिष्ठः**—यथास्थित एव । **क्षणं**—किंचित्कालं । **तिष्ठतु, यावद्, इदं तमः**—अन्धकारः । **प्रवर्त्तते**—भवति, अन्धकारेऽस्य विसर्जनं वरम्, आलोके तु केनचिद् दृष्टे रहस्यभङ्गसम्भावनेति ॥१२८॥

अथ मङ्गलकुम्भस्य स्वतः एव गेहाद्विनिर्गमनमाह—तासामिति—

तासां गिरः कर्णपथं स नीत्वा, विमृश्य चित्तेन निमेषमात्रम् ।
शरीरचिन्तामिषतोऽभिमानी, विनिर्ययौ वासगृहात् सवेगम् ॥१२९॥

व्याख्या—**तासां**—भुजिष्याणां । **गिरः**—वचांसि । **कर्णपथं, नीत्वा**—श्रुत्वेत्यर्थः । **चित्तेन**—मनसा । **निमेषमात्रं**—क्षणं । **विमृश्य**—विचार्य । **सः, अभिमानी**—अभिमानधनः । **शरीरचिन्तामिषतः**—शरीरचिन्तायाः प्रस्रवणादेः मिषतः व्याजात् । **वासगृहात्, सवेगं**—झटिति । **विनिर्ययौ**—विनिर्गतवान् ॥१२९॥

अथ त्रैलोक्यसुन्दर्याः तदनुसरणमाह—सुवर्णेति—

सुवर्णपात्रं सलिलैः प्रपूर्णं, स्वपाणिनादाय नरेन्द्रकन्या ।
तमन्वयासीद्रभसाद् रसोत्का, संपद्यथैव व्यवसायभाजम् ॥१३०॥

व्याख्या—**नरेन्द्रकन्या**—त्रैलोक्यसुन्दरी । **रसोत्का**—रसेनानुरागेण उत्का उत्सुका, सती । **स्वपाणिना**—निजकरेण । **सलिलैः, प्रपूर्णं, सुवर्णपात्रम्, आदाय, तं**—मङ्गलकुम्भं । **व्यवसायभाजम्**—उद्योगिनं । **संपत्**—लक्ष्मीः । **यथैव**—तथैव । **रभसाद्**—वेगेन । **अन्वयासीत्**—तदनुप्राचलत्, अनुजगाम ॥१३०॥

अथ कन्यायाः जिज्ञासामाह—वितत्येति—

वितत्य किञ्चित्किल देहचिन्ता—मेतं वधूरुन्मनसं समीक्ष्य ।
ब्रूते स्म किं नाथ! विबाधते त्वा—मारोग्यसम्पातकरी बुभुक्षा ॥१३१॥

व्याख्या—**किञ्चित्**—किमपि । **देहचिन्तां**—शरीरचिन्तां । **वितत्य**—समाप्य । **किले**—त्यलीके । **उन्मनसं**—उत्कंठितं "स्यादुत्क उन्मनाः" इत्यमरः । व्याकुलचित्तं वा । **एतं**—कुमारं । **समीक्ष्य**—विलोक्य । **वधूः**—सा त्रैलोक्यसुन्दरी स्त्री । **ब्रूते स्म**—अवोचत् । **नाथ !**—स्वामिन् ! त्वाम्, **आरोग्यसम्पातकरी**—आरोग्यस्य स्वस्थतायाः सम्पातः विनाशः तत्कर्त्री स्वास्थ्य अस्वस्थकारिणी । **बुभुक्षा**—भोक्तुमिच्छा । **विबाधते**—पीडयति, क्षुधा बाधते । **किमिति**—प्रश्ने । अन्यथा कुतः शून्यचित्तो लक्ष्यसे इति भावः ॥१३१॥

अथाहारानयनमाह—**अभाषेति**

अभाषमाणे दयिते वधूटी, चेटीं समादिश्य पटीरवासा ।
स्थालं समानाययति स्म चेतः--प्रमोदकैर्मोदककैः प्रपूर्णम् ॥१३२॥

व्याख्या—**दयिते**—प्रिये । **अभाषमाणे**—किञ्चिदवदति सति 'मौनं स्वीकारलक्षणमि' ति मत्त्वा । **पटीरवासाः**—पटीरस्य क्षौमस्य वासः यस्याः सा पटं वसाना । **वधूटी**—युवती, त्रैलोक्यसुन्दरी । **चेटीं**—दासीं । **समादिश्य**—आज्ञाप्य । **चेतःप्रमोदकैः**—चेतसो मोदजनकैः । **मोदककैः**—लड्डूकादिभिः । **प्रपूर्णं, स्थालं**—भोजनपात्रं । **समानाययति स्म**—आनीनयत्, भोजनायेति शेषः ॥१३२॥

अथ तयोर्भोजनमाह--**ताभ्यामिति**

ताभ्यामुभाभ्यामपि मोदकास्ते, निष्कृत्रिमप्रेमसमन्विताभ्याम् ।
एकत्र पात्रे घनसारसारै--रिवाहिता हर्षभरेण भुक्ताः ॥१३३॥

व्याख्या—**निष्कृत्रिमप्रेमसमन्विताभ्यां**-निष्कृत्रिमं सहजं यत्प्रेम प्रीतिः तेन समन्विताभ्यां युक्ताभ्यां । **ताभ्यामुभाभ्यां**—मङ्गलकुम्भत्रैलोक्यसुन्दरीभ्यामपि । **एकत्र**—एकस्मिन् । **पात्रे**—स्थाले । **घनसारसारैः**—कर्पूरक्षोदैः । **आहिताः**—पूर्णाः । **इव**—विहिता इव वा । **ते**—आनीताः । **मोदकाः, हर्षभरेण**—अतिहर्षेण । **भुक्ताः**—स्वादिताः ॥१३३॥

अथ स्वजनपदबोधनायोद्योगमाह--**आस्वेति**

आस्वादमास्वादयतेव तेषा--मस्या निजस्थानविबोधनाय ।
तेनेन्दुखण्डैरिव निर्मितानां, सौन्दर्यमादर्शयतेत्यवादि ॥१३४॥

व्याख्या--इन्दुखण्डैः--कर्पूरशकलैरिव । निर्मितानां--विहितानां । तेषां--मोदकानाम् । आस्वादं--रसम् । आस्वादयता, इव, सौन्दर्यम्--आस्वादचारुत्वम् । आदर्शयता--प्रकटयता इव । तेन--मङ्गलकुम्भेन । निजस्थानविबोधनाय इति--पुरः प्रदर्श्यमानम् । अवादि--ऊचे ॥१३४॥

अथ मङ्गलकुम्भोक्तिमाह--स्यादिति

स्याच्चेद्विशालासलिलं कथञ्चि--त्तन्मोदकाः मानसमोदकाः स्युः ।
द्राक्षारसोत्पादितपानकान्तःसितापरिक्षेपनिदर्शनं च ॥१३५॥

व्याख्या--द्राक्षारसोत्पादितपानकान्तःसितापरिक्षेपनिदर्शनं च--द्राक्षा मृद्वीका 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे' त्यमरः । तासां रसेन उत्पादितं निर्मितं यत्पानकं पेयं तदन्तः तन्मध्ये सितायाः परिक्षेपः न्यासः निदर्शनं दृष्टान्तः यस्य तद् । विशालायाः--तदाख्यनगर्याः । सलिलं--जलं । चेत् स्यात्--यदि भवेत् । तत्--तर्हि । कथञ्चित्--सादृश्यं प्राप्य मानसस्य चित्तस्य मोदकाः हर्षकाः--मानसमोदकाः, मोदकाः, स्युः--भवेयुः, नान्यथा, विशालाजलस्यैव तादृशास्वादसमर्पकत्वादिति भावः ॥१३५॥

अथ कन्याया वितर्कमाह- तदिति

तद्भाषिताकर्णनतो धरित्री--धवस्य पुत्री परिविस्मिता सा ।
विचिन्तयामास किमार्यपुत्रो--ऽप्यबद्धमेतन्निजगाद विद्वान् ॥१३६॥

व्याख्या - तद्भाषिताकर्णनतः--तस्य मङ्गलकुम्भस्य भाषितस्य आकर्णनतः श्रवणात् । धरित्रीधवस्य--भूपतेः । पुत्री, सा--त्रैलोक्यसुन्दरी । परिविस्मिता--आश्चर्यिता सती । विचिन्तयामास--दध्यौ, किमित्याह । विद्वानपि--धीमानपि । आर्यपुत्रः--भर्त्तापि । किमेतद्, अबद्धम्--असम्बद्धम् । निजगाद--उवाच, विदुषः असम्बद्धोक्तौ केनापि कारणेन भवितव्यमिति भावः ॥१३६॥

ननु कुतोऽबद्धं तदित्याशंकानिवृत्त्यर्थमेतत्पुरस्थेनैव पुंसा सहाहं परिणीतेतिभ्रान्तबुद्धिमती त्रैलोक्य-सुन्दरी स्वविचारं प्रदर्शयति--एतस्येति

एतस्य जन्मास्पदमेषिका पू--रितो विशालानगरी दविष्ठा ।
एतज्जनन्या जनकस्य पस्त्यं, प्रशस्तमास्ते ध्रुवमेव तत्र ॥१३७॥

व्याख्या—एतस्य—मम पत्युः। जन्मास्पदं—जन्मस्थानम्। एषिका—एषा साक्षादृश्यमाना। चम्पा पुः—नगरी। विशाला नगरी—उज्जयिनी पुरी, "उज्जयिनी स्याद् विशालाऽवन्ती पुष्पकरण्डिनी" ति हैमः। इतः—अस्याः चम्पानगर्याः। दविष्ठा—दूरतरा, ततश्च कुतो विशालासलिलपरिचयोऽस्य, न तदनुभवसंभवः। ननु नह्यनुभूतपूर्वमेवं कश्चिद् ब्रूते, ततश्च केनापि हेतुना तदनुभवेनावश्यं भाव्यमिति वितर्क्य तत्कारणं निश्चिनोति। तत्र—विशालानगर्याम्। एतस्य—मम पत्युः। जनन्याः—मातुः। जनकस्य—पितुः। प्रशस्तम्—उत्तमम्। पस्त्यं—गृहं। ध्रुवं—निश्चयमेव। आस्ते—वर्त्तते। एवं च तत्रोत्पद्यमानस्यैतस्य तदनुभवः शक्यः, निमित्तान्तरासंभवादिति भावः ॥१३७॥

अथ तस्मै तस्यास्ताम्बूलदानमाह—निर्णीयेति—

निर्णीय बुद्ध्येति लवङ्गपूग-कर्पूरपूरेण विमिश्रितं सा।
ताम्बूलमस्मै प्रददे नरेन्द्र-कन्या मनोरागमिव स्वकीयम् ॥१३८॥

व्याख्या—इति—पूर्वोक्तप्रकारेण। बुद्ध्या, निर्णीय—निश्चित्य। सा—नरेन्द्रकन्या, त्रैलोक्यसुन्दरी। लवङ्गपूगकर्पूरपूरेण—लवङ्गं देवकुसुमं "लवङ्गं देवकुसुमं" इति हैमः, पूगः गूवाकः 'पूगे क्रमुकगूवाकौ' इति हैमः। कपूरश्चैतेषां पूरेणौघेन। विमिश्रितं—समन्वितं। ताम्बूलं, स्वकीयं—निजं। मनोरागम्—अनुराग मिव, अस्मै—मङ्गलकुम्भाय। प्रददे—दत्तवती ॥१३८॥

अथ मङ्गलकुम्भस्योज्जयिनीगमनमाह—शरीरेति—

शरीरचिन्ताकपटेन धीमान्, वासालयादेष विनिर्जगाम।
आदाय पञ्चापि तुरङ्गमाँस्तान्, क्रमात्पुरीमुज्जयिनीं जगाम ॥१३९॥

व्याख्या—धीमान्, एषः—मङ्गलकुम्भः। शरीरचिन्ताकपटेन—शरीरचिन्तायाः कपटेन व्याजेन। वासालयाद्—वासगृहाद्। विनिर्जगाम—निर्गतः। तान्—करपरिमोचने प्राप्तान्। पञ्च अपि तुरङ्गमान्, आदाय, क्रमात्, उज्जयिनीं, पुरीं जगाम—प्राप्तः ॥१३९॥

यत्रान्धकोऽसौ धृतराष्ट्र एव, पङ्गुः प्रतीतोऽरुण एव कामम्।
मनुष्यधर्मा स परं कुबेरः, काणः पुनर्भार्गव एक एव ॥१४०॥

व्याख्या—यत्र—उज्जयिन्यां। असौ—निकृष्टः। अन्धकः—लोचनविहीनः। धृतराष्ट्रः—कौरवः दुर्योधनपिता एव, नान्यः। पङ्गुः—खञ्जः। अरुणः—काश्यपिः सूर्यसारथिः। एव—नान्यः। परं—तथा।

मनुष्यधर्मा, सः—प्रसिद्धः । कुबेरः—यक्षराज एव, नान्यः, अन्यस्तु सर्वो देवधर्मैवेत्यर्थः । "मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाधिपः" इत्यमरः । पुनः, काणः—एकाक्षः । एकः—केवलं । भार्गवः—शुक्रः । एव—नान्यः । कामं—निश्चयेन । प्रतीतः—प्रसिद्धः, तस्यां नगर्याम् अन्धः पङ्गुः काणः पामरश्च कोऽपि नासीदिति भावः । अत्र अप्रश्नतोऽपि धृतराष्ट्रादेरन्यस्यान्धादेर्व्यवच्छेद इति परिसंख्यालङ्कारः । तल्लक्षणं

यथा—"प्रश्नादप्रश्नतो वापि, कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।
नादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥
"परिसंख्या"

अत्र चार्थः अन्यस्यान्धादेर्व्यवच्छेदः ॥१४०॥

अथ तं दृष्ट्वा पित्रोर्मोदमाह—समागतमिति—

समागतं तं पितरौ समीक्ष्य, प्रमोदमासेदतुरञ्जसापि ।
गाढं समालिंग्य चुचुम्बतुस्त-च्छिरोऽम्बुजं षट्पददम्पतीव ॥१४१॥

व्याख्या—पितरौ—माता-पितरौ । तं—मङ्गलकुम्भं । समागतं, समीक्ष्य, अञ्जसा—शीघ्रमेव । प्रमोदं—प्रहर्षम् । आसेदतुः—प्रापतुः । तथा गाढं समालिंग्य, तच्छिरोऽम्बुजं—तस्य मङ्गलकुम्भस्य शिरः मस्तकमेवाम्बुजं तत् । षट्पददम्पती—षट्पदौ भ्रमरौ च तौ दम्पती जायापती च तौ । व—इव, 'व वा-यथा-तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः । नत्विवशब्दोऽत्र तथा सति दम्पतीशब्दस्य द्विवचनान्तत्वेनासन्ध्यापत्त्या वृत्तभङ्गापत्तेः । चुचुम्बतुरपि—पित्रोः पुत्रपरिचुम्बनं स्नेहात् स्वाभाविकमिति भावः ॥१४१॥

अथ तयोर्हर्षादुत्सवकरणमाह—महामहमिति—

महामहं जन्मदिने तदीयं, (ये) यं चक्रतुस्तौ सुतरां प्रहृष्टौ ।
तस्यागमे तं विहितावशिष्ट-मिवादधाते स्म ततोऽप्यनल्पम् ॥१४२॥

व्याख्या—सुतरां—पुत्रागमेनात्यन्तं । प्रहृष्टौ, तौ—मातापितरौ । तदीये—मङ्गलकुम्भस्य । जन्मदिने, यं, महामहं—महोत्सवं, 'मह उद्धव उत्सव' इत्यमरः । चक्रतुः, तस्य, आगमे—आगमने सति । विहितावशिष्टं—विहितात् कृतादवशिष्टं शेषीभूतमिव । ततः—कृतादपि । अनल्पम्—अधिकं । तं—महोत्सवं । विदधाते—कुरुतः, स्म । एतेन महान् प्रहर्षः सूच्यते ॥१४२॥

अथ पितृभ्यां वृत्तनिवेदनमाह—वृत्तमिति—

वृत्तं यथावृत्तमथ स्वकीयं, निवेद्य पित्रोः प्रतिपत्तिपूर्वम् ।
अनीनहत्तानपि पञ्च वाहान्, हर्म्ये विनिर्माय स वाजिशालाम् ॥१४३॥

व्याख्या—**अथ**—अनन्तरं, वृत्तमनतिक्रम्य । **यथावृत्तं**—यथाजातं । **स्वकीयं**—नैजं । **वृत्तम्**—उदन्तम्, 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यादि' त्यमरः । **निवेद्य**—कथयित्वा । **सः**—मङ्गलकुम्भः । **पित्रोः**—मातापित्रोः । **प्रतिपत्तिपूर्वं**—ज्ञापनपूर्वकं स्वीकृत्य । **हर्म्ये**—आवासे । **वाजिशालां**—मन्दुरां 'वाजिशाला तु मन्दुरेत्यमरः' । **निर्माय, तान्**-आनीतान्, वल्लभदेशीयान् । **पञ्चापि वाहान्**—अश्वान् । **अनीनहद्**—बध्नाति स्म ॥१४३॥

अथ तस्य विद्याध्ययनोद्योगमाह—विद्येति—

विद्याविहीनस्य नरस्य पुंस्त्वं, तिर्यक्त्वमेव प्रकटीकरोति ।
इति स्वचित्ते प्रतिपद्य विद्या-भ्यासाय यत्नं स दृढीचकार ॥१४४॥

व्याख्या—**विद्याविहीनस्य**—मूर्खस्य । **नरस्य, पुंस्त्वं**—पुरुषता । **तिर्यक्त्वं**—पशुत्वमेव । **प्रकटीकरोति**—प्रकाशयति 'ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समाना' इत्युक्तेरिति भावः । **इति**—इत्थं । **स्वचित्ते, प्रतिपद्य**—विचार्य । **सः**—मङ्गलकुम्भः । **विद्याभ्यासाय, यत्नम्**—उद्योगं । **दृढीचकार**—दृढं यत्नमकार्षीदित्यर्थः । एतेनात्युत्साहः सूचितः ॥१४४॥

वाग्वैभवलाभाय विद्याध्ययनमावश्यकमित्याह—वागिति

वाग्वैभवं केवलमेव तज्ज्ञाः, पुंस्त्वे निदानं परमामनन्ति ।
साध्यस्य सिद्धिं हि विधित्सतादौ, तत्साधनं साधनमेव साध्यम् ॥१४५॥

व्याख्या—**तज्ज्ञाः**—विशेषज्ञाः । **पुंस्त्वे**—नरत्वे । **केवलम्**—एकं । **वाग्वैभवं**—वाक्पटुत्वमेव । **परम्**—उत्कृष्टं । **निदानं**—हेतुम् । **आमनन्ति**—मन्यन्ते । ननु तर्हि तत्साधनायैव प्रथमं यत्नः कार्यः, किमिति विद्याध्ययनाय प्रायततेति चेन्न, तदाह । **हि**—यतः । **साध्यस्य**—उद्देश्यस्य । **सिद्धिं**—प्राप्तिं । **विधित्सता**—कर्त्तुमिच्छता । **आदौ**—प्रथमं । **तत्साधनम्**—उद्देश्यहेतुं । **साधनं**—सामग्रीभूतं, वस्तु । **एव, साध्यं**—सम्पाद्यम् । एवञ्च वाग्वैभवसाधनसाधनं विद्यैव, ननु प्रकारान्तरमिति तदध्ययनायैव यत्नं चकारेत्यर्थ ॥१४५॥

अथ तस्य विद्याऽऽदानमाह—अध्यापकेति—

अध्यापकस्याखिलवेदविद्या-क्षीरोदसामीप्यमवाप्य तूर्णम् ।
ततः स पीताब्धिरिव प्रकृत्या, विद्यामृतं तच्चुलुकीचकार ॥१४६॥

व्याख्या—अध्यापकस्य-शिक्षकस्य गुरोः । अखिलवेदविद्याक्षीरोदसामीप्यम्-अखिलाया वेदादि-विद्यायाः क्षीरोदस्य सागरस्य सामीप्यमन्तेवासित्वम् । अवाप्य-प्राप्य । सः-मङ्गलकुम्भः । ततः-अध्यापक-सकाशात् । तूर्णं-स्वल्पेनैव कालेन, एतेन तस्यासाधारणप्रतिभावत्त्वं सूचितम् । पीताब्धिरिव-पीतः अब्धिः सागरः येन स अगस्त्य इव, "अगस्त्योगस्तिः पीताब्धिः" इति हैमः । प्रकृत्या-सहजत एव । विद्यामृतं-विद्या एवामृतं जलं । तत् चुलुकीचकार-यथा अगस्त्यः सागरं चुलुके कृत्वा पीतवान् तथा स विद्यामृतं पीतवान् ॥१४६॥

अथत्रैलोक्यसुन्दरीवृत्तमाह—अथेति—

अथावनीवासवनन्दिनी सा, त्रैलोक्यसुन्दर्यपि सुप्रबुद्धा ।
पार्श्वे शयानं सचिवस्य पुत्रं, विलोक्य वैलक्ष्यविलक्षणास्या ॥१४७॥
अपास्य तं दुष्टरुजाभिभूतं, भूतार्त्तवद्वासगृहान्निरीय ।
दासीव दासीजनसन्निधाने, निशां कथञ्चिद् गमयाम्बभूव ॥१४८॥

व्याख्या—अथ-मङ्गलकुम्भगमनान्तरम् । अवनीवासवनन्दिनी-अवनीवासवस्य महीन्द्रस्य नन्दिनी पुत्री । सा-त्रैलोक्यसुन्दरी । अपि, सुप्रबुद्धा-अपास्तनिद्रा सती । पार्श्वे-समीपे । सचिवस्य, पुत्रं, शयानं, विलोक्य-वैलक्ष्येण वैरस्येन विलक्षणं विवर्णमास्यं मुखं यस्याः सा वैलक्ष्यविलक्षणास्या-निर्वेदोदस्तमुखा सती । दुष्टरुजाभिभूतं-दुष्टया रुजया कुष्ठाख्येन रोगेण अभिभूतमाक्रान्तं । तं-सचिव-पुत्रं मङ्गलकुम्भवेषधारिणम् । अपास्य-त्यक्त्वा । भूतार्त्तवत्-भूताविष्टवत् । वासगृहात्, निरीय-निर्गत्य । दासीजनसन्निधाने, दासी इव-दीना । कथञ्चित्-महता कष्टेन । निशां-रात्रिं । गमयाम्बभूव-व्यतीयाय ॥१४७ १४८॥

अथ सचिवस्य भूपच्छलनमाह - सेवेति-

सेवागतो मन्त्र्यपि भूमिपालं, व्याजिज्ञपद्विज्ञतमः प्रभाते ।
तादृक्सुरूपोऽपि सुतोऽभवन्मे, त्वदङ्गजासंगवशेन रुग्णः ॥१४९॥

व्याख्या— विज्ञतमः—मन्त्री । अपि, प्रभाते, सेवागतः—सेवार्थमागतः सन् । भूमिपालं, व्यजिज्ञपत्—निवेदयति स्म, किमित्याह—तादृक्—लोकविलक्षणः । सुरूपोऽपि—सुन्दरः अपि । मे—मम । सुतः—पुत्रः । त्वदङ्गजासङ्गवशेन—त्वदङ्गजायाः त्वत्पुत्र्याः संगवशेन । रुग्णः—रुग्णः व्याधितः । अभवत्—एवं च तव पुत्री मितरां कुलक्षणेति एष सम्बन्धो मम अनर्थायैव जातः इति भावः ॥१४६॥

ननु व्याधेः प्रतीकारो विधेयः, सर्वस्यैव हि व्याधिर्भवति, न त्वत्र सम्बन्धदोष एव कारणमिति चेत्तत्राह—

तदिति—

तत् कं प्रतीकारमहं प्रकुर्वे, कस्याग्रतो वच्म्यसमाधिमेतम् ।
श्रुत्वेति देवीमनुजेश्वराभ्यां, निवारिता दृष्टिपथात् क्रुधा सा ॥१५०॥

व्याख्या—तत्—तस्माद्, रुग्णाद्धेतोः । कं—किन्नामानं । प्रतीकारं—चिकित्साम् । अहं, कुर्वे—न जानामि तस्य प्रतीकारम्, न च तत्प्रतीकारसंभवः, रोगस्यासाध्यत्वादिति भावः । नन्वन्येन भिषज-चिकित्सा कारयितव्येति चेत्तत्राह । कस्य—भिषगादेः । अग्रतः, असमाधिम्—अचिकित्स्यम् । एतं—रोगं, वृत्तान्तं च । वच्मि—राजपुत्र्याः संगवशात् मम पुत्रो रुग्णो जात इति कथं राज्ञः कलङ्ककरं वचनं वचनीयम्, तस्मादसमाधिरेवायं रोग इति न मम मन्दभाग्यस्य किमपि शरणमिति भावः । इति—इत्थं, मन्त्युक्तं । श्रुत्वा देवीमनुजेश्वराभ्यां—महिषीराजभ्यां । क्रुधा—एषा । सा—त्रैलोक्यसुन्दरी । दृष्टिपथात्—अक्ष्णामग्रतः । निवारिता—दूरीकृता, न त्वया ममाग्रे आगन्तव्यमित्यर्थः ॥१५०॥

अथान्यद्वारेण त्रैलोक्यसुन्दरीकृतस्ववृत्तनिवेदनमाह—राजन्येति—

राजन्यसिंहं निजगाद सिंहं, विज्ञापनायै जनकस्य राज्ञः ।
क्रुद्धस्य नेतुः पुरतः सुतेन, गन्तुं न शक्यं सुतया न चापि ॥१५१॥

व्याख्या—सा दृष्टिपथान्निवारिता त्रैलोक्यसुन्दरी । जनकस्य—पितुः । राज्ञः—शासकस्य । विज्ञापनायै—निवेदनाय । राजन्यसिंहं—राजन्येषु क्षत्रियपुत्रेषु सिंह इव, एतेन तस्य महापराक्रमवत्त्वं च सूचितम् । सिंहं—तन्नामानं राजपुरुषं । निजगाद—कथयामास, ननु स्वत एव किमिति न निवेदयामास इत्यत आह । क्रुद्धस्य—क्रोधमाप्तस्य । नेतुः—शासकस्य, जनकस्य सतोऽपि । पुरतः—अग्रे । सुतेन—पुत्रेण । गन्तुं न शक्यम्, न चापि सुतया—पुत्र्या, साक्षादवलोकने क्रोधाधिक्यसंभवाद् भयाच्चेति भावः ॥१५१॥

सिंहस्य विज्ञापनयैव राज्ञा-ऽऽहूता सुता व्यज्ञपयत् स्ववाचा ।
पुंवेषमाश्रित्य तवाज्ञयेत्वा-वन्तीं च जामातरमानयामि ॥१५२॥

व्याख्या—सिंहस्य—तदाख्यराजपुरुस्य । विज्ञापनया—निवेदनेन कृत्वा । एव राज्ञा, आहूता, सुता—पुत्री त्रैलोक्यसुन्दरी । स्ववाचा—न त्वन्यद्वारेण, समक्षस्थितस्य स्वयमेव विज्ञापनौचित्यादिति भावः । व्यज्ञपयत्—किमित्याह । तव, आज्ञया, पुंवेषं—पुंसः वेषम् रूपम् । आश्रित्य—कृत्वा । अवन्तीं—तदाख्यनगरीं । इत्वा—गत्वा । च जामातरं—त्वत्पुत्रीपतिम् । आनयामि—आनेष्ये, मन्त्रिपुत्रस्तु न तव जामाता, किन्तु मन्त्रिणा छलितस्त्वमिति भावः ॥१५२॥

ननु अस्य मन्त्रिपुत्रस्य कथं न जामातृत्वमिति चेत्तत्राह—आकस्मिकीति—

आकस्मिकी कुष्ठरुजा शरीरे, ज्वरादिवन्नैव भवेन्नराणाम् ।
शापेन कस्यापि मुनेर्यदि स्या-त्तथापि पूतिव्रणसंश्रिता न ॥१५३॥

व्याख्या—नराणां, शरीरे, ज्वरादिवत्—तापादिवत्, यथा ज्वरादिः केनापि हेतुना सद्य एव जायते तथेत्यर्थः । आकस्मिकी—कारणं विना । कुष्ठरुजा—कुष्ठाख्यो रोगः । नैव भवेत् । यदि कस्यापि मुनेः शापात्—आक्रोशात् । स्याद्—भवेदपि आकस्मिकी सा । तथापि, पूतिव्रणसंश्रिता—पूत्या पूयेन व्रणेन च संश्रिता युक्ता । न—नैव भवेत् । एकरात्रेणैवेति शेषः । एवं च तादृशकुष्ठरोगस्य एकरात्रेणासम्भवात् । पूर्वत एवायं कुष्ठरोगी, न तु मम संगादिति नायं तव जामाता, तस्य तादृशरोगानुपहत्वादिति भावः ॥१५३॥

स्वल्पकालेनैव मन्त्रिकपटस्योद्घाटनं भवितेत्याह—दुर्वृत्तेति—

दुर्वृत्तमेतत्सचिवस्य सर्वं, कियच्चिरं स्थास्यति संवृतं वा ।
अन्तर्दधाने नहि पुण्यपापे, सुगन्धदुर्गन्धवदावृते च ॥१५४॥

व्याख्या—एतत्सर्वं—सम्पन्नं । सचिवस्य, दुर्वृत्तं—दुराचरणं । वा कियच्चिरं—कियत्कालं । संवृतं—गुप्तं । स्थास्यति—शीघ्रमेवोद्घाटितं भविष्यतीति भावः । हि—यतः । पुण्यपापे—धर्माधर्मौ । अन्तर्दधाने—तिरोहिते । सुगन्धदुर्गन्धवद्, आवृते—आच्छादिते । च, न—नैव तिष्ठतः, अतोऽवश्यं प्रकटितं स्यादिति भावः ॥१५४॥

अत्र च विषये देव एव प्रमाणमित्याह—पुण्यैरिति—

पुण्यैर्ममायं घटितश्चिरत्नै-स्तेषां द्विषत्त्वं सहसा कथं स्यात् ?
दिगीशवृन्दांशभवः प्रभुर्वा, स्वयं विचारं कुरुतां विचारम् ॥१५५॥

व्याख्या—अयं—प्रस्तुतः वृत्तान्तः । मम चिरत्नैः—पूर्वोपार्जितैः । पुण्यै—कर्मभिः । घटितः—समापतितः । सहसा—अकस्मादेव । तेषां—मन्त्र्यादीनाम् । द्विषत्त्वं—मयि शत्रुत्वं । कथं स्यात्—कथं भवेत् ? नह्यकारणं किञ्चिद्भवतीति भावः । वा—अथवा । दिगीशवृन्दांशभवः—दिगीशवृन्दानाम् इन्द्रादिदिक्पालानामंशै तेजोभिः भव उत्पन्नः । प्रभुः—राजा भवान् । स्वयं—स्वत एव । विचारं—विशिष्टः चारः गूढपुरुषः यस्मिन् तद्यथा स्यात्तथा, चारपुरुषं नियोज्येत्यर्थः "चारश्च गूढ़पुरुषः" इत्यमरः । विचारं कुरुताम्—युक्तायुक्तत्वे पश्यतु, नहि मत्सदृशी कापि अबला सहसा दण्डनीयेति भावः ॥१५५॥

सम्प्रति स्वोक्तमुपसंहरति—नरेन्द्रेति—

नरेन्द्र ! तन्मां विसृज प्रसादं, सृज त्यजाकारणकोपमेतम् ।
पश्चादपि क्रोधफलं मयि त्वं, प्रभो ! न किं दर्शयितुं प्रभुः स्याः ? ॥१५६॥

व्याख्या—नरेन्द्र ! तत्—तस्माद्धेतोः । मां, विसृज—गमय । प्रसादं—मयि अनुग्रह । सृज, एतं—वर्त्तमानम् । आकरणकोपं, त्यज, मयि—न किमपि कोपकारणमिति भावः । प्रभो !—राजन् ! पश्चादपि—अवन्त्यागमनानन्तरमपि । क्रोधफलं, दर्शयितुं—दण्डयितुमित्यर्थः । त्वं प्रभुः—समर्थः । न स्याः किम् ?—अपि तु अवश्यं स्याः । ततश्च केवलं सचिवोक्त्या नाहं दण्डनीया, किन्तु परीक्ष्यैवाहं दण्डनीया, अन्यथाऽन्यायसम्भवादिति साम्प्रतं तव कोपत्याग एवोचित इति भावः ॥१५६॥

अथ तस्या अवन्तीप्रस्थानमाह—आज्ञेति—

आज्ञापितस्तत्क्षणमेव राज्ञा, प्रदाय शिक्षां द्रविणं चमूं च ।
प्रत्यर्थिदन्ताबलभेदसिंह-स्तया समं प्रास्थित सोऽपि सिंहः ॥१५७॥

व्याख्या- राज्ञा—सुरसुन्दरेण । तत्क्षणम् एव, शिक्षां—कालोचितोपदेशम् । द्रविणं—मार्गव्ययार्थं धनम् । चमूम्—रक्षणाय सेनां । च प्रदाय, आज्ञापितः, प्रत्यर्थिदन्ताबलभेदसिंहः—प्रत्यर्थिनः शत्रव एव दन्ताबला हस्तिनः 'दन्ती दन्ताबलो हस्ती' इत्यमरः । तेषां भेदे विदारणे सिंह इव । सः, सिंहः—

तदाख्यराजपुरुषः। अपि, तया—त्रैलोक्यसुन्दर्या। समं—सह। प्रास्थित—प्रस्थानमकरोत्, सत्यासत्यत्व-निरीक्षणाय साहाय्याय चेति भावः ॥१५७॥

अथ वरलाभे साधनसम्पत्तिमाह—समुत्सुकमिति—

समुत्सुकं तन्मन एव पूर्वं, सिंहस्ततः क्षोणिभुजा प्रणुन्नः।
ततोऽपि कामः प्रगुणीकृतेषु--स्ततो वरं सा लभतां न किं स्वम् ॥१५८॥

व्याख्या—पूर्वं—प्रथमं। समुत्सुकं—सोत्कण्ठम्, प्रसन्नमिति यावत्, मनः प्रसादस्य कार्यसिद्धि-सूचकत्वादिति भावः। तन्मनः एव—कार्यसिद्धिसूचकमिति शेषः। ततः क्षोणिभुजा—राज्ञा। प्रणुन्नः—प्रेरितः। सिंहः—द्वितीयं साधनम्, योग्यसाहाय्यस्य कार्यसिद्धिनिबन्धनत्वात् इति भावः, न केवलं लौकिकमेव साधनं किन्तु दिव्यमपीत्याह। ततः प्रगुणीकृतेषुः—प्रगुणीकृता सन्नद्धा इषवः बाणाः येन स तादृशः। कामः—कामदेवः, लोकाद्भुतसौन्दर्यशालित्वात्कामस्तत्स्थः सहाय इति दिव्यसाहाय्यं तृतीयमिति भावः। तत—तस्माद्धेतोः। सा—त्रैलोक्यसुन्दरी। स्वं, वरं—पतिं। किं न लभताम्? अपि त्ववश्यं लभतामित्यर्थः, सहायसम्पत्तेः कार्यसिद्धेरिति भावः ॥१५८॥

अथ राज्ञोऽवस्थामाह--वीरैरिति—

वीरैरनेकैरनुगम्यमानां, प्रस्थाप्य तां भूमिपतिर्गभीरः।
कारीषसंछन्नकृशानुवच्च, प्रच्छन्नकोपः सचिवाधमेऽस्थात् ॥१५९॥

व्याख्या—वीरैः—भटैः। अनेकैः—बहुभिः। अनुगम्यमानां, तां—त्रैलोक्यसुन्दरीं। प्रस्थाप्य—प्रेष्य। गभीरः—धीरः, एतेनावसरज्ञत्वमुक्तम्। भिपतिः, कारीषसछन्नकृशानुवच्च—करीषाणां शुष्कगोमयानां समूहः कारीषं तत्र स छन्नः "तत्त शुष्कं करीषः, तद् गोमयमित्यर्थः" इत्यमरः। आवृतः कृशानुरग्निः, तद्वत्। सचिवाधमे, प्रच्छन्नकोपः—गुप्तरोषः सन्। अस्थात्—स्थितः ॥१५९॥

अथ तस्याः वेषान्तरेणापरिचेयत्वमाह—केनापीति—

केनापि नालक्षि पथि प्रयान्ती, स्त्रीत्वेन सा नृनपि वार्तयन्ती।
नृपेण दत्तं खलु धारयन्ती, पुंवेषमक्षाण्युपवासयन्ती ॥१६०॥

व्याख्या—नृपेण, दत्तं, पुंवेषं, धारयन्ती, अक्षाणि-इन्द्रियाणि । उपवासयन्ती—कृतव्रतपरिग्रहा इत्यर्थः । एतेन स्वकार्यसाधने महान् उद्योगः सूचितः । पथि—मार्गे । प्रयान्ती—गच्छन्ती । नॄन्—पुरुषान् । अपि, वार्त्तयन्ती—भाषमाणा । सा—त्रैलोक्यसुन्दरी । केनापि—पुरुषेण । स्त्रीत्वेन—स्त्रीरियमित्येवं । नालक्षि—न परिचिता । एतेन तस्याः वेषपरिवर्त्तननिपुणतोक्ता, अन्यथा लक्षितत्वस्य संभावनया कार्यविघ्नसंभवादिति भावः ॥१६०॥

अथ मार्गे जनकृततत्सत्कारमाह--समेतीति-

समेति सूनुः सुरसुन्दरस्य, त्यागी गुणी क्षोणिपुरन्दरस्य ।
इति श्रुतिग्राहितया जनौघा, लात्वोपदां द्रष्टुमुपागमंस्ताम् ॥१६१॥

व्याख्या--क्षोणिपुरन्दरस्य—राज्ञः । सुरसुन्दरस्य—चम्पाधिपतेः । त्यागी गुणी—च । सूनुः—पुत्रः । समेति—गच्छति । इति—इत्थं । श्रुतिग्राहितया—श्रुत्वा । जनौघाः—नरवृन्दानि । उपदाम्—उपहारं । लात्वा—आदाय । तां—त्रैलोक्यसुन्दरीं । द्रष्टुम्, उपागमन्—आगतवन्तः । तामुपहारयामासुरित्यर्थः ॥१६१॥

अथावन्तीशकृतसत्कारमाह—अवन्तीति-

अवन्तिदेशाधिपतिर्नरेन्द्रः, पञ्चालदेशाधिपतेः कुमारम् ।
समाव्रजन्तं विनिशम्य चारै-रुपाचरत् संमुखमानदानैः ॥१६२॥

व्याख्या--अवन्तिदेशाधिपतिः—वैरिसिंहाख्य-नरेन्द्रः । चारैः—गूढपुरुषैः । पञ्चालदेशाधिपतेः—पाञ्चालदेशस्थचम्पानगरीनायकस्य सुरसुन्दरनृपस्य । कुमारं, समाव्रजन्तम्—आगच्छन्तं । विनिशम्य—श्रुत्वा । सन्मुखमानदानैः—अभिसंमुखं यानसन्मानादिदानैः । उपाचरत्—समानयत् ॥१६२॥

अथ तत्र तस्य स्थितिमाह—प्रदापित इति-

प्रदापिते मालववासवेना-वासे नरेन्द्रस्य सुतः स तस्थौ ।
दौर्विध्यविच्छेदकराणि यच्छन्, द्विजोत्तमानां द्रविणानि कामम् ॥१६३॥

व्याख्या--मालववासवेन—अवन्तीश्वरेण वैरिसिंहेन । प्रदापिते—समर्पिते । आवासे—शिबिरे । नरेन्द्रस्य—सुरसुन्दरस्य । सुतः—कृतपुंवेषा सुता, सः । द्विजोत्तमानां—ब्राह्मणानां कृते । दौर्विध्यविच्छेद-

कराणि–दौर्विध्यस्य निस्स्वत्वस्य "निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः" इत्यमरः । दुर्भाग्यस्य विच्छेदकराणि अपसारकाणि । **द्रविणानि**–गोहिरण्यादीनि । **यच्छन्**–प्रतिपादयन् । **तस्थौ**–निवासं कृतवान् ॥१६३॥

अथ तस्य स्वपितृदत्ताश्वावलोकनमाह—सरोवर इति–

सरोवरे वारिविसारिपान-हेतोः प्रयातः पितृनामवर्णैः ।
अङ्काञ्चितान् पञ्च तुरङ्गमाँस्ता-न्स एकदाऽपश्यदऽदृश्यदोषान् ॥१६४॥

व्याख्या—**सः**–कृतपुंवेषः, त्रैलोक्यसुन्दरी । **एकदा, सरोवरे**–तडागे । **वारिविसारिपानहेतोः**–वारि जलं च तद्विसारि विस्तृतं निर्मलं च तस्य पानहेतोः, नीरपानार्थमित्यर्थः । **प्रयातः**–आगतान् । **पितृनामवर्णैः, अङ्काञ्चितान्**–चिह्नोपेतान् । **अदृश्यदोषान्**–अत एव शुभलक्षणसम्पन्नान् । **तान्**–प्रसिद्धान् । **वल्लभदेशीयान्** । **पञ्च, तुरङ्गमान्**–अश्वान् । **अपश्यत्**–अवलोकते स्म ॥१६४॥

अथाश्वस्थानान्वेषणमाह—एत इति–

एते तुरङ्गाः प्रविशन्ति यत्र, तत् सद्म सद्मप्रभुनाम मत्वा ।
ब्रूतेत्य मह्यं झटिति स्वभृत्या-नित्यादिशत् सिंहमुखेन सोऽपि ॥१६५॥

व्याख्या—**सः**–कल्पितपुंवेषः त्रैलोक्यसुन्दरी । **अपि, सिंहमुखेन**–सिंहद्वारा । **स्वभृत्यान्**–निज-परिचारकान् । **'एते तुरङ्गाः**–अश्वाः । **यत्र**–गृहे । **प्रविशन्ति**–यान्ति । **तत्, सद्म**–गृहं । **सद्मप्रभु-नाम**–गृहपतेः नाम च । **मत्वा**–ज्ञात्वा । **झटिति**–शीघ्रम् । **ऐत्य**–आगत्य । **मह्यं, ब्रूत**–कथयत । **इति**–इत्थम् । **आदिशत्**–निर्देशं ददौ ॥१६५॥

तथाकृते तैः क्षितिपालसूनु-र्वितत्य सिंहेन समं विचारम् ।
निमन्त्रयामास समं समग्रै-श्छात्रैरुपाध्यायमधीयमानैः ॥१६६॥

व्याख्या—**तैः**–अनुचरैः । **तथाकृते**–तत्सद्म सद्मप्रभुनाम च ज्ञात्वा कथिते सति । **क्षितिपाल-सूनुः**–राज्ञः सुरसुन्दरस्य अपत्यं, सा त्रैलोक्यसुन्दरी । **सिंहेन समं**–सह । **विचारं, वितत्य**–कृत्वा । **समग्रैः**–सकलैः । **अधीयमानैः**–पठ्यमानैः । **छात्रैः**–विद्यार्थिभिः । **समं**–सह । **उपाध्यायं**–शिक्षकं । **निमन्त्रयामास**–भोजनाद्यर्थमाहूतवान्, इत्यर्थः ॥१६६॥

समागतं तं समवेक्ष्य सोऽपि, छात्रेषु सर्वेष्वपि भासमानम् ।
नरेन्द्रपुत्रः परमं प्रमोदं, योगीव लेभे प्रतिभासमानम् ॥१६७॥

व्याख्या—सर्वेष्वपि, छात्रेषु, भासमानं—तेजसा विराजमानं । तं—मङ्गलकुम्भं । समागतं, समवेक्ष्य—विलोक्य । सोऽपि, नरेन्द्रपुत्रः—पुंवेषा त्रैलोक्यसुन्दरी । योगी इव—यथा योगी आत्मसाक्षात्कारेण परमानन्दं विन्दति तथा । प्रतिभासमानम्—उल्लसन्तं । परमं प्रमोदं—हर्षं । लेभे—प्राप ॥१६७॥

अथ मङ्गलकुम्भस्य विस्मयमाह—वणिगिति—

वणिक्कुमारोऽपि कुमारधामा, कुमारमालोक्य विसिष्मिये तम् ।
इयं किमाकल्पविपर्ययेण, प्रिया मदीया समुपागता सा ॥१६८॥

व्याख्या—कुमारधामा—कुमारः कार्त्तिकेयः स इव धाम तेजो यस्य स तादृशः । वणिक्कुमारः—मङ्गलकुम्भः । अपि, तं कुमारं—कृत्रिमराजपुत्रम् । आलोक्य, विसिष्मिये—आश्चर्यितो बभूव । किमाश्चर्यमित्याह । आकल्पविपर्ययेण—वेषपरिवर्त्तनेन "वेषो नेपथ्यमाकल्पः" इति हैमः । इयं—दृश्यमाना । मदीया—मम सा परिणीता । प्रिया, समागता, किम् ? संशयः समानमुखाकृत्यादिदर्शनादिति भावः ॥१६८॥

अथच्छात्रसत्कारमाह—भोज्यैरिति—

भोज्यैर्विचित्रैर्वसनैरनेकै - रमानयच्छात्रजनं समस्तम् ।
यं मङ्गलेऽसौ विदधे विशेषं, तेनैव जज्ञे स च साभ्यसूयः ॥१६९॥

व्याख्या—विचित्रैः—नानाविधैः । भोज्यैः—पक्वान्नादिभिः । अनेकैः वसनैः—वस्त्रैश्च । समस्तं—सर्वमेव । छात्रजनम्, अमानयत्—संमानितवान् । असौ—त्रैलोक्यसुन्दरी । मङ्गले—मङ्गलकुम्भे । यं विशेषम्—अधिकं सत्कारं । विदधे—चकार । तेनैव—हेतुना । सः—छात्रजनः । साभ्यसूयः—परोत्कर्षासहिष्णुः । जज्ञे च—जातवांश्च ॥१६९॥

ताँस्तीर्थयात्रोपगतानिवायं, संमान्य सर्वानपि भाषते स्म ।
आख्यानिकां कोऽपि भवत्सु मेऽग्रे, निजानुभूतां सरसां ब्रवीतु ॥१७०॥

व्याख्या—अयं—त्रैलोक्यसुन्दरी । तीर्थयात्रोपगतान्—तीर्थयात्रया उपगतान् समागतान् । इव, सर्वानपि—तान्, छात्रान् । सम्मान्य—सत्कृत्य । भाषते स्म—अभाषत, किमित्याह । भवत्सु—मध्ये । कोऽपि, निजानुभूतां, सरसां—प्रियाम् । आख्यानिकां—कथां । मे—मम । अग्रे, ब्रवीतु—कथयतु ॥१७०॥

विज्ञप्तिमाकर्ण्य नृपाङ्गजस्य, गुरुर्जगौ तान्प्रति जल्पतेति ।
ते साभ्यसूया जगदुः स एव, वक्ता कथां यत्र कृतो विशेषः ॥१७१॥

व्याख्या—नृपाङ्गजस्य—राजपुत्रस्य, (त्रैलोक्यसुन्दर्याः) । विज्ञप्तिम्—निवेदनम् । आकर्ण्य, गुरुः—उपाध्यायः । तान्—छात्रान् । प्रति—यूयं । जल्पत—ब्रूत । इति—इत्थं । जगौ—आदिष्टवान् । ते, छात्राः, साभ्यसूयाः—समत्सराः, सन्तः । जगदुः, स एव, कथां, वक्ता, यत्र—छात्रे । विशेषः—अधिकसत्कारः । कृतः—विहितः, वयं तु न तथा सत्कृता इति न अस्माभिर्वक्तव्यमिति भावः ॥१७१॥

अथ मङ्गलकुम्भस्य कथाऽऽख्यानमाह—अथेति—

अथ स्वयं मङ्गलकुम्भ एतां, बुद्ध्या विबुध्यात्मवधूमधूतः ।
विवाहमुख्यं सकलं स्ववृत्तं, सिंहादिकानां पुरतो बभाण ॥१७२॥

व्याख्या—अथ, मङ्गलकुम्भः, एतां—पुरतो वर्त्तमानाम् । बुद्ध्या—तर्केण । आत्मवधूं—स्वप्रियां । विबुध्य—ज्ञात्वा । अधूतः—अकम्पितः संशयादिरहितः सन् । स्वयं, सिंहादिकानां, पुरतः—अग्रे । विवाहमुख्यं, सकलं, स्ववृत्तं—निजवृत्तान्तं । बभाण—जगाद ॥१७२॥

अथाध्यापकादेस्ततोऽपसरणमाह—गृह्णीतेति—

गृह्णीत गृह्णीत जवेन चैन-मित्युद्धतं जल्पति राजपुत्रे ।
छात्रैः समं पण्डित एव नष्टः, स काकनाशं कलितात्मभीतिः ॥१७३॥

व्याख्या—एनं—छात्रं । जवेन—शीघ्रं । गृह्णीत गृह्णीत—वीप्सायां द्विरुक्तिः । इति—इत्थम् । उद्धतं—तारस्वरं । राजपुत्रे—पुंवेषायां त्रैलोक्यसुन्दर्यां । जल्पति—भाषमाणे सति । कलिता प्राप्ता आत्मनि भीतिर्येन स कलितात्मभीतिः—भीतः सन् । सः, पण्डितः, छात्रैः समं, काकनाशम्—काको यथा भीत्या नश्यति पलायते तथा । नष्टः—पलायितः । एव—न तु क्षणमपि तत्र तस्थौ, तस्य कथाख्यानेन स्वस्य कुतोऽपि सापराधत्वशङ्केति भावः ॥१७३॥

अथ त्रैलोक्यसुन्दरीकृतोपालम्भमाह—भद्रासन इति—

भद्रासनेऽमुं विनिवेश्य सान्द्र--भद्रार्थिनी राजसुताह सा स्म ।
त्वया कथं नाथ ! तदा विमुक्ता, मुक्ताग्रहारा ननु मन्दभाग्या ॥१७४॥

व्याख्या—अमुं—मङ्गलकुम्भं । भद्रासने—नृपासने, "भद्रासनं नृपासनम्" इति हैमः । विनिवेश्य—उपवेश्य । सान्द्रभद्रार्थिनी—सान्द्रस्य दृढस्य वा भद्रस्य कल्याणस्य अर्थिनी अभिलाषवती । सा राजसुता—त्रैलोक्यसुन्दरी । आह स्म—अवोचत्, किमित्याह । नाथ !—स्वामिन् ! तदा—विवाहदिने । त्वया—मुक्तानाम् मौक्तिकानां अग्रहारः मुख्यहारः यस्याः सा मुक्ताग्रहारा—सद्यो विवाहिता । मन्दभाग्या—त्वत्कृतत्यागादिति भावः । कथं—कस्माद्धेतोः । विमुक्ता—त्यक्ता । ननिवति—खेदेनैतत्त्वयाऽयुक्तमाचरितमिति भावः ॥१७४॥

विना त्वया नाथ ! यदन्वभूवं, दुःखं प्रवक्तुं न तदस्मि शक्ता ।
द्विजिह्वतादोषपरिष्कृतः स, प्रवक्तु किं नाम सहस्रजिह्वः ॥१७५॥

व्याख्या—नाथ ! त्वया विना यद्—दुःखम् । अन्वभूवं—प्राप्तम् । तद् दुःखं, प्रवक्तुं, शक्ता—समर्था । न अस्मि—सहस्रमुखेनापि तद्वर्णयितुं न शक्त्यमित्याह । सः—प्रसिद्धः । सहस्रजिह्वः—शेषनागः, द्विजिह्वतादोषपरिष्कृतः—द्विजिह्वतादोषेण सर्पाणां द्विजिह्वत्वात्कथने चैकजिह्वस्य सामर्थ्यावगमात्, कथने द्विजिह्वतादोषः, तेन हेतुना, अथ च पिशुनतादोषेण, नहि पिशुनः कस्यापि वर्णने समर्थः प्रभवतीति भावः । परिष्कृतः समन्वितः सन् । किं नाम प्रवक्तु—कथने न समर्थ इत्यर्थः । एतेन दुःखस्यात्याधिक्यमुक्तम् "पिशुनः सूचको नीचो द्विजिह्वः" इति हैमः ॥१७५॥

अथ सिंहस्य परावर्त्तनमाह—इतीति—

इति स्वदुःखप्रतिपत्तिपूर्वं स्वाभाविकं वेषमियं प्रपद्य ।
प्रत्यर्प्य सैन्यैः सह तं नृवेषं, संमान्य सिंहं व्यसृजद् गृहाय ॥१७६॥

व्याख्या—इति—पूर्वोक्तप्रकारेण । स्वदुःखप्रतिपत्तिपूर्वं—स्वस्य दुःखस्य या प्रतिपत्तिः कथनं तत्पूर्वम् । इयं—त्रैलोक्यसुन्दरी । स्वाभाविकम्—अकृत्रिमं स्त्रीरूपं । वेषं—स्वरूपं । प्रपद्य—विधाय । तं, नृवेषं—पुंवेषं । सिंहं, प्रत्यर्प्य—दत्त्वा । सम्मान्य—सत्कृत्य च । सैन्यैः सह गृहाय—चम्पापुरगमनाय । व्यसृजत्—विससर्ज ॥१७६॥

अथ तस्याः श्वशुरप्रणाममाह--पित्रोरिति-

पित्रोः पदद्वन्द्वमनुक्रमेण, प्राणीनमत्तामुपदान्वितां सः ।
इयं वधूर्वो नमतीति जल्पन्, भक्त्योपगूढः स्वयमप्यनंसीत् ॥१७७॥

व्याख्या—सः—मङ्गलकुम्भः । अनुक्रमेण—पौर्वापर्येण । इयं—पुरःस्थिता । वः—युष्माकं । वधूः—स्नुषा । नमति—प्रणमति । इति—इत्थं । जल्पन्—कथयन् । पित्रोः—मातापित्रोः । पदद्वन्द्वं—चरणयुगलम् । उपदान्विताम्—उपहारैः अन्वितां युक्तां । तां—त्रैलोक्यसुन्दरीं । प्राणीनमत्—नमयामास । भक्त्या—प्रेम्णा । उपगूढः—आलिङ्गितः । स्वयमपि, अनंसीत्—ननाम ॥१७७॥

अथ श्वश्र्वाः परितोषमाह—वधूमिति-

वधूं समालोक्य विधूतदोषां, श्वश्रूः परं तोषमवाप साऽपि ।
योग्यास्य जाया भवितेति चिन्ता, तदैव तस्याः हृदयं मुमोच ॥१७८॥

व्याख्या--साऽपि श्वश्रूः—मङ्गलकुम्भमाता, विधूतः परित्यक्तः असम्बद्धः दोषः कुलक्षणं यया तां । विधूतदोषां, वधूं, समालोक्य, परम्—अत्यन्तं । तोषं—मोदम् । अवाप । अस्य—मङ्गलकुम्भस्य । योग्या—अनुरूपा । जाया—पत्नी । भविता—भविष्यति । इति चिन्ता, तदैव—वधूं दृष्ट्वैव । तस्याः—श्वश्र्वाः । हृदयं, मुमोच—तस्याश्चिन्ता विनष्टेत्यर्थः ॥१७८॥

अथ त्रैलोक्यसुन्दर्या अपि परितोषमाह--श्वश्रूमिति-

श्वश्रूं समीक्ष्य श्वशुरं च लक्ष्मीं, निकेतनं चापि परिच्छदं च ।
कृतार्थयामास वधूः स्वमेषा, स्वभाग्यसंरम्भविवर्णनेन ॥१७९॥

व्याख्या—श्वश्रूं, श्वशुरं, च, लक्ष्मीं—सम्पत्तिं । निकेतनं—गृहं । च, परिच्छदं—परिजनं । चापि समीक्ष्य—अवलोक्य । एषा, वधूः—त्रैलोक्यसुन्दरी । स्वभाग्यसंरम्भविवर्णनेन—स्वभाग्यस्य यः संरम्भः संक्रमः तस्य विवर्णनेन प्रशंसनेन, 'भाग्यवत्यहं यत एतम्भूतं श्वशुरगृहं प्राप्तेत्येवमित्यर्थः । स्वम्—आत्मानं । कृतार्थयामास—कृतार्थममन्यत ॥१७९॥

अथ सिंहकृतभूपनिवेदनमाह—सिंहोऽपीति-

सिंहोऽपि गत्वा त्वरितं नृपाय, प्रत्यर्पयामास स तं नृवेषम् ।
निशम्य तस्या वरलाभवृत्तं, मुदान्वितस्तं प्रशशंस भूपः ॥१८०॥

व्याख्या--सः--त्रैलोक्यसुन्दर्या विसृष्टः । सिंहः, अपि, त्वरितं--शीघ्रमेव । गत्वा, नृपाय, तं--त्रैलोक्यसुन्दरीदत्तं । नृवेषं, प्रत्यर्पयामास--ददौ । भूपः--राजा सुरसुन्दरः । तस्याः--त्रैलोक्यसुन्दर्याः । वरलाभवृत्तं--पतिप्राप्तेः उदन्तं । निशम्य--श्रुत्वा । मुदा--हर्षेण । अन्वितः--युक्तः, सन् । तं--सिंहं, प्रशशंस ॥१८०॥

अथ तत्प्रशंसामेवाह--त्वमेवेति--

त्वमेव सिंहाखिलवैरिसिंहः, परोपकारप्रवणस्त्वमेव ।
इति प्रशस्याङ्गविभूषणानि, वासांसि चास्मै नृपतिर्व्यतारीत् ॥१८१॥

व्याख्या--सिंह !, अखिलवैरिसिंहः--अखिलवैरिणां कृते सिंह इव । त्वमेव, परोपकारप्रवणः--परोपकारे परकार्यसाधने प्रवणः तत्परः पटुर्वा त्वमेव । इति--इत्थं । प्रशस्य--प्रशंसां कृत्वा । नृपतिः, अस्मै--सिंहाय । अङ्गविभूषणानि--अङ्गस्य निजाङ्गस्य विभूषणानि मण्डनानि, एतेन नृपतेरतिप्रसन्नता सूचिता । वासांसि च, व्यतारीत्--पारितोषिकं ददौ, कृतकार्यो हि स्वामिना सत्क्रियत एवेति भावः ॥१८१॥

अथ मङ्गलकुम्भस्य पुनश्चम्पाऽऽगमनमाह--अवाप्येति--

अवाप्य चम्पाधिपतेर्निदेशं, निवेद्य तं मालववासवस्य ।
स मङ्गलश्चम्पकपुष्पगौरश्चम्पां परीवारयुतः समागात् ॥१८२॥

व्याख्या--चम्पाधिपतेः--सुरसुन्दरस्य । निदेशम्--आज्ञाम्, इहागच्छेत्येवंरूपाम् । अवाप्य--प्राप्य । तं--निदेशं । मालववासवस्य--अवन्तीशाय वैरिसिंहाय । निवेद्य--चम्पकपुष्पमिव गौरः गौरवर्णः । चम्पकपुष्पगौरः, सः, मङ्गलः--मङ्गलकुम्भः । परीवारयुतः--परीवारेण परिच्छदेन युतः समन्वितः सन् । चम्पां--तदाख्यनगरीं । समागात्--आगतवान् ॥१८२॥

अथ राज्ञो मन्त्रिदुर्वृत्तज्ञानमाह--प्रवेशितामिति--

प्रवेशितामुत्सवपूर्वमेतां, समं प्रियेणोपगतां स पुत्रीम् ।
निरीक्ष्य राजा सचिवस्य तस्य, दुश्चेष्टितं सत्यममंस्त सर्वम् ॥१८३॥

व्याख्या--उत्सवपूर्वं--सोत्सवं । प्रवेशितां--स्वराजधान्यां । प्रियेण--पत्या । समं--सह । उपगतां--समागताम् । एतां--निजां । पुत्रीं--त्रैलोक्यसुन्दरीं । समीक्ष्य, सः, राजा--सुरसुन्दरः । तस्य, सचिवस्य, सर्वं, दुश्चेष्टितं--कपटं । सत्यम्, अमंस्त--मेने ॥१८३॥

अथ नृपतिकृतसचिवदण्डमाह--सर्वेति--

सर्वस्वमादाय नरेश्वरस्तं, समादिशद्वध्यमबन्ध्यकोपः ।
कुम्भस्तदाकर्ण्य तदैव गत्वा, विज्ञप्य राजानममोचयत्तम् ॥१८४॥

व्याख्या—अबन्ध्यकोपः--अप्रतिरोध्यशासनः । नरेश्वरः--राजा सुरसुन्दरः । सर्वस्वं--निखिलं वित्तम् । आदाय--गृहीत्वा । तं--सचिवं । वध्यं--प्राणदण्डं । समादिशत्--आज्ञातवान् । तत्--प्राणदण्डं सचिवस्य । आकर्ण्य--श्रुत्वा । कुम्भः--मङ्गलकुम्भः । तदैव, गत्वा, राजानम्, विज्ञप्य--सम्प्रार्थ्य । तं--सचिवम् । अमोचयत्--प्राणदण्डक्षमापनमकारयत् । एतेन दयालुताऽपराधिष्वपि सूचिता ॥१८४॥

अथ सचिवस्य देशनिर्वासनमाह—विमोचितस्तेनेति—

विमोचितस्तेन दयालुनासौ, विसर्जितोऽगाद् द्रुतमन्यदेशम् ।
कस्यापि कुत्रापि कदाचनापि, कुकर्म निर्माय न शर्मलाभः ॥१८५॥

व्याख्या—तेन, दयालुना--मङ्गलकुम्भेन गाढप्रार्थनया । विमोचितः--दण्डरहितः कृतः । असौ--सचिवः । विसर्जितः--देशान्निर्वासितः, सन् । द्रुतं--शीघ्रमेव । अन्यदेशं--देशान्तरम् । अगात्--ययौ । युक्तं चैतत्तदाह । कस्यापि, कुत्रापि--स्थाने । कदाचनापि--काले । कुकर्म--असत्कार्यं । निर्माय--कृत्वा । शर्मलाभः--शर्मणः सुखस्य लाभः प्राप्तिः । न--अतस्तस्य देशान्निर्वासनं युक्तमेवेति भावः ॥१८५॥

अथ तस्य यौवराज्याभिषेकमाह--सेति--

स यौवराज्यं नृपतेः प्रसन्ना-लब्ध्वा सुखं वैषयिकं बभाज ।
तया समं पौरजनोपगीतां, विस्तारयन् कीर्त्तिमिहेन्दुशुभ्राम् ॥१८६॥

व्याख्या—प्रसन्नात्, नृपतेः--सकाशात् । यौवराज्यं--युवराजपदं । लब्ध्वा, सः--मङ्गलकुम्भः । इह--जगति । पौरजनैः, उपगीताम्--गीयमानाम् । इन्दुशुभ्राम्--इन्दुश्चन्द्र इव शुभ्रा तामुज्ज्वलां । कीर्त्तिं, विस्तारयन्, तया--त्रैलोक्यसुन्दर्या । समं वैषयिकं--विषयोद्भवं । सुखं, बभाज--बुभुजे ॥१८६॥

अथ तत्र यशोभद्रसूरेरागमनमाह--अथेति-

अथावनीशं वनपालकोऽपि, द्रुतं समागत्य समाजभाजम् ।
व्यजिज्ञपच्चारुमनोरमाख्ये, वने यशोभद्रगुरुं समेतम् ॥१८७॥

व्याख्या--**अथ**--एकदा । **समाजभाजं**--सभास्थितम् 'सभा संसत् समाजः' इत्यमरः । **अवनीशं**--राजानं, सुरसुन्दरं । **द्रुतं**--शीघ्रं । **समागत्य, वनपालकः**--उद्यानपालः । **अपि, चारुमनोरमाख्ये**--चारुणि मनोहरे मनोरमाख्ये । **वने**--उद्याने । **समेतं**- समागतं । **यशोभद्रगुरुं**--यशोभद्रनामा सूरिः वने समायत इत्येवमित्यर्थः । **व्यजिज्ञपत्**--निवेदितवान् ॥१८७॥

अथ राज्ञो दीक्षाग्रहणमाह--वितीर्येति-

वितीर्य तस्मै परितुष्टिदानं, गुरुं प्रणन्तुं निरगान्नरेन्द्रः ।
नत्वोपदेशं विनिशम्य राज्ये, जामातरं न्यस्य ललौ स दीक्षाम् ॥१८८॥

व्याख्या--**नरेन्द्रः**--राजा सुरसुन्दरः । **तस्मै**--उद्यानपालकाय । **परितुष्टिदानं**--पारितोषिकं । **वितीर्य**--दत्त्वा । **गुरुं**--तं सूरिं । **प्रणन्तुं**--अभिवन्दितुं । **निरगात्**--ययौ । **नत्वा**--प्रणम्य । **उपदेशं**--गुरोरुपदेशं । **विनिशम्य**--श्रुत्वा । **राज्ये**--जामातरं । **मङ्गलकुम्भं न्यस्य**--अभिषिच्य । **सः**--सुरसुन्दरः । **दीक्षां, ललौ**--गृहीतवान् ॥१८८॥

अथ तस्य प्रजानुरञ्जनमाह--राज्यमिति--

राज्यं समासाद्य तथा कथञ्चित्, स पालयामास नृपः प्रजास्ताः ।
यथा कदाचित्सुरसुन्दरस्य, क्षमापस्य नास्मार्षुरपेतबाधाः ॥१८९॥

व्याख्या - **राज्यं, समासाद्य**--प्राप्य । **सः नृपः**--मङ्गलकुम्भः । **ताः प्रजाः तथा कथञ्चित्**--तेन केनापि विलक्षणप्रकारेण । **पालयामास, यथा अपेतबाधाः**--अपेताः दूरीभूताः बाधाः उपद्रवाः याभ्यस्ताः तादृशाः, ईतिभीत्यादिरहिताः, प्रजाः । **कदाचित्**--कदापि । **क्षमापस्य सुरसुन्दरस्य**--राजानं सुरसुन्दरं 'स्मृत्यर्थदयेशः' इति स्मृधातोर्योगात् षष्ठी । **न अस्मार्षुः**--स्मृतवत्यः, सुरसुन्दरादप्यधिककुशलतया स प्रजाः तासां धर्मार्थकाम-निराबाधता यथास्यात्तथा नीत्या पालयामासेत्यर्थः ॥१८९॥

तस्य कालातिक्रममाह--त्रिवर्गेति--

त्रिवर्गमाराधयतो नृपस्य, श्रीमङ्गलस्य श्रितमङ्गलस्य ।
नीत्या प्रजा रञ्जयतः प्रभूताः, संवत्सरा जग्मुरमेयशक्तेः ॥१९०॥

व्याख्या—त्रिवर्गं—धर्मार्थकामान् । आराधयतः—सेवमानस्य । नीत्या—नयेन । प्रजाः, रञ्जयतः—आनन्दयतः । अमेया अपरिमेया शक्तिः कोशदण्डजं तेजः यस्य तस्य अमेयशक्तेः । श्रितं मङ्गलं येन तस्य—श्रितमङ्गलस्य, श्रीमङ्गलस्य—मङ्गलकुम्भस्य । नृपस्य प्रभूताः—बहवः । संवत्सराः—अब्दाः, 'संवत्सरो वत्सरोऽब्द' इत्यमरः । जग्मुः—व्यतीयुः ॥१९०॥

अथान्यदा श्रीजयसिंहसूरिं, प्रणम्य विज्ञानिनमन्वयुंक्त ।
कृताञ्जलिः प्राग्भवमात्मनोऽपि, देव्यास्तथा मङ्गलकुम्भभूपः ॥१९१॥

व्याख्या—अथ—अनन्तरम् । अन्यदा—एकदा । विज्ञानिनं—विशिष्टसज्ज्ञानिनं । श्रीजयसिंहसूरिं, प्रणम्य कृताञ्जलिः—बद्धाञ्जलिः, सन् । मङ्गलकुम्भभूपः, देव्याः—त्रैलोक्यसुन्दर्याः, राज्ञ्याः । तथा आत्मनः—स्वस्य । अपि, प्राग्भवं—पूर्वजन्मवृत्तान्तम् । अन्वयुंक्त—हे भगवन् मया केन कर्मणोद्वाहे विडम्बना प्राप्ता, राज्ञ्या दूषणञ्च प्राप्तमिति पृष्टवान् ॥१९१॥

अथ सूरेस्तत्कथनमाह—जगादेति—

जगाद सूरिर्द्विजराजनिर्य – त्कान्तिप्रतिक्षिप्ततमः प्रचारः ।
अस्ति प्रशस्तं क्षितिसंभृतश्री–प्रतिष्ठितं नाम पुरं गरीयः ॥१९२॥

व्याख्या — सूरिः—श्रीजयसिंहसूरिः । द्विजराजनिर्यत्कान्तिप्रतिक्षिप्ततमःप्रचारः—द्विजराजः शशधरश्चन्द्रः 'द्विजराजः शशधर' इत्यमरः । स इव निर्यतीभिः निर्गच्छन्तीभिः कान्तिभिः प्रभाभिः प्रतिक्षिप्तः अपसारितः तमसां तिमिराणां प्रचारः प्रसरः येन स तादृशः अनभिभवनीयतेजःपुञ्जः । सन्, जगाद—किमित्याह । प्रशस्तं—वर्णनीयं, क्षितौ पृथिव्यां संभृता पूर्णा श्रीः लक्ष्मीः यत्र क्षितिसंभृतश्री—अत एव । गरीयः—सर्वमहत् । प्रतिष्ठितं नाम पुरं—नगरम् । अस्ति ॥१९२॥

तत्रर्जुरूपः कुलपुत्रकोक्त्या, ख्यातोऽपि नाम्नाऽजनि सोमचन्द्रः ।
कुटुम्बिनी चास्य विशुद्धशीला, श्रीदेव्यभिख्या प्रथिता बभूव ॥१९३॥

व्याख्या - **तत्र**--प्रतिष्ठितपुरे । **ऋजुरूपः**--सरलस्वभावः । **कुलपुत्रकोक्त्या**--कुलपुत्रक इत्येवमुक्त्या । **ख्यातः**--प्रसिद्धः । **अपि, नाम्ना, सोमचन्द्रः, अजनि**--जायते स्म, अभूदित्यर्थः । **अस्य**--सोमचन्द्रस्य । **च, कुटुम्बिनी**--पत्नी । **विशुद्धशीला**--पवित्रशीला । **प्रथिता**--ख्याता । **श्रीदेव्यभिख्या**--श्रीदेवीनाम्नी बभूव ॥१९३॥

अथ तन्मित्रमाह--सुहृदिति--

सुहृत्तदीयो जिनदत्तनामा, श्रद्धाधनः श्राद्धकुलावतंसः ।
देशान्तरं यत्स्वधनानि तस्मै, समर्पयामास विसर्जनाय ॥१९४॥

व्याख्या--**तदीयः**--सोमचन्द्रस्य । **सुहृद्**--मित्रं । **जिनदत्तनामा**--श्रद्धा जिनोक्ततत्त्वश्रद्धानमेव धनं यस्य स । **श्रद्धाधनः**--देवगुर्वादिभक्तः, अत एव । **श्राद्धकुलावतंसः**--श्राद्धकुलेषु श्रावककुलेषु अवतंसः भूषणमिव, श्रावक आसीदिति शेषः । **यत्**--यः जिनदत्तः धने सत्यऽप्यधिकधनोपार्जनाकांक्षया । **देशान्तरं**--अन्यदेशं गन्तुकामो । **स्वधनानि विसर्जनाय**--दानाय, सप्तक्षेत्र्यां वपनाय । **तस्मै**--सोमचन्द्राय । **समर्पयामास**--ददौ ॥१९४॥

तस्मिन्नवाप्ते विषयेऽपरस्मिन्, प्रयच्छतः स्वच्छतया धनानि ।
विश्राणनेऽजस्रमहिंस्रवृत्तेः, श्रद्धा विशुद्धाऽस्य समुल्ललास ॥१९५॥

व्याख्या--**तस्मिन्**--जिनदत्ते । **अपरस्मिन्**--अन्यस्मिन् । **विषये**--देशे । **अवाप्ते**--प्राप्ते, सति । **स्वच्छतया**--निःस्वार्थबुद्धया । **धनानि, प्रयच्छतः**--यथास्थानं ददतः । **अस्य**--सोमचन्द्रस्य । **अहिंस्रवृत्तेः**--अहिंस्रा अक्रूरा वृत्तिः आचारः यस्य तस्य दयालोः । **अजस्रं**--सततं । **विश्राणने**--दानकरणे । **विशुद्धा**--निर्मला । **श्रद्धा**--तत्पूर्विका भक्तिश्च विश्वासपूर्विका भक्तिः । **समुल्ललास**--ववृधे ॥१९५॥

तस्य प्रियाया अपि दानधर्मे, शर्मैकहेतौ मतिरुज्जजृम्भे ।
प्रियस्य वृत्तानुगुणेन नार्यः, प्रवर्त्तयन्ति व्यवहारमेताः ॥१९६॥

व्याख्या--**तस्य**--सोमचन्द्रस्य । **प्रियायाः**--पत्न्याः श्रीदेव्याः । **अपि, मतिः**--बुद्धिः । **शर्मैकहेतौ**--शर्मणः कल्याणस्य एकः प्रधानं हेतुः कारणं तस्मिन्, शर्मकरे । **दानधर्मे, उज्जजृम्भे**--उज्जृम्भते स्म । ननु पत्युः दानधर्मप्रवृत्तौ पत्न्याः अपि किमिति तत्र प्रवर्त्तनम् इति चेत्तत्राह । **एताः, नार्यः**--स्त्रियः । **प्रियस्य**--

पत्युः । **वृत्तानुगुणेन**–वृत्तस्य व्यवहारस्य अनुगुणम् अनुकूलं तेन, पतिवृत्तमनुसृत्य । **व्यवहारं**–स्वकीय-प्रवृत्तिं । **प्रवर्त्तयन्ति**–कुर्वन्ति, पत्यनुसारिणी हि प्रियेत्यर्थः । पतिगुणेनैव प्रियाया गुणाधानमिति भावः ॥१९६॥

अथ तस्य सर्वस्वदानमाह—नयार्जितमिति—

नयार्जितं स्वं कुलपुत्रकेण, स्वं पात्रसात्तेन कृतं समग्रम् ।
अखण्डितं सौख्यमपेक्षमाणाः, किं किं न कुर्वन्ति महानुभावाः ॥१९७॥

व्याख्या—**तेन**–अजस्रदाने जातश्रद्धेन । **कुलपुत्रकेण**–सोमचन्द्रापरनामकेन । **नयार्जितं**–नयेन नीत्या उपार्जितं संचितं । **स्वं**–निजं । **समग्रं**–संपूर्णं । **स्वं**–धनम् 'स्वो ज्ञातावात्मनि धने' इत्यमरः । **पात्रसात्कृतं**–योग्यपात्राय दत्तमित्यर्थः । युक्तं चैतदित्याह । **महानुभावाः**–महान् लोकोत्तरः अनुभवः प्रभावः आशयो वा येषां तादृशाः, दानादिधर्मैकचित्ताः । **अखण्डितं**–शाश्वतिकं । **सौख्यम्, अपेक्षमाणाः**–ईहमानाः सन्तः । **किं किं न कुर्वन्ति ?**–सर्वस्वदानादिकं सर्वमेव कुर्वन्ति इत्यर्थः ॥१९७॥

त्वग्दोषदुष्टं समवेक्ष्य भद्रा, सखीपतिं सा कुलपुत्रपत्नी ।
हास्याज्जगौ तां प्रति विप्रियं ते, किमङ्गमाहात्म्यमिदं सखि स्यात् ॥१९८॥

व्याख्या– **कुलपुत्रपत्नी**-कुलपुत्रस्य पत्नी भार्या । **सा**–श्रीदेवी । **भद्रासखीपतिं**–भद्रानाम्न्याः सख्याः स्वसहचर्याः पतिम् । **त्वग्दोषदुष्टं**–त्वग्दोषेण श्वित्रेण दुष्टं विवर्णं । **समवेक्ष्य**–अवलोक्य । **हास्यात्**–परिहासात् । **तां**–सखीं । **प्रति विप्रियं**–हास्येनानिष्टवचनं । **जगौ**–उवाच, किमित्याह । **सखि ! ते**–तव । **इदम् अङ्गमाहात्म्यं**–शरीरप्रभावः । **किं स्यात्**–किंरूपं भवेत् ? ॥१९८॥

ननु किं मदङ्गमाहात्म्यं त्वया दृष्टं यदेवं पृच्छसीत्यत आह– **येनेति** —

येनायमीदृक् समभूत् प्रियस्ते, समुल्लसत्सूरणकन्दरूपः ।
तस्या वचस्तद्विनिशम्य भद्रा, भद्राऽपि सन्तापमधत्त बाढम् ॥१९९॥

व्याख्या—**येन**–तवाङ्गमाहात्म्येन । **अयं**–दृश्यमानः । **ते**–तव । **प्रियः**–पतिः । **ईदृक्, समुल्ल-सत्सूरणकन्दरूपः**–समुल्लसत् शोभमानं यत्सूरणस्य कन्दं तद्रूपः तद्वर्णः । **समभूत्**–जातः, त्वत्संगदोषेण तव पतिः कुष्ठी जज्ञे, तवाङ्गमाहात्म्येनैवास्यैतादृक्सुवर्णतेति कुरूपस्तव पतिरिति काकुः । **तस्याः**–श्रीदेव्याः ।

तद्वचः, विनिशम्य—श्रुत्वा । भद्रा—शान्तस्वभावा । अपि, भद्रा—तन्नामसखी । बाढम्—अत्यन्तं । सन्तापं—दुःखम् । अधत्त—प्राप । स्वपतिविषये सतोऽपि दोषस्य हसित्वा कथनं सन्तापाय जायत इति भावः ॥१९९॥

तया गिरा तां व्यथितां विभाव्य, सौम्येन्दुपत्नी क्षमयाम्बभूव ।
खेदं वृथा त्वं हृदि मा कृथा यत्, तनोति जन्तोर्निखिलं स्वकर्म ॥२००॥

व्याख्या—तया—हास्योदितया । गिरा—वाण्या । तां—भद्रां । व्यथितां—संतप्तां । विभाव्य—ज्ञात्वा । सौम्येन्दुपत्नी—सोमचन्द्रस्य पत्नी भार्या, श्रीदेवी । क्षमयाम्बभूव—क्षमायाचनमकरोत् । तथाहि त्वं—मम सखी, भद्रा । हृदि, खेदं—मद्वचनेन सन्तापं । वृथा—मुधा । मा कृथाः—कुरु । यत्—यतः अविचार्योक्तं मयेति भावः, विचार्योक्तौ त्वेवं ब्रूयाम्, कथमित्याह । जन्तोः—शरीरिणः । निखिलं—शुभाशुभादिकं । स्वकर्म तनोति—पुरोपार्जितपुण्यपापादि कर्त्तृ करोति, न तु तत्र कस्याप्यन्यस्य कर्त्तृत्वमिति भावः ॥२००॥

अथ स्वमायुः परिपूर्य मृत्वा, (जा) यातौ युवां तौ क्रमतोऽनुरूपौ ।
अवक्रयेणोपयमस्तवार्यं, परार्थदानेन बभूव भूप ! ॥२०१॥

व्याख्या—अथ—अनन्तरं । स्वं—निजम् । आयुः, परिपूर्य—समाप्य । मृत्वा, क्रमतः—अन्तरा सौधर्मे कल्पे देवभवं कृत्वा । तौ—श्रीदेवीसोमचन्द्रौ । अनुरूपौ—दम्पतीरूपौ । युवाम्—त्रैलोक्यसुन्दरीमङ्गलकुम्भौ । (जा) यातौ—उत्पन्नौ स्थ इतिशेषः । भूप !—राजन् ! परार्थदानेन—परस्यान्यस्य स्वमित्रस्य अर्थस्य धनस्य दानेन हेतुना, मित्रद्रव्येण भवतोपार्जितेन पुण्येन । अयं, तव, उपयमः—विवाहः, 'विवाहोपयमौ समौ' इत्यमरः । अवक्रयेण—मूल्येन । बभूव—'मूल्यं वस्नोऽप्यवक्रयः' इत्यमरः ॥२०१॥

सख्याश्च दोषप्रतिपादनेन, जज्ञे कलङ्को भवतः प्रियायाः ।
ईदृग्वचस्तस्य निशम्य सूरे—स्तयोरभूत् प्राग्भवसंस्मृतिश्च ॥२०२॥

व्याख्या—सख्याः, दोषप्रतिपादनेन—हास्योक्त्या दूषणकथनेन हेतुना । भवतः प्रियायाः—त्रिलोकसुन्दर्याः । कलङ्कः—एतद्रात्रसंपर्कात्सचिवपुत्रः कुष्ठी जात इत्येवंरूपः अपवादः । जज्ञे—बभूव । तस्य, सूरेः—जयसिंहसूरेः । ईदृक्—पूर्वोक्तप्रकारं । वचः, निशम्य, तयोः—त्रैलोकसुन्दरीमङ्गलकुम्भयोः । प्राग्भवसंस्मृतिः—प्राग्भवस्य पूर्वजन्मनः संस्मृतिः संस्मरणं । च, अभूत् ॥२०२॥

स जातजातिस्मृतिरात्मपत्न्या, समं समुत्थाय गुरून् विनम्य ।
आह स्म यावत्समुपैमि गत्वा, तावद्भवद्भिः स्थितिरत्र कार्या ॥२०३॥

व्याख्या—**जातजातिस्मृतिः**—जातोत्पन्ना जातिस्मृतिः पूर्वजन्मस्मृतिः यस्य सा तादृशः । **सः**—मङ्गलकुम्भः । **आत्मपत्न्या**—स्वभार्यया, त्रैलोकसुन्दर्या । **समं**—सह । **समुत्थाय, गुरून्**—तान् मुनीन् । **विनम्य**—प्रणम्य । **आह**—ब्रूते । **स्म**—किमित्याह । **यावद्, गत्वा, समुपैमि**—अहं पुनरागच्छामि । **भवद्भिः, तावद्**—अत्रोद्याने । **स्थितिः, कार्या**—कृपया स्थातव्यम् ॥२०३॥

नैव प्रमादं नृपते ! विदध्या, इतीरितेऽसौ गुरुभिः ससार ।
निवेश्य राज्ये तनयं विनीतं, वैराग्यरङ्गात्तरसाऽससार ॥२०४॥

व्याख्या—**नृपते !**—राजन् ! **प्रमादम्**—अनवधानं । **नैव, विदध्याः**—कुरु । **इति**—इत्थं । **गुरुभिः**—मुनिभिः । **ईरिते**—कथिते । **असौ**—मङ्गलकुम्भः । **ससार**—गृहं जगाम, तत्र गत्वा । **विनीतं**—शिक्षितं विनययुक्तं च । **तनयं**—पुत्रं । **राज्ये, निवेश्य**—स्थापयित्वा, स्वयम् । **वैराग्यरङ्गात्**—वैराग्ये रङ्ग अनुरक्तिः तस्मात्, प्राप्येत्यर्थः । **तरसा**—शीघ्रम् । **आससार**—आजगाम ॥२०४॥

पार्श्वे गुरूणां गरिमाचलानां, दक्षः स दीक्षां विधिवत्प्रपेदे ।
त्रैलोक्यसुन्दर्यपि कुर्वतीव, पतिव्रताभावमियं यथार्थम् ॥२०५॥

व्याख्या—**दक्षः**—कुशलः, मङ्गलकुम्भः । **गरिमाचलानां**—गरिम्णा गौरवेण अचलानां पर्वततुल्यानां । **गुरूणां, पार्श्वे**—समीपे । **विधिवद्**—यथाविधि । **दीक्षां, प्रपेदे**—स्वीकृतवान् । **इयं**—तत्पत्नी । **त्रैलोक्यसुन्दरी, अपि, पतिव्रताभावं**—पतिव्रतायाः भावमभिप्रायम् पत्युः व्रतमेव व्रतं यस्याः सा पतिव्रता इत्येवं रूपं भावम् । **यथार्थम्**—अन्वर्थं । **कुर्वती इव**—दीक्षां प्रपेदे इत्यनुषज्यते, द्वावपि दीक्षां जयसिंहगुरोः पार्श्वे प्रपेदाते इत्यर्थः ॥२०५॥

क्षमां स्थिरामाश्रयतो नृपस्य, तथास्य राज्येन बभूव शर्म ।
चारित्रलक्ष्मीं प्रतिपद्य हृद्यां, कषायकालुष्यजयाद्यथैव ॥२०६॥

व्याख्या—**स्थिरां**—दृढां, अथ च अन्येन अपरिहरणीयाम् । **क्षमां**—पृथिवीम्, अथ च परापराधसहिष्णुत्वम् दैन्याकरणेन परिसहोपसहनं वा । **आश्रयतः**—दधतः । **अस्य**—मङ्गलकुम्भस्य । **नृपस्य यथैव**—यादृशमेव । **राज्येन, शर्म**—सुखं । **बभूव, तथा**—तादृशमेव । **हृद्याम्**—निर्मलां । **चारित्रलक्ष्मीम् प्रतिपद्य**—स्वीकृत्य । **कषायकालुष्यजयात्**—कषायेण क्रोधादिना यत्कालुष्यम् दूषितचित्तवृत्तिता तस्य जयाद् दूरीकरणाद्, राज्यसुखव्रतपालनसुखयोः साम्यमिति भावः । यद्वा राज्ये तथा शर्म न बभूव, यथा कषायकालुष्यजयादित्येवमन्वेयम्, राज्यसुखापेक्षया चारित्रपालने सुखाधिक्यमिति भावः ॥२०६॥

अथ तस्य स्वर्लोकप्राप्तिमाह—**तपांसीति** —

तपांसि तप्त्वा स सुदुस्तपानि, निर्माय कन्दर्पमदर्पकं च ।
विहृत्य पृथ्वीं च मुनिस्तयामा, स्वर्लोकलक्ष्मीमुररीचकार ॥२०७॥

व्याख्या—**सुदुस्तपानि**—अन्यैस्तप्तुमशक्यानि । **तपांसि, तप्त्वा**—अतएव । **कन्दर्पम्**—कामवासनाम् । **अदर्पकम्**—अभिमानरहितं । **निर्माय**—कृत्वा, कामं विजित्येत्यर्थः । **पृथ्वीं च, विहृत्य**—पृथिव्यां विहारं कृत्वा । **सः**—मङ्गलकुम्भो मुनिः । **तया**—त्रैलोकसुन्दर्या । **अमा**—सह । **स्वर्लोकलक्ष्मीं**—स्वर्गस्य लक्ष्मीं सम्पत्तिम् । **उररीचकार**—स्वीचकार, नाकपतिर्जातः ॥२०७॥

अथार्हदुक्तकथामुपसंहरति विद्याधरः—**इत्थमिति**—

इत्थं चरित्रं मुनिमङ्गलस्यो - पदिश्य वाचं विससर्ज सोऽर्हन् ।
संसारसंभूतमहाधिदुःख — प्रस्थानभम्भानिनदानुकाराम् ॥२०८॥

व्याख्या—**इत्थं**—पूर्ववर्णितक्रमेण । **मुनिमङ्गलस्य**—मुनेः मङ्गलस्य मङ्गलकुम्भस्य । **चरित्रं**—वृत्तान्तम् । **उपदिश्य**—व्याख्याय । **सः, अर्हन्**—जिनेश्वरः । **संसारसंभूतमहाधिदुःखप्रस्थानभम्भानिनदानुकाराम्**—संसारे संभूतं यत् महान् आधिः मानसो व्यथा दुःखं च, अथवा आधिजन्यं दुःखं तस्य प्रस्थाने दूरीकरणे भम्भानिनदस्य भम्भा जयढक्का तस्या निनदस्य शब्दस्य अनुकारा अनुकरणरूपा तां । **वाचं, विससर्ज**—समाप्तवान् । मङ्गलकुम्भस्य कथाम् उपदिश्य विरतोऽभूदित्यर्थः 'शब्दे निनादनिनद' वित्यमरः ॥२०८॥

अथ प्रस्तुते मुदित्वा विद्याधरस्य प्रसङ्गसमाधानमाह—**अथेति**—

अथाहमर्हन्तमपृच्छमेतं, विद्याधराणां कथमाधिपत्यम् ।
ममाघटिष्ट प्रतिपत्पटिष्ठ, !, प्रकाशयेदं प्रणतानुकम्प्र ! ॥२०९॥

व्याख्या—अथ—अर्हति उपदेशदानाद्विरते। अर्हं—विद्याधरः। अर्हन्तं—श्रीजिनेश्वरम्। एतं—यद्वा। एवं—वक्ष्यमाणप्रकारेण। अपृच्छम्—तदेवाह। प्रतिपत्पटिष्ठ—प्रतिपद्भिः ज्ञानैः पटिष्ठ ! समर्थ !, तथा। प्रणतानुकम्प्र—प्रणतेषु अनुकम्प्र ! दयालो !, मम, विद्याधराणाम्, आधिपत्यं—विद्याधरेशत्वं। कथं—केन प्रकारेण। अघटिष्ट—जातम्। इदं वस्तु प्रकाशय—कथय ॥२०९॥

अथार्हतः तद्वृत्तान्तकथनमाह—जिनोऽवददिति—

जिनोऽवदत्पश्चिमपुष्करार्द्धे, सीतोदकाऽस्ति प्रतता स्रवन्ती।
कूलेऽनुकूले सलिलावतीति, ख्यातोऽस्ति तस्या विजयः समृद्धः ॥२१०॥

व्याख्या—जिनः—अर्हन्। अवदत्—किमित्याह। पश्चिमपुष्करार्द्धे, सीतोदका—सीतोदाख्या। प्रतता—विस्तृता। स्रवन्ती—निम्नगा, नदीत्यर्थः, 'स्रवन्ती निम्नगाऽऽपगा' इत्यमरः। अस्ति, तस्याः—नद्याः। अनुकूले—रमणीये। कूले—तीरे, 'कूलं रोधश्च तीरं चे' त्यमरः। सलिलावती इति ख्यातः—सलिलावतीनाम्ना प्रसिद्धः। समृद्धः—लक्ष्मीसंपन्नः। विजयः, अस्ति ॥२१०॥

द्वेधाऽपि तस्मिन्नपि वीतशोका, पुरी परीता पुरुषोत्तमौघैः।
निषेवते यां परिचारिकेव, लक्ष्मीरनन्ताश्रयवाञ्छयेव ॥२११॥

व्याख्या—तस्मिन्नपि—तस्मिंश्च, विजये। पुरुषोत्तमौघैः—पुरुषोत्तमानां पुरुषश्रेष्ठानाम्, अथ च विष्णूनाम् ओघैः वृन्दैः। परीता—समन्विता। द्वेधापि—नामतोऽर्थतश्च। वीतशोका—तन्नाम्नी। पुरी—नगरी, अस्तीतिशेषः। यां—वीतशोकापुरीम्। लक्ष्मीः, अनन्ताश्रयवाञ्छयेव—अनन्तः अपरिमितः यः आश्रयः आलम्बनं तस्य वाञ्छया अभिलाषयेव अथ च अनन्तः विष्णुः स एवाश्रयः पतित्वेनालम्बनं तद्वाञ्छया इव। परिचारिका—कर्मकरी सा। इव, निषेवते—गृहे गृहे तत्र परिचारिकेव लक्ष्मीः सदा वर्त्तत इति भावः ॥२११॥

रत्नध्वजस्तत्र बभूव चक्री, यस्य प्रतापेन विनिर्जितोऽसौ।
वार्द्धाववाप्य प्रतिपक्षशङ्कां, झम्पां ददौ वाडवजातवेदाः ॥२१२॥

व्याख्या—तत्र—पुर्याम्। रत्नध्वजः—तन्नामा। चक्री—चक्रवर्ती। बभूव, यस्य—रत्नध्वजस्य। प्रतापेन—तेजसा। विनिर्जितः—पराभूतः। असौ—प्रसिद्धः। वाडवजातवेदाः—वाडवाग्निः, 'ज्वलनो जातवेदाः' इत्यमरः। प्रतिपक्षशङ्कां—प्रतिभटसंभवभयम्, 'शङ्का स्याद् संशये भये' इत्यनेकार्थः। अवाप्य—प्राप्य,

बलवान् प्रतिपक्षोऽयमित्याशङ्क्य । वार्धौ—समुद्रे । झम्पां—झम्पापातं । ददौ—चकार, तद्भयेन एव वाडवाग्निः समुद्रे निमग्नस्तिष्ठति इति भावः अत्र वाडवाग्नेः स्वाभाविकसमुद्रावस्थानस्य तेन पराजयस्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेः । असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥२१२॥

तथा न वक्षः प्रतिपक्षभेत्तु-र्व्यभूषि वक्षः कनकश्रियाऽस्य ।
सौभाग्यलक्ष्मीरसराजधान्या, राज्ञ्या यथा तत्कनकश्रियैव ॥२१३॥

व्याख्या—प्रतिपक्षभेत्तुः—प्रतिपक्षस्य शत्रोः भेत्तुः उन्मूलयितुः । अस्य—रत्नध्वजस्य नृपस्य । वक्षः—उरःस्थलम् । कनकश्रिया—कनकस्य सुवर्णस्य श्रिया शोभया । तथा—तेन प्रकारेण । न व्यभूषि—भूष्यते स्म । यथा सौभाग्यलक्ष्मीरसराजधान्या—सौभाग्यलक्ष्म्याः रसस्य शृङ्गारादेः राजधान्या खनिरूपया तत्तुल्या । कनकश्रिया—तन्नाम्न्या राज्ञ्या । एव तत्—वक्षः, व्यभूषीत्यनुषज्यते, कनककान्तेरप्यधिका तत्तुल्या कनकश्रीकान्तिरिति भावः ॥२१३॥

दया यथा मानस एव राज्ञ-स्तस्य न्यवात्सीन्नयवत्सलस्य ।
तथैव हैमच्छविहेममालि – न्याख्याऽद्वितीया महिषी द्वितीया ॥२१४॥

व्याख्या – नयवत्सलस्य—न्यायप्रियस्य । तस्य—रत्नध्वजस्य । राज्ञः, मानसे—हृदि । यथैव, दया, न्यवात्सीत्—निवसति स्म । तथैव, अद्वितीया—असाधारणा । हेमच्छविहेममालिन्याख्या—हेमच्छविरिव छविर्यस्याः सा चासौ हेममालिन्याख्या च सा, कनककान्तिः हेममालिनीनाम्नी । द्वितीया, महिषी—राज्ञी, मानसे न्यवात्सीदित्यनुषज्यते, साऽत्यन्तं प्रियेति भावः ॥२१४॥

ताभ्यामुभाभ्यामधिकं प्रियाभ्यां, विभ्राजमानः स कलाधिनाथः ।
प्रकाशयामासतरां सदाशा, ज्योत्स्नाकलाभ्यामिव शीतधामा ॥२१५॥

व्याख्या—ताभ्याम्, उभाभ्यां, प्रियाभ्यां—पत्नीभ्याम् । अधिकं—नितरां । विभ्राजमानः—शोभमानः । स, कलाधिनाथः—कलानां विद्यानाम् अधिनाथः विज्ञः, अथ च चक्रवर्त्तित्वात्सकलस्याखिलस्य विश्वस्य अधिनाथः अधीशः सः राजा । ज्योत्स्नाकलाभ्याम्—ज्योत्स्ना चन्द्रिका, कला षोडशभागात्मिकाकान्तिस्ताभ्यां, शीतं धाम तेजः यस्य स शीतधामा—चन्द्रः । इव, सदाशाः—सतां सज्जनानामाशाः अभिलाषाः । अथ च सर्वाः दिशः । प्रकाशयामासतरां—पूरयामासतरामालोकयामासतराञ्च ॥२१५॥

स्वप्नेऽन्यदोत्सङ्गगतं नृपस्य, कान्ता लतायुग्ममवैक्षताद्या ।
पद्माश्रयां पद्मलतां द्वितीया, तथा व्यलोकिष्ट निजाङ्गभाजम् ॥२१६॥

व्याख्या--अन्यदा-एकदा । नृपस्य, आद्या-प्रथमा । कान्ता-पत्नी कनकश्रीः । स्वप्ने, उत्सङ्ग-गतम्-उत्सङ्गे क्रोड़े 'क्रोड उत्सङ्ग.' इति हैमः, गतं प्राप्तं । लतायुग्मं-वल्लीद्वितयम् । अवैक्षत-ददर्श । तथा, द्वितीया-कान्ता हेममालिनी । पद्माश्रयां-पद्ममाश्रयः यस्यास्तां लक्ष्मीम् । पद्मलताञ्च-"पद्माया लक्ष्म्या आश्रयो यस्यां तां यद्वा पद्मानामाश्रयः आश्रयभूतां ।" निजाङ्गभाजम्-निजशरीरसम्बद्धाम् उत्सङ्गगतामित्यर्थः । व्यलोकिष्ट ॥२१६॥

स्वप्नानुसारेण च बभ्रतुस्ते, गर्भानदभ्रद्युतिपेशलाङ्ग्यौ ।
आद्या प्रसूते स्म सुते क्रमेण, सुवर्णपद्मादिलतोत्तराख्ये ॥२१७॥

व्याख्या--अदभ्रद्युतिपेशलाङ्ग्यौ-अदभ्रया अतिमात्रया द्युत्या कान्त्या पेशलानि सुन्दराणि अङ्गानि ययोस्ते तादृश्यौ । ते-द्वे महिष्यौ । च स्वप्नानुसारेण, गर्भान्, बभ्रतुः-दधतुः । आद्या-कनकश्रीः । क्रमेण, सुवर्णपद्मादिलतोत्तराख्ये-सुवर्णं सुवर्णशब्दः पद्मं पद्मशब्दश्च आदी लता लताशब्दौ चोत्तरौ ययोराख्ययोः ते आख्ये नामनी ययोस्ते । सुवर्णलता पद्मलता-नामनी । सुते-पुत्र्यौ । प्रसूते स्म-असूत ॥२१७॥

अथ हेममालिन्यास्तनयोत्पत्तिमाह—

सा हेममालिन्यपि हेमगौरी, पद्माभिधानां तनयामसूत ।
ताः पाल्यमाना अपि लाल्यमाना-स्तिस्रः पितृभ्यामपि वृद्धिमापुः ॥२१८॥

व्याख्या—हेमगौरी-हेम इव गौरी गौरवर्णवती । सा-द्वितीया । हेममालिनी-तन्नाम्नी राज्ञी । अपि, पद्माभिधानां-पद्मानाम्नीं । तनयां-पुत्रीम् । असूत, पितृभ्यां-मातापितृभ्यां । लाल्यमानाः-स्निह्यमानाः । पाल्यमानाः, अपि-पोष्यमाणाश्च । ताः, तिस्रः, अपि, सुवर्णलतापद्मलतापद्माख्याः वृद्धिम् आपुः ॥२१८॥

अथ तासां साध्वीप्रीतिमाह—अधीतेति—

अधीतशास्त्रार्थविबोधभाज-स्तिस्रोऽपि ता गुप्तिवदप्रमत्ताः ।
प्रवर्त्तिनीं नो मुमुचुः कदाचि-न्नमद्रसेनाजितसेनिकाह्वाम् ॥२१९॥

व्याख्या—अधीतशास्त्रार्थविबोधभाजः—अधीतानि यानि शास्त्राणि तेषामर्थानां विबोधं ज्ञानं भजन्तीति ताः तादृश्यः शास्त्रार्थमर्मज्ञाः । ताः, तिस्रः, अपि—राजपुत्र्यः । गुप्तिवदप्रमत्ताः—गुप्तयः मनोगुप्तिवचनगुप्तिकायगुप्तयो यासां सन्तीति गुप्तिवन्त्यः, न प्रमत्ताः अप्रमत्ताः, गुप्तिवन्त्यश्चाप्रमत्ताश्च गुप्तिमदप्रमत्ताः सत्यः । नमद्रसेन—अनुरागाधिक्येन । अजितसेनिकाह्वाम्—अजितसेनिकानाम्नीम् । प्रवर्त्तिनीं—साध्वीं । कदाचित्—कदापि । नो—नैव । मुमुचुः—तत्सान्निध्यं न तत्यजुः ॥२१९॥

अथ पद्मायाः व्रतग्रहणमाह—पद्मेवेति—

पद्मेव पद्मा सुभगान्यदाति – निर्वेदपात्रीकृतबुद्धिधारा ।
तस्याः समीपे व्रतमादिताऽसौ, कदाचन व्यज्ञपयन्मुदा ताम् ॥२२०॥

व्याख्या—अन्यदा, पद्मा—लक्ष्मीः सा । इव—'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा' इत्यमरः । सुभगा—सुन्दरी । पद्मा—तन्नामराजपुत्री । अतिनिर्वेदपात्रीकृतबुद्धिधारा—अतिनिर्वेदस्योत्कटवैराग्यस्य पात्रीकृता बुद्धिधारा यया स तादृशी वैराग्यमापन्ना सती । तस्याः—अजितसेनिकाह्वप्रवर्त्तिन्याः । समीपे, व्रतं—दीक्षाम् । आदित—गृहीतवती । कदाचन—कदाचिच्च । असौ—पद्मा । मुदा—हर्षेण । तां—प्रवर्त्तिनीं । व्यज्ञपयत्—निवेदितवती ॥२२०॥

तस्याः निवेदनमेवाह—षष्टिश्चतुर्यानीति—

षष्टिश्चतुर्थानि भवन्ति यस्मिन्, द्वे च त्रिरात्रे तदहं तपोऽद्धा ।
कुर्वेतरां कर्म चतुर्थसंज्ञं, सा तन्मता तद्विदधे स्वतुष्टया ॥२२१॥

व्याख्या—यस्मिन्—तपसि । षष्टिः चतुर्थानि—उपवासानि । भवन्ति, च—तथा । द्वे त्रिरात्रे—त्रयाणां रात्रीणां समाहारः त्रिरात्रम्, द्विवचने त्रिरात्रे अष्टमद्वयमित्यर्थः । तदहं—तानि अहांसि यस्मिन् तत्तदहं, एवंविधम्, तपोऽद्धा दशविधतपोमध्ये अद्धाभेदभिन्नं तपः, । तत्—तादृशम् । अहं, कर्मचतुर्थसंज्ञं—कर्मचतुर्थाभिधानम्, यदुक्तमाचारदिनकरेऽस्य स्वरूपम्, 'उपवासत्रयं कुर्यादादावन्ते निरन्तरम्, मध्ये षष्टिमितान् कुर्यादुपवासांश्च सान्तरान्' इति कर्मणां चतुर्थं खण्डनरूपं कर्मचतुर्थम्, कुर्वेतरां करोमि । तन्मता—तत्प्रवर्त्तिनीसमादिष्टा । सा—पद्मा । तत्—तपः । स्वतुष्टया—मनोमोदपूर्वकं । विदधे—चकार ॥२२१॥

सैवान्यदोद्दिश्य शरीरचिन्तां, पथि प्रयान्ती यतिनी पराद्धर्या ।
द्वौ राजपुत्रौ युधमादधानौ, वाराङ्गनानङ्गलतानिमित्तम् ॥२२२॥
उद्गूर्णशस्त्रौ सरसौ समानौ, तत्सङ्गसम्प्राप्तिनिदानमेषा ।
समीक्ष्य विश्वाप्रतिरूपरूपौ, व्यामोहमूढाऽरचयन्निदानम् ॥२२३॥

व्याख्या—अन्यदा, सा—पद्मानाम्नी । एव,पराध्यां—साध्वीवर्गश्रेष्ठा 'पराध्यांग्रप्रागहर प्राग्रथाग्रथेत्यमरः'। यतिनी—व्रतिनी । शरीरचिन्तां—बाह्यादिक्रियाम् । उद्दिश्य—अभिलक्ष्य । पथि—मार्गे । प्रयान्ती—गच्छन्ती सती । वाराङ्गनानङ्गलतानिमित्तं—वाराङ्गना वेश्या या अनङ्गलता तन्नाम्नी, तन्निमित्तं तत्प्राप्त्यै । युधम्—युद्धम् आदधानौ कुर्वाणौ, अत एव उद्गूर्ण परस्मिन् प्रहारायोद्क्षिप्तं शस्त्रं याभ्यां तौ उद्गूर्णशस्त्रौ सरसौ—सुन्दरौ । समानौ—तुल्यौ, विश्वे अप्रतिरूपमतुल्यं रूपं सौन्दर्यं ययोस्तौ । विश्वाप्रतिरूपरूपौ, द्वौ, राजपुत्रौ, समीक्ष्य—अवलोक्य । व्यामोहमूढा—व्यामोहेन अज्ञानेन मूढा कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकशून्या । एषा—पद्माख्या यतिनी । तत्संगमसम्प्राप्तिनिदानम्—राजपुत्रसंगस्य सम्प्राप्तिः तस्याः निदानं हेतुः तत्संगमार्थमित्यर्थः । निदानं । अरचयत्—कृतवती ॥२२२-२२३॥

प्रान्तेऽनालोचितस्य निदानस्य फलमाह—प्रान्त इति —

प्रान्तेऽथ नालोच्य दुरीहितं त-द्बलव्यपायेऽनशनेन मृत्वा ।
सौधर्मकल्पेऽजनि देवताऽसौ, कल्पद्रुसम्पूर्यमनोविकल्पा ॥२२४॥

व्याख्या—अथ, दुरीहितं—दुश्चेष्टितं, निदानकर्म । नालोच्य—सद्गुरुपार्श्वे प्रायश्चित्तम् अकृत्वा । प्रान्ते—मरणसमये । अनशनेन—अनशनं कृत्वा । बलव्यपाये—बलस्य प्राणस्य व्यपाये क्षये सति आयुःक्षये सति । मृत्वा—कालधर्मं प्राप्य । असौ—पद्माख्या यतिनी । सौधर्मकल्पे—तदाख्ये विमाने कल्पद्रुभिः कल्पद्रुमैः सम्पूर्यः पूरणीयः मनोविकल्पः अभिलाषः यस्याः सा कल्पद्रुसम्पूर्यमनोविकल्पा देवता, अजनि—जाता ॥२२४॥

रत्नध्वजस्य महिषी महिता गुणौघै-र्धर्मं वितत्य विततं प्रथमा विपन्ना ।
विद्याभृतामधिपतिर्मणिकुण्डली त्वं, जातो भुजाबलविनिर्जितकुण्डलीशः॥२२५॥

व्याख्या—**रत्नध्वजस्य**—तदाख्यनृपस्य । **गुणौघैः**—गुणावलिभिः । **महिता**—पूजिता । **प्रथमा**—कनकश्रीनाम्नी । **महिषी**—राज्ञी पत्नी । **विततं**—विपुलं । **धर्मं, वितत्य**—कृत्वा । **विपन्ना**—मृता सती । **भुजाबलविनिर्जितकुण्डलीशः** – भुजयोः बाह्वोः यत् आसमन्ताद्बलं सामर्थ्यं तेन विनिर्जितः पराभूतः 'दक्षर्ण कुण्डलिबिलेशये'ति हैमोक्तेः कुण्डलिनस्सर्पस्येशोऽधिपः सर्पराजः कुण्डलीशः सर्पराजः येन स तादृशः । **मणिकुण्डली**—तन्नामा । **विद्याभृतां**—विद्याधराणाम् । **अधिपतिः**—इन्द्रः । **त्वं, जातः**—उत्पन्नः असीति शेषः । वसन्ततिलकावृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति ॥२२५॥

ते चक्रिजे कनकपद्मलते भ्रमित्वा, गर्भाशयप्रभवदुःखचितं भवं च ।
दानादिधर्ममुरुशर्मकरं निषेव्य, श्रीषेणभूपरिवृढस्य सुतावभूताम् ॥२२६॥

व्याख्या—**चक्रिजे**—रत्नध्वजसुते । **ते**—द्वे । **कनकपद्मलते**—कनकलतापद्मलते । **गर्भाशयप्रभवदुःखचितं**—गर्भाशये उदरे प्रभवेन जातेन दुःखेन चितं समन्वितं । **भवं**—संसारं । **भ्रमित्वा**—परिभ्रम्य । **उरुशर्मकरम्**—उरु अतिशयेन प्रचुरं वा यच्छर्म सुखं तस्य करं कारकं । **दानादिधर्म**—दानप्रभृतिधर्मकृत्यं । **निषेव्य**—कृत्वा च, **श्रीषेणभूपरिवृढस्य**—श्रीषेण एव भूपरिवृढः पृथ्वीपतिः तस्य । **सुतौ**—पुत्रौ, बिन्दुषेणेन्दुषेणौ । **अभूताम्**—अजनिषाताम् । वसन्ततिलकावृत्तं, तल्लक्षणं तु पूर्वमेवोक्तम् ॥२२६॥

आयुः पल्योपमपरिमितं पूरयित्वाधिकल्पात्,
पद्मा च्युत्वा सपदि गणिकानन्तमत्याह्वयाऽभूत् ।
श्रीषेणक्ष्मापरिवृढसुतौ साम्प्रतं तन्निमित्तं,
युध्येते तौ स्मरपरवशौ बिन्दुषेणेन्दुषेणौ ॥२२७॥

व्याख्या—**पल्योपमपरिमितम्, आयुः, पूरयित्वा, अधिकल्पात्**—सौधर्मकल्पात् । **सपदि**—सद्य एव । **च्युत्वा**—च्यवनं कृत्वा । **पद्मा**—तन्नामराजपुत्री । **आह्वया**—नाम्ना । **अनन्तमती गणिका अभूत्, तन्निमित्तं**—तदर्थं । **साम्प्रतम्**—अधुना । **स्मरपरवशौ**—स्मरस्य कामस्य परवशौ अधीनौ । **श्रीषेणक्ष्मापरिवृढसुतौ**—श्रीषेणस्य तन्नाम्नः क्ष्मापरिवृढस्य महीपतेः सुतौ पुत्रौ तौ । **बिन्दुषेणेन्दुषेणौ, युध्येते**—युद्धं कुर्वतः । २२७॥ (मन्दाक्रान्तावृत्तम्)

अथ विद्याधरस्यागमनहेतुमाह—पीत्वेति—

पीत्वा तीर्थकराननादिति वचःपीयूषमत्रागमं,
प्राच्यप्रेमवशान्निवारयितुमन्यायं युवानौ युवाम् ।
माता पूर्वभवेऽभवं तु भवतोर्वाराङ्गनेयं स्वसा,
तद्भद्रौ! सुकुलीनयोः पशुजनाचारो न वां युज्यते ॥२२८॥

व्याख्या--तीर्थकराननात्—तीर्थकरस्य जिनेशस्य आननात् मुखात्, सकाशात् । इति—पूर्वोक्तप्रकारम् । वचःपीयूषं—वचः एव पीयूषम् अमृतं । पीत्वा—नीपीय, सादरं श्रुत्वेत्यर्थः । प्राच्यप्रेमवशात्—प्राच्यस्य पूर्वभवोद्भवस्य प्रेम्णः वशात्पारतन्त्र्यात् । अन्यायम्—अनौचित्यं । निवारयितुम्—उपरोद्धुम् । अत्र—भवतोः समीपे । आगमम्, युवानौ !—तरुणौ ! पूर्वभवे—पूर्वजन्मनि । भवतोः—युवां । माता—जननी । अभवम्—अहमिति शेषः । इयं—वर्त्तमाना । तु, वाराङ्गना—स्वयंवरार्थं समागतया बज्रायुधनृपस्य श्रीकान्ताभिधपुत्र्या सहाऽऽगता । भवतोः, स्वसा—भगिनी, अभूदिति शेषः । भद्रौ !—सौम्यौ ! तत्—तस्माद्धेतोः, पूर्वभवीयस्वभगिनीसम्बन्धात् कारणात् । सुकुलीनयोः—उत्तमकुलोत्पन्नयोः । वां—युवयोः । पशुजनाचारः—पशुवर्गव्यवहारः, भ्रातृभगिनीविवाहः पशुष्वेवेति भावः । न—नैव । युज्यते—तस्मात्त दाग्रहः भवद्भ्यां त्याज्य एव, अन्यथा पशुत्वानुषङ्गात् । (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्) ॥२२८॥

संसारिणो गतिवैचित्र्यमाह—देव इति—

देवः कदाचन कदाचन नारकोऽपि, राजा कदाचन कदाचन रङ्क एषः ।
कीटः कदाचन कदाचन मानुषोऽपि, लक्ष्यो भवी न नटवत्परिवर्त्तमानः ॥२२९॥

व्याख्या--कदाचन—कदाचिद् । देवः—भवतीति शेषः, तस्य च सर्वत्र सम्बन्धः । कदाचन, नारकोऽपि, कदाचन राजा, कदाचन रङ्कः—निष्किञ्चनः । कदाचन, कीटः—क्षुद्रजन्तुः । कदाचन, मानुषः—मनुष्योऽपि, इत्थं । नटवत्—नट इव । परिवर्तमानः—वेषं परिवर्त्तयन् । एष भवी—जन्तुः । न—नैव । लक्ष्यः—परिचेयः नैकरूप इत्यर्थः । कर्मणो गतिरचिन्तनीया इति भावः । तस्माद्भवतोर्नानया सह परिचयो युक्त इति भावः । (वसन्ततिलकावृत्तम्) ॥२२९॥

अथ तयोः विबोधमाह—तदुदितमितीति—

तदुदितमिति सर्वं बिन्दुषेणेन्दुषेणौ,
श्रवणपथमवाप्य प्रीतिपूर्वं विबुद्धौ ।
प्रणिजगदतुरेवं प्राप्तहर्षप्रकर्षौ,
निरुपचरितभावां बोधयेत्त्वां विना कः ?॥२३०॥

व्याख्या—इति—पूर्वोक्तक्रमेण । तदुदितं—तेन विद्याधरेण उदितं कथितं । सर्वं—सकलवृत्तान्तं । प्रीतिपूर्वं—प्रेम्णा । श्रवणपथं—कर्णयोः मार्गम् । अवाप्य—प्राप्य, निशम्येत्यर्थः । विबुद्धौ—जातबोधौ । बिन्दुषेणेन्दुषेणौ, प्राप्तहर्षप्रकर्षौ—प्राप्तः हर्षस्य प्रकर्ष आधिक्यं याभ्यां तौ तादृशौ सन्तौ । एवं—वक्ष्यमाणप्रकारेण । प्रणिजगदतुः—ऊचतुः, किमित्याह । त्वां—भवन्तं । विना, कः—अन्यः । आवां, निरुपचरितं—निष्कपटं । बोधयेत्—शिक्षयेत, न कोऽपि इत्यर्थः । त्वं मम महानुपकारक इति भावः । (मालिनी-वृत्तम्) ॥२३०॥

अथ सम्प्रति तयोः कृतज्ञत्वमाह—वचनरचनेति—

वचनरचना स्नेहाक्ता तेऽविनश्वरदीपिका,
हृदयभवनं कर्णद्वारा न नौ प्रविशेद्यदि ।
प्रसृमरमिदं पापध्वान्तं निरस्य तदा कथं,
शिवपथमहो ! जानीयाव प्रयत्नशतैरपि ॥२३१॥

व्याख्या—स्नेहाक्ता—स्नेहेन प्रीत्या अथ च तैलेन अक्ता समन्विता । अविनश्वरदीपिका—अविनश्वरा अनपायिनी दीपिका दीपतुल्या । ते—तव । वचनरचना—वाक्क्रमः । कर्णद्वारा—श्रुतिरूपेण द्वारेण । नौ—आवयोः । हृदयभवनं—हृदयमेव भवनं गृहं । यदि, न, प्रविशेत्—गच्छेत् । तदा, प्रसृमरं—प्रसरणशीलम् । इदं—वर्त्तमानं । पापध्वान्तम्—पापमेव ध्वान्तं तमः । निरस्य—विनाश्य । प्रयत्नशतैरपि, कथं—केन प्रकारेण । शिवपथं—कल्याणमार्गं । जानीयाव—बुध्येवहि । अहो—इति हर्षे आश्चर्ये वा, यथा दीपं विना अन्धकारनाशः प्रकारान्तरेण, तवोपदेशं विना मम अज्ञाननाशः नैव भवेदित्यर्थः । (श्लेषानुप्राणितरूपकालङ्कारः । हरिणीप्लुताच्छन्दः) ॥२३१॥

अथ कथामुपसंहरति—विद्याभृदिति—

विद्याभृन्मणिकुण्डली सविनयं ताभ्यां विसृष्टस्ततः,
शस्त्राशस्त्रिकथामपास्य सहसा कल्याणमालावृतौ ।
प्रव्रज्यां प्रतिपद्य तौ नृपसुतैः सार्धं सहस्रैश्चतुः-
संख्यैः कर्मबलं विभिद्य तपसा कैवल्यमासेदतुः ॥२३२॥

व्याख्या--ताभ्यां—बिन्दुषेणेन्दुषेणाभ्यां । मणिकुण्डली—तन्नामा । विद्याभृत्—विद्याधरः । विसृष्टः—गमनायानुमोदितः । ततः—तदनन्तरम् । शस्त्राशस्त्रिकथाम्—युद्धवार्त्ताम् । अपास्य—त्यक्त्वा । कल्याणमालावृतौ—कल्याणस्य शुभस्य मालाभिरावलिभिः वृतौ समन्वितौ । तौ—बिन्दुषेणेन्दुषेणौ । चतुःसंख्यैः सहस्रैः—चतुःसहस्रैः । नृपसुतैः—राजपुत्रैः । सार्द्धं—सह । सहसा—सपद्येव । प्रव्रज्यां—दीक्षां । प्रतिपद्य—स्वीकृत्य, दीक्षां गृहीत्वेत्यर्थः । तपसा—क्लिष्टकर्मक्षपणेऽमोघशक्तिकेन, द्वादशविधेन तपसा । कर्मबलं—निखिलघातिकर्मणां बलं सामर्थ्यं, सैन्यं वा । विभिद्य—समूलं समुच्छेद्य । कैवल्यं—केवलज्ञानं तद्वारा मोक्षं च । आसेदतुः—प्रापतुः अविकलसामग्रया कार्योत्पत्तेरवश्यम्भावादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितंवृत्तम् ॥२३२॥

आसीत् श्रीगुरुगच्छमौलिमुकुट-श्रीमानभद्रप्रभोः,
पट्टे श्रीगुणभद्रसूरिसुगुरुश्चारित्रभाजां गुरुः ।
तच्छिष्येण कृतेऽत्र षोडशजिनाधीशस्य वृत्ते महा-
काव्ये श्रीमुनिभद्रसूरिकविना सर्गश्चतुर्थोऽगमत् ॥२३३॥

आसीदित्यादिश्लोकस्य व्याख्या पूर्ववदेवेति ॥२३३॥

॥ इतिश्रीशान्तिनाथचरिते चतुर्थसर्गव्याख्या समाप्ता ॥

व्याख्यानान्तरशून्यतापरिचिते, मूलेऽतिगूढा के,
सर्गे दर्शनसूरिणा विरचिता, व्याख्या तुरीये तु या ।
सा पूर्णाऽपि कथं भविष्यति तथा नो पूर्णमोदप्रदा,
विज्ञानां यदि तर्हि कामितफलं, कर्तुः स्वयं दास्यति ॥४॥

इति 'प्रबोधिनी' व्याख्यासमन्वितस्य श्रीशान्तिनाथमहाकाव्यस्य चतुस्सर्गात्मकः

प्रथमो-विभागः



[जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर]